Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ॐ

श्री वीतरागाय नमः।

पञ्चाध्यायी-

सुबोधिनी टीका समेत।

टीकाकार—

चावली (आगरा) निवासी पंडित मक्खनलालजी
शास्त्री (वादीभकेसरी न्यायालंकार)
प्रधानाध्यापक ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम,
हस्तिनापुर। (मेरठ)

प्रकाशक—

चावली (आगरा) निवासी लालाराम जैन।
मालिक, ग्रंथप्रकाश कार्यालय, इंदोर।

प्रथमावृत्ति] वी० नि० सं० २४४४. [न्योछावर ५॥) रु०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक—
पंडित लालाराम जैन ।
मालिक, ग्रन्थप्रकाश कार्यालय,
मल्हारगंज, इन्दौर ।

मुद्रक—
मूलचन्द्र किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रिन्टिंग प्रेस,
खपाटिया चकला, सूरत ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री अर्हद्भ्यो नमः ।

भूमिका ।

यह पञ्चाध्यायी ग्रन्थ जैन सिद्धान्तके उच्चतम कोटिके ग्रन्थोंमेंसे एक अद्वितीय ग्रन्थ है। वर्त्तमान समयके विद्वान् तो इस ग्रन्थको असाधारण और गम्भीर समझते ही हैं, किन्तु ग्रन्थकर्त्ताने स्वयं इसे ग्रन्थराज कहते हुए इसके बनानेकी प्रतिज्ञा की है। जैसा कि "पञ्चाध्यायावयवं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात्" इस आदि श्लोकार्धसे प्रकट होता है।

इस ग्रन्थमें जिन महत्व पूर्ण विषयोंका विस्तृत विवेचन किया गया है, उन सबका परिज्ञान पाठकोंको इसके स्वाध्याय और मनन करनेसे ही होगा, तथापि संक्षेपमें इतना कहना अनुचित न होगा कि यह ग्रन्थ जितना उपलब्ध है, दो भागोंमें बँटा हुआ है। (१) द्रव्य विभाग (२) सम्यक्त्व विभाग। द्रव्य क्या पदार्थ है ? वह गुणोंसे भिन्न है या अभिन्न ? उसमें उत्पत्ति स्थिति विनाश ये तीन परिणाम प्रतिक्षण किस प्रकार होते हैं ? गुण पर्यायोंका क्या लक्षण है ? इत्यादि बातोंका अनेक शंका समाधानों द्वारा स्पष्ट विवेचन पहले विभागमें (पहले अध्यायमें) किया गया है। इसी विभागमें प्रमाण, नय, निक्षेपोंका विवेचन भी बहुत विस्तारसे किया गया है। दूसरे विभाग (द्वितीय अध्याय) में जीवस्वरूप, सम्यक्त्व, अष्ट अंग, और अष्ट कर्मोंका विवेचन किया गया है। यह विभाग अध्यात्म विषय होनेके कारण प्रथम विभागकी अपेक्षा सर्व साधारणके लिये विशेष उपयोगी है।

इस ग्रन्थके अवलोकनसे जैनेतर विद्वान् भी जैन सिद्धान्तके तत्त्वविचार और अध्यात्मचर्चाके अपूर्व रहस्यको समझ सकेंगे।

ग्रन्थकारने पांच अध्यायोंमें पूर्ण करनेके उद्देश्यसे ही इस ग्रन्थका पञ्चाध्यायी नाम रक्खा है और इसी लिये अनेक स्थलोंपर कतिपय उपयोगी विषयोंको आगे निरूपण करनेकी उन्होंने प्रतिज्ञा की है। जैसे—' उक्तं दिङ्मात्रतोप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतं, वक्ष्ये चोपासकाध्यायात्सावकाशात् सविस्तरम्, तथा ' उक्तं दिङमात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणं, शेषं विशेषतो वक्ष्ये तत्स्वरूपं जिनागमात् ' इत्यादि प्रतिज्ञावाक्योंसे विदित होता है कि ग्रन्थकारका आशय इस ग्रंथको बहुत विस्तृत बनाने और उसमें समग्र जैन सिद्धान्तरहस्यके समावेश करनेका था, परन्तु कहते हुए हृदय कंपित होता है कि श्रेयांसि बहु विघ्नानि,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस लोकोक्तिके अनुसार ग्रन्थकारका मनोरथ पूर्ण न हो सका और कुछ कम दो अध्याय रचकर ही उन्हें किसी भारी विघ्नका सामना करना पड़ा जिसके विषयमें हम सर्वथा अज्ञात हैं। वर्त्तमानमें यह ग्रन्थ इतना ही (१९१३ श्लोक प्रमाण) सर्वत्र उपलब्ध होता है।

यह टीका कोल्हापुर यन्त्रालय द्वारा प्रकाशित मूल प्रतिके आधारपर की गई है, जिसे हमने पूज्यवर गुरुजीसे अध्ययन करते समय शुद्ध किया था, और जब हमारा शास्त्रार्थके समय अजमेर जाना हुआ तब वहांकी लिखित प्रतिसे छूटे हुए पाठोंको भी ठीक किया, तथा गतवर्ष यात्रा करते हुए जैनबद्री (श्रवणबेलगुल) में श्रीमद्राजमान्य दौर्बलि शास्त्रीके प्राचीन ग्रन्थभण्डारसे प्राप्त लिखित प्रतिसे भी अपनी प्रतिको मिलाया। इस भांति इसग्रन्थके संशोधनमें यथासाध्य यत्न किया गया है, किन्तु फिर भी २–३ स्थलोंपर छन्दोभंग तथा चरण भंग अब भी रह गये हैं, जो कि विना आश्रयके संशोधित न कर ज्योंके त्यों रख दिये गये हैं।

इस ग्रन्थके रचियता कौन हैं ? इसका कोई लिखित प्रमाण हमारे देखनेमें नहीं आया है, संभव है कि ग्रन्थके अन्तमें ग्रन्थकारका कुछ परिचय मिलता, खेद है कि ग्रन्थके अधूरे रह जानेके कारण इसके कर्त्ताके विषयमें इस ग्रन्थसे कुछ निश्चय नहीं होता है। ऐसी विकट समस्यामें ग्रन्थकारका अनुमान उसके रचे हुए अन्य ग्रन्थोंकी कथन शैली, मङ्गलाचरण, विषय समता, पद समता आदिसे किया जाता है। इसी आधार पर हमारा अनुमान है कि इस ग्रन्थराज–पञ्चाध्यायीके कर्त्ता वे ही स्वामी अमृतचन्द्राचार्य हैं, जो कि समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय ग्रन्थोंके टीकाकार, तथा नाटक समयसार कलशा, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और तत्त्वार्थसारके रचयिता हैं। इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि उपर्युक्त ग्रन्थ आचार्य वर्य–अमृतचन्द्र सूरि कृत हैं, कारण उनमेंसे कतिपय ग्रन्थोंके अन्तमें उक्त सूरिने अपना नामोल्लेख किया है। पुरुषार्थ सिद्ध पाय और तत्त्वार्थसार इन दो ग्रन्थोंमें ग्रन्थकर्त्ताका नामोल्लेख नहीं है, तो भी समस्त जैन विद्वान् इन ग्रन्थोंको स्वामी अमृतचन्द्र सूरि कृत ही मानते हैं, यह बात निर्विवाद है। हमारा अनुमान है कि उक्त दोनों ग्रन्थोंके रचयिताका अनुमान जैन विद्वानोंने उनकी रचना शैलीसे किया होगा, अतः हम भी इसी रचना शैलीकी समता पर अनुमान करते हैं कि इस पञ्चाध्यायीके कर्त्ता भी उक्त आचार्य हैं।

अब हम पाठकोंको पञ्चाध्यायी और श्रीमत् अमृतचन्द्र सूरि कृत अन्य ग्रन्थोंकी समताका यहां पर कुछ दिग्दर्शन कराते हैं, साथ ही आशा करते हैं कि जिन विद्वानोंने उक्त आचार्यके बनाये हुए ग्रन्थोंके साथ ही पञ्चाध्यायीका अवलोकन किया है अथवा करेंगे तो वे भी हमसे अवश्य सहमत होंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क—स्वामी अमृतचन्द्रसूरि विरचित हरएक ग्रन्थके मङ्गलाचरणोंमें अनेकान्त—जैन शासन और केवलज्ञान ज्योतिको ही नमस्कार करनेकी प्रधानता पाई जाती है, जैसा कि निम्न लिखित मङ्गलाचरणोंके वाक्योंसे स्पष्ट है—

(१) **जीयाज्जैनं शासनमनादिनिधनम्** (पञ्चाध्यायी) (२) **जीयाज्जैनी सिद्धान्तपद्धतिः** (पञ्चास्तिकाय टीका) (३) **अनन्तधर्मणस्तत्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः अनेकान्तमयी मूर्तिः** (नाटक समयसार कलशा) (४) **अनेकान्तमयं महः** (प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति) (५) **अर्थालोकनिदानं यस्य वचः** (पञ्चाध्यायी) (६) **जयत्यशेषतत्त्वार्थप्रकाशि** (तत्त्वार्थसार) (७) **तज्जयति परं ज्योतिः** (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय) (८) **ज्ञानानन्दात्मने नमः** (प्रवचनसार टीका)

ख—निम्न लिखित श्लोकोंसे शब्द रचना तथा भावोंकी समता भी मिलती है—

यस्माज्ज्ञानमया भावा ज्ञानिनां ज्ञाननिर्वृताः ।
अज्ञानमयभावानां नावकाशः सुदृष्टिषु ॥ (पञ्चाध्यायी)

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेप्यज्ञाननिर्वृता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥ (नाटकसमयसारकलशा)

निश्चयव्यवहाराभ्यामविरुद्धयथात्मशुद्ध्यर्थम् ।
अपि निश्चयस्य नियतं हेतुः सामान्यमात्रमिह वस्तु ॥ (पञ्चाध्यायी)

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥ (तत्त्वार्थसार)

लोकोयं मेहि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति सोर्थतः ।
नापरो लौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोस्ति मे ॥ (पञ्चाध्यायी)

चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः ।
लोको यन्न तवापरस्तदपरस्तस्यापि तद्भीः कुतः *
(नाटकसमयसारकलशा)

ग—पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें सिद्ध किया गया है कि रत्नत्रय कर्मबन्धका कारण नहीं है, किन्तु रागद्वेष और कर्मबन्धकी व्याप्ति है । इसी प्रकार पञ्चाध्यायीमें भी शब्दान्तरोंसे उसी बातका निरूपण किया गया है, जैसा कि निम्न लिखित श्लोकोंसे सिद्ध होता है—

---

* यद्यपि इस प्रकारकी समता भिन्न २ ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें भी पाई जाती है, परन्तु यहां पर दिये हुए अन्य अनुमानोंके साथ उपर्युक्त अनुमान भी प्रकृत विषयका साधक प्रतीत होता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रत्नत्रयमिदं हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोयमपराधः ॥
येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

यत्पुनः श्रेयसोबन्धो बन्धश्चाऽश्रेयसोपि वा ।
रागाद्वा द्वेषतो मोहात् स स्यान्नोपयोगसात् ॥
पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोस्त्यौदयिकः स्फुटम् ।
सम्यक्त्वे स कुतो न्यायाज्ज्ञाने वाऽनुदयात्मके ॥
व्याप्तिर्बन्धस्य रागाद्यैर्नाऽव्याप्तिर्विकल्पैरिव ।
विकल्पैरस्यचाव्याप्ति र्न व्याप्तिः किल तैरिव ॥ (पञ्चाध्यायी)

घ—उक्त सूरिने हरएक विषयको युक्ति पूर्ण लिखनेके साथ ही उसे बहुत प्रकारसे समझानेका प्रयत्न किया है। जैसा कि पुरुषार्थसिद्ध्युपायादि ग्रन्थोंके हिंसानिषेध, रात्रि भुक्ति निषेधादि प्रकरणोंसे प्रसिद्ध है। पञ्चाध्यायीमें भी हरएक विषयका विवेचन बहुत विस्तृत मिलता है। ऐसी ऐसी बातें भी कथन शैलीमें समताबोधक हैं।

च—श्रीमत् अमृतचन्द्राचार्यने प्रत्येक ग्रन्थमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण, पर्याय, प्रमाण, निश्चयनय, व्यवहारनय, और अनेकान्त कथनकी ही सर्वत्र प्रधानता रक्खी है, यह बात समयसार प्रवचनसारादि ग्रन्थोंकी टीकाओंसे और पुरुषार्थसिद्ध्युपायादि स्वतन्त्र ग्रन्थोंसे भली भांति निर्णीत है। यद्यपि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और तत्त्वार्थसारको उन्होंने दूसरे २ विषयों पर रचा है, तथापि उक्त ग्रन्थोंके आदि अन्तमें अनेकान्तका ही प्रतिपादन किया है। इस प्रकार जो उनका प्रधान लक्ष्य (उत्पाद व्यय ध्रौव्य, निश्चय व्यवहार नय, प्रमाण, अनेकान्त आदि) था, उसीका उन्होंने पञ्चाध्यायीमें स्वतन्त्र निरूपण किया है। इस तत्त्वकथन शैलीसे तो हमें पूरा विश्वास होता है कि पञ्चाध्यायीके कर्त्ता अनेकान्त प्रधानी आचार्यवर्य—अमृतचन्द्र सूरि ही हैं *। उक्त सूरि विक्रम सम्वत् ९६२ में हुए हैं।

जिन दिनों (सन् १९१९ में) जैनधर्मभूषण ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी सम्पादक "जैनमित्र" श्री ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रमके अधिष्ठाता नियत होकर यहां ठहरे थे उन्होंने कुछ काल तक इस ग्रन्थको हमारे साथ विचारा और साथ ही इसकी हिन्दी टीका लिखनेके लिये हमें

* हमारे गुरुवर्य पूज्यवर पं० गोपालदासजीका भी ऐसा ही अनुमान था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेरित किया, उन्हींकी प्रेरणाके प्रतिफलमें आज हम इस महान् ग्रन्थकी हिन्दी–सुबोधिनी टीका बनाकर पाठकोंके समक्ष रखनेमें समर्थ हुए हैं। इसके लिये हम माननीय ब्रह्मचारीजीके अति कृतज्ञ हैं, और इस कृतज्ञताके उपलक्ष्यमें आपको कोटिशः धन्यवाद देते हैं। साथ ही मित्रवर पं० उमरावसिंहजी न्यायतीर्थ प्रधानाध्यापक दि० जैन महाविद्यालय मथुराको भी हम धन्यवाद दिये बिना न रहेंगे, आपसे जब कभी हमने पत्रद्वारा कुछ शङ्काओंका समाधान चाहा तभी आपने स्वबुद्धि कौशलसे तत्काल ही उत्तर देकर हमें अनुगृहीत किया।

इस टीकाका संशोधन विद्वद्वर श्रीमान् पं० लालारामजी शास्त्रीने किया है, आप हमारे पूज्यवर सहोदर हैं तथा विद्यागुरु भी हैं। इसलिये हम आपको सविनय प्रणामाञ्जलि समर्पित करते हैं।

इस अनुवादके लिखनेमें हमको किसी ग्रन्थ विशेषकी सहायता नहीं मिली, कारण कि मूल ग्रन्थके सिवा इस ग्रन्थकी कोई संस्कृत अथवा हिन्दी टीका अभी तक हमारे देखने सुननेमें नहीं आई है, अतः हम नहीं कह सकते कि हमारा प्रयत्न कहां तक सफल हुआ होगा, विद्वद्वर्ग इसका स्वयं अनुभव कर सकेंगे।

तत्त्वविवेचन तथा अध्यात्म सम्बन्धी ग्रन्थोंके अनुवादमें पदार्थकी अपेक्षा भावार्थकी मुख्यता रखना विशेष उपयोगी होता है, ऐसा समझ कर हमने इस टीकामें पद २ का अर्थ न लिखकर अर्थमें पूरे श्लोकका मिश्रित अर्थ लिखा है और भावार्थमें उसी विषयको विस्तारसे लिखा है। यद्यपि भावार्थ सर्वत्र ग्रन्थानुसार ही लिखा गया है, परन्तु कहीं २ पर उसी विषयको विशेष स्फुट करनेके लिये ग्रन्थसे बाहरकी युक्तियां भी लिखी गई हैं तथा अष्टसहस्री, गोम्मट्टसारादि ग्रन्थोंके आशयोंका भी जहां कहीं टिप्पणीमें उल्लेख किया गया है जो श्लोक सरल समझे गये हैं, उनका अर्थ मात्र लिखा गया है।

हमने सर्व साधरणके समझने योग्य भाषामें इस टीकाके लिखनेका भरसक प्रयत्न किया है। संभव है विषयकी कठिनताके कारण हम कहीं २ अपने इस उद्देश्यसे च्युत हुए हों, तथा भावज्ञानसे भी स्खलित हुए हों, इसके लिये हमारा प्रथम प्रयास समझ कर सज्जन-विद्वज्जन हमें क्षमा प्रदान करनेमें थोड़ा भी संकोच नहीं करेंगे ऐसी पूर्ण आशा है।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

२४–९–१९१८
श्री ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम
हस्तिनापुर (मेरठ)

निवेदक—
चावली (आगरा) निवासी,
मक्खनलाल शास्त्री।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-सूची।

पूर्वार्ध।

विषय।	पृष्ठ।
मंगलाचरण	२
तत्त्वका स्वरूप....	४
सत्ताविचार	७
परस्परकी प्रतिपक्षता	९
वस्तुकी असत्ता और एकांशतामें दोष	१६
अंश कल्पनासे लाभ	१६
एक देश परिणमन माननेमें बाधा....	१७
द्रव्य और गुण....	१९
गुण गुणीसे जुदा नहीं है....	१९
गुण गुणीको भिन्न माननेमें दोष....	२०
द्रव्यमें अनंत गुण	२२
शक्तियोंकी भिन्नतामें हेतु	२२
गुणोंमें अंश विभाग	२२
नित्यता और अनित्यताका दृष्टान्त	२६
द्रव्यका लक्षण	२८
द्रव्यका लक्षण	३२
सत् गुण भी है और द्रव्य भी है	३२
वस्तुको परिणामी न माननेमें दोष	३३
उत्पादादि त्रयके उदाहरण	३४
परिणाम नहीं माननेमें दोष	३५
नित्यत्वका खुलासा	३६
पर्यायकी अनित्यताके साथ व्याप्ति है	३६
गुणका लक्षण	३७
गुणोंका नित्यानित्य विचार	३८
जैन सिद्धान्त	३९
क्रियावती और भाववती शक्तियों-का स्वरूप	४६
सहभावी शब्दका अर्थ....	४७
अन्वय शब्दका अर्थ	४८

विषय।	पृष्ठ।
द्रव्यके पर्यायवाचक शब्द	४८
देश व्यतिरेक	५०
क्षेत्र व्यतिरेक	५०
काल व्यतिरेक	५०
भाव व्यतिरेक	५०
व्यतिरेक न माननेमें दोष....	५०
गुणोंमें अन्वयीपना सदृष्टान्त	५१
गुणोंमें भेद	५३
पर्यायका लक्षण....	५४
क्रमवर्तित्वका लक्षण	५४
व्यतिरेकका स्वरूप	५६
गुणोंके अवगाहनमें दृष्टान्त	६०
द्रव्य घटता बढ़ता नहीं है	६०
उत्पादका स्वरूप	६३
व्ययका स्वरूप....	६३
ध्रौव्यका स्वरूप....	६४
नित्य और अनित्यका विचार	६४
उत्पादादिका अविरुद्ध स्वरूप	७४
केवल उत्पादके माननेमें दोष	७७
केवल व्ययके माननेमें दोष	७७
केवल ध्रौव्यके माननेमें दोष	७७
महा सत्ताका स्वरूप	७९
अवान्तर सत्ताका स्वरूप....	७९
अस्ति नास्ति कथन	७९
बाकीके पांच भंग लानेका संकेत....	८९
वस्तुमें अन्वय और व्यतिरेक स्वतंत्र नहीं है	८९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय।	पृष्ठ।
विधि निषेधमें सर्वथा नाम भेद भी नहीं है	८९
जैन स्याद्वादीका स्वरूप....	९१
सर्वथा नित्य अनित्य पक्षमें तथा केवल निश्चयात्मक पक्षमें दोष	९२-९३
तत् अतत् भावके कहनेकी प्रतिज्ञा	९५
अभिन्न प्रतीतिमें हेतु	९६
विशेष	९७
नित्य अनित्य दृष्टि	९८
सत् और परिणाममें अनेक शंकायें	९९
प्रत्येकका उत्तर....	१०५
सत् परिणामको अनादि सिद्ध माननेमें दोष....	१२१
सत्परिणाम कथंचित् भिन्न अभिन्न हैं	१२२
उभयथा अविरुद्ध हैं	१२४
विक्रियाके, अभावमें दोष	१२६
सत्को सर्वथा अनित्य माननेमें दोष	१२७
सर्वथा नित्य माननेमें दोष	१२८
सत् स्यात् एक है	१२९
द्रव्य विचार	१२९
क्षेत्र विचार	१३२
काल विचार	१४१
भाव विचार	१४३
स्पष्ट विवेचन	१४५
द्रव्यक्षेत्रकालभावसे सत् अनेक भी है	१४८-१४९
सर्वथा एक अनेक माननेमें दोष	१५०
नयोंका स्वरूप	१५१
नयोंके भेद	१५१
स्पष्ट विवेचन	१५२
नयमात्र विकल्पात्मक है	१५३

विषय।	पृष्ठ।
द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक	१५५
पर्यायार्थिक नय विचार	१५५
व्यवहारनय	१५६
व्यवहार नयके भेद	१५७
कुछ नयाभासोंका उल्लेख	१७१
नयवादके भेद....	१७६
द्रव्यार्थिकनयका स्वरूप	१७९
द्रव्यार्थिक नय भी विकल्पात्मक है	१८०
निश्चयनयको सोदहरण माननेमें दोष	१८३
निश्चय नय यथार्थ है	१८७
व्यवहार नय मिथ्या है....	१८८
वस्तुविचारार्थ व्यवहार नय भी आवश्यक है....	१८८
स्वात्मानुभूतिका स्वरूप....	१९१
प्रमाणका स्वरूप....	१९६
विरोधी धर्म भी एक साथ रह सकते हैं	१९७
प्रमाण नयोंसे भिन्न है....	१९९
सकल प्रत्यक्षका स्वरूप....	२०५
देशप्रत्यक्षका स्वरूप	२०५
परोक्षका स्वरूप....	२०६
मतिश्रुत भी मुख्य प्रत्यक्षके समान प्रत्यक्ष हैं	२०८
द्रव्यमन....	२१०
भावमन....	२१०
कोई वेदको ही प्रमाण मानते हैं	२१२
कोई प्रमाकरणको प्रमाण मानते हैं	२१२
ज्ञान ही प्रमाण है	२१३
वेद भी प्रमाण नहीं है....	२१६
निक्षेपोंका स्वरूप	२१९
द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयोंका विषय	२२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-सूची।

उत्तरार्ध।

विषय।	पृष्ठ।
सामान्य विशेषका स्वरूप	१
जीव अजीवकी सिद्धि	४
मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्यका विवेचन	५
सुखादिक अजीवमें नहीं है	८
लोक और अलोकका भेद	९
पदार्थोंमें विशेषता	१०
क्रिया और भावका लक्षण	११
जीव निरूपण	१२
जीव कर्मका संबंध अनादिसे है....	१४
जीवकी अशुद्धताका कारण	१७
बंधका मूल कारण	१९
बंधके तीन भेद....	२०
भावबंध और द्रव्य बन्ध....	२१
उभयबंध	२१
जीव और कर्मकी सत्ता....	२१
ज्ञान मूर्त्त भी है	२५
वैभाषिक शक्ति आत्माका गुण है	२६
अबद्ध ज्ञानका स्वरूप	२८
बंधका स्वरूप	२९
बंधका भेद	३८
बंधके कारणपर विचार....	३९
शुद्ध ज्ञानका स्वरूप	४३
अशुद्ध ज्ञानका स्वरूप	४४
बंधका लक्षण	४६
अशुद्धता बंधका कार्य भी है और कारण भी है....	४७
जीव शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है	४८

विषय।	पृष्ठ।
जीव और पुद्गल दोनों ही नौ पदार्थ हैं	५३
जीवकी ही नौ अवस्थाएं है	५३
दृष्टान्तमाला	५४
एकान्त कथन और परिहार	५८
नौ पदार्थोंके कहनेका प्रयोजन	५९
सूत्रका आशय....	६१
३ चेतनाके भेद	६२
ज्ञान चेतनाका स्वामी	६४
मिथ्यादर्शनका माहात्म्य....	६४
आत्मोपलब्धिमें हेतु	६९
अशुद्धोपलब्धिका स्वामी	६९
अशुद्धोपलब्धि बंधका कारण है....	६७
मिथ्यादृष्टिका वस्तु स्वाद	७०
ज्ञानी और अज्ञानीका क्रियाफल....	७१
ज्ञानीका स्वरूप....	७२
सम्यग्ज्ञानीके विचार	७३
सांसारिक सुखका स्वरूप	७४
कर्मकी विचित्रता	७५
सम्यग्दृष्टिकी अभिलाषायें शान्त हो चुकी हैं....	७९
अनिच्छा पूर्वक भी क्रिया होती है	८२
इन्द्रिय जन्य ज्ञान	८४
ज्ञानोंमें शुद्धिका विचार....	८६
उपयोगात्मकज्ञान	८७
क्षयोपशमका स्वरूप	८९
कर्मोदय उपाधि दुःखरूप है	९०
अबुद्धिपूर्वक दुःख सिद्धिमें अनुमान	९२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय।	पृष्ठ।
सुख गुण क्या वस्तु है....	९५
अनेकान्तका स्वरूप	९७
दुःखका कारण	९८
वास्तविक सुख कहांपर है	१००
जड़ पदार्थ ज्ञानके उत्पादक नहीं है	१०२
नैयायिक मतके अनुसार मोक्षका स्वरूप	१०५
निज गुणका विकाश दुःखका कारण नहीं है	१०५
सम्यग्दर्शनका स्वरूप	१०७
सम्यग्दर्शनके लक्षणोंपर विचार....	११०
ज्ञानका स्वरूप....	११३
स्वानुभूतिका स्वरूप	११५
श्रद्धादिकोंके लक्षण	११७
श्रद्धादिकोंके कहनेका प्रयोजन....	११८
प्रशमका लक्षण....	१२१
संवेगका लक्षण....	१२२
अनुकंपाका लक्षण	१२५
आस्तिक्यका लक्षण	१२६
निःशंकितका लक्षण	१३२
भय कब होता है और भयका लक्षण व उनके सात नाम....	१३६
निःकांक्षित अंग....	१४६
कर्म और कर्मका फल अनिष्ट क्यों है	१५०
निर्विचिकित्साका लक्षण	१५२
अमूढ़ दृष्टिका लक्षण....	१५५
अरहंत और सिद्धका स्वरूप	१५७
गुरूका स्वरुप	१६०
आचार्यका स्वरूप	१६४

विषय।	पृष्ठ।
आदेश और उपदेशमें भेद	१६४
गृहस्थाचार्य भी आदेशदेनेका अधिकारी है	१६५
आदेशदेनेका अधिकारी अव्रती नहीं है	१६५
गृहस्थोंके लिये दान पूजन विधान	१६६
अन्यदर्शन	१६८
उपाध्यायका स्वरूप	१६९
साधुका स्वरूप....	१७०
आचार्यमें विशेषता	१७२
चारित्रकी क्षति और अक्षतिमें कारण	१७३
शुद्धआत्माके अनुभवमें कारण....	१७४
चारित्रमोहनीयका कार्य....	१७४
आचार्य उपाध्यायमें साधुकी समानता	१७५
बाह्य कारणपर विचार....	१७७
आचार्यकी निरीहता	१७८
धर्म	१८१
अणुव्रतका स्वरूप	१८१
महाव्रतका स्वरूप	१८२
गृहस्थोंके मूलगुण	१८२
अष्ट मूल गुण जैनमात्रके लिये आवश्यक हैं....	१८३
सप्त व्यसनके त्यागका उपदेश	१८३
अतीचारोंके त्यागका उपदेश	१८४
दान देनेका उपदेश	१८४
जिनपूजनका उपदेश	१८६
गुरु पूजाका उपदेश	१८६
जिनचैत्य गृहका उपदेश	१८६
तीर्थयात्राका उपदेश	
जिन बिम्बोत्सवमें संमिलित होनेका उपदेश	१८९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय।	पृष्ठ।
संयम धारण करनेका उपदेश	१८९
यतियोंके मूलगुण	१९०
उत्तर क्रियारूप व्रतोंका फल	१९१
व्रतका लक्षण	१९१
व्रतका स्वरूप	१९२
भावहिंसासे हानि	१९३
परका रक्षण भी स्वात्म रक्षण है	१९३
शुद्ध चारित्र ही निर्जराका कारण है	१९४
यथार्थ चारित्र	१९५
सम्यग्दर्शनका माहात्म्य	१९९
बंध मोक्ष व्यवस्था	२००
उपगूहन अंगका लक्षण....	२०२
कर्मोंके क्षयमें आत्माकी विशुद्धि....	२०४
स्थितिकरण अंगका लक्षण	२०५
स्वोपकारपूर्वक परोपकार	२०८
वात्सल्य अंगका लक्षण....	२०९
प्रभावना अंगका स्वरूप	२१०
बाह्य प्रभावना	२११
किन्हीं नासमझोंका कथन	२१२
ध्यानका स्वरूप	२१६
छद्मस्थोंका ज्ञान संक्रमणात्मक है....	२१७
उपयोगात्मक ज्ञानचेतना सदा नहीं रहती	२१९
सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण	२२६
राग और उपयोगमें व्याप्ति नहीं है	२२८
राग सहित ज्ञान शांत नहीं है....	२३५
बुद्धिपूर्वक राग	२३५
अबुद्धिपूर्वक राग	२३६
ज्ञान चेतनाको राग नष्ट नहीं कर सक्ता है	२३८
सिद्धान्त कथन....	२३९

विषय।	पृष्ठ।
सम्यक्त्वके भेद....	२४२
चारों बंधोंका स्वरूप	२४३
अनुभाग बंधमें विशेषता....	२४८
चेतना तीन प्रकार हैं	२४९
सर्व पदार्थ अनंत गुणात्मक हैं	२४९
वैभाविक शक्ति....	२५१
विकृतावस्थामें वास्तवमें जीवकी हानि है	२५३
पांच भावोंके स्वरूप	२५६
गतिकर्मका विपाक	२५९
मोहनीय कर्मके भेद	२६२
अज्ञान औदयिक नहीं है	२६५
कर्मोंके भेद प्रभेद	२६६
एक गुण दूसरेमें अंतर्भूत नहीं है	२६९
औदयिक अज्ञान	२७३
अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वकी सिद्धि	२७५
आलापोंके भेद....	२७८
बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वके दृष्टान्त	२८०
नोकषाकके भेद....	२९०
नाम कर्मका स्वरूप	२९२
द्रव्य वेदसे भाव वेदमें सार्थकता नहीं आती है....	२९४
अज्ञानका स्वरूप....	२९७
सामान्य शक्तिका स्वरूप	३००
वेदनीय कर्म सुखका विपक्षी नहीं है	३०१
असंयत भाव	३०१
संयमके भेद व स्वरूप	३०२
कषायोंका कार्य	३०५
कषाय और असंयमका लक्षण	३०७
असिद्धत्व भाव....	३०९
सिद्धत्व गुण	३१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुद्धिपत्र ।

प्रथम अध्याय ।

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
७४	११	पर्यायनिपेक्ष	पर्यायनिरपेक्ष
७७	११	अमाव	अभाव
७८	२९	चूकी हैं	चुका है
९०	१०	तस्मद्विधि	तस्माद्विधि
९५	१	पक्षात्मो	पक्षात्मा
९६	१	०	अर्थ
१०५	१९	ह	है
१२०	२	वीर्त	वर्तित
१२१	१	दृष्टांतभास	दृष्टांताभास
१२१	११	अद्वैत्	अद्वैत
१२३	२७	सन्नप	सन्नय
१२५	८	निरोध	विरोध
१२९	२९	किश्चित्	किंचित्
१३८	११	खंडन	खंड न
१३८	१४	गुंफिकतैक	गुंफितैक
१५४	१८	(स्त्र)	(शस्त्र)
१५६	४	दूसरे	दूसरा
१५९	९	इससिये	इसलिये
१६०	२	विमाव	विभाव
१६२	२२	उपयुक्त	उपर्युक्त
१६३	९	वस्तुका	वस्तुका गुण
१६४	१	सिद्धात्वात्	सिद्धत्वात्
१६५	२४	मावमय	भावमय
१६९	२८	आवयवी	अवयवी
१७१	२५	नाशंकयं	नांशंक्यं
१७३	१७	कतृता	कर्तृता

पृष्ठ.	पंक्ति.	शुद्ध.	अशुद्ध.
१८५	२९	त य	न पर्यय
१८५	२९	द्रव्यं गुणो न य	द्रव्यं गुणो न पर्यय
१९०	१०	निश्चयन यस्य	निश्चयनयस्य
१९१	१४	विभणिमं	विमणियं
१९२	१०	(मैंसा)	(भेंसा)
१९६	२८	अधीम	आधीन
१९४	१८	निश्चन	निश्चयनय
१९५	२	धत्तः	धतः
१९६	२८	अनुत	अनुगत
१९६	२९	प्रतीत	प्रतीति
१९८	१९	सायान्य	सामान्य
१९८	१९	सायान्य	सामाम्य
२११	७	स्यान्मतिज्ञाने	स्यान्मतिज्ञानं
२१३	१८	साफल्प	साकल्य
२१६	१	तल्लक्षण	तल्लक्षणं
२१८	२२	मधुसूदनः	मधुसूदनः
२१८	२७	विनिसूता	विनिसूताः
२२०	११	नाम	नाममें
२२५	१६	व्यवहारन्तर्भूतो	व्यवहारान्तर्भूतो
२२५	१८	अनय	अनन्व
२२५	२८	पयायें	पर्यायें
२२६	२२	भोज्यं	योज्यं

द्वितीय अध्याय ।

२	८	सामाम्य	सामान्य
३	२६	मिताण	मित्ताण
६	२२	इंद्रि?यों	इंद्रियों
७	१०	उसक	उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
१०	११	ने	न
१७	२२	जावकी	जीवकी
२७	२९	कम	कर्म
१८	२८	कर्मों	कर्मो
१९	२७	प्रत्थर	पत्थर
२२	१	उपर	ऊपर
२३	२३	दार्ष्टात	दार्ष्टांत
३०	४	ग	न
३०	२९	कीय	कार्य
३५	८	अर्पक्षा	अपेक्षा
४१	२८	उत्	उक्त
५४	१४	अलमोनियम	एल्यूमीनियम
६१	१४	श्रीमद्भवान्	श्रीमदद्भगवान्
८३	२१	आग्राह्य	अग्राह्य
८६	२४	मेद	भेद
८७	१२	क्षयोमशम	क्षयोपशम
८८	२७	शरिर	शरीर
९९	२२	शारिरिक	शारीरिक
१०४	२४	भून्द्रान्ति	भूद्भ्रांति
१०५	२	पीताग्वादि	पीतत्वादि
११६	५	घूआं	धूआं
१२६	२५	इसकिये	इसलिये
१४९	२२	ज्ञकाकार	शंकाकार
१५२	२६	अदर्शन	सद्दर्शन
१५२	२६	निर्विकित्सा	निर्विचिकित्सा
१७७	१२	शसान	शासन
१८०	५	प्राट	प्रगट
१९१	२५	नदेकस्य	तदेकस्य
२११	२१	विधीयतामू	विधीयताम्

पृष्ट.	पंक्ति.	शुद्ध.	अशुद्ध.
२१२	१७	ज्ञान चतना	ज्ञान चेतना
२१३	१६	यावच्छुताभ्यास	यावच्छूताभ्यास
२१६	५	ऐकां	एकां
२१६	१६	प्राप्ति	व्याप्ति
२४६	१	योके	योगके
२४८	३	पाबंध	पापबंध
२४९	१८	धरी	धारी
२७१	१२	भी	ही
२७२	४	भी	ही
२७३	१७	ज्ञान	अज्ञान
३००	१५	मी	भी
३०२	१२	मेद	भेद
३०२	१८	समक्	सम्यक्
३०३	१८	असंमय	असंयम
३०३	२०	संमय	संयम
३०३	२२	इंद्रियों	इंद्रियोंकी
३०३	२८	संयमका	संयमको
३१६	२७	अचिंत्यऽस्वा	अचिंत्यस्वा
३१७	१३	अर्हन्ट	अरहंत
३१७	१८	णिवासिगो	णिवासिणो
३१८	२६	करता	करतापना
३१९	१३	सुद्दिट्ठं	समुद्दिट्ठं
३२०	५	इस	रस
३२२	२७	सीलोचय धर्म	सीलोयधम्म
३२२	२८	लक्कखण	लक्खण
३२२	३०	धण्णे	धण्णे
३३६	२१	लग	लगा

* कहीं कहीं मात्राओंके टूटनेसे शब्दोंकी शुद्धिमें अन्तर आगया है। ऐसे शब्दोंको पाठक महोदय कृपा करके सुधार कर पढ़ें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीः।

समर्पण।

स्याद्वाद वाराधि, वादिगजकेशरी, न्यायवाचस्पति-

श्रीमान् पं० गोपालदासजी।

गुरुवर!

जैन समाजमें तो आप सर्वमान्य मुकुट थे ही, पर अन्य विद्वत्समाजमें भी आपका प्रतिभामय प्रखर पाण्डित्य प्रख्यात था। आपके उद्देश्य बहुत उदार थे, परन्तु सामायिक प्रगतिके समान धार्मिक सीमाके कभी बाहर न हुए। जैसे अकिंचिनताने आपका साथ नहीं छोड़ा वैसे ही स्वावलम्बन और निरीहताका साथ आपने भी कभी नहीं छोड़ा।

ऐसे समयमें जब कि उच्चतम कोटिके सिद्धान्त ग्रंथोंके पठन पाठनका मार्ग रुका हुआ था, आपने अपने असीम पौरुषसे उन ग्रंथोंके मर्मी १५-२० गण्य मान्य विद्वान् तैयार कर दिये, इतना ही नहीं; किन्तु न्याय सिद्धान्त विज्ञताका प्रवाह बराबर चलता रहे इसके लिये मोरेनामें एक विशाल जैन सिद्धान्त विद्यालय भी स्थापित कर दिया, जिससे कि प्रतिवर्ष सिद्धान्तवेत्ता विद्वान् निकलते रहते हैं। जैनधर्मकी वास्तविक उन्नतिका मूल कारण यह आपकी कृति जैन समाज हृदय मन्दिरपर सदा अंकित रहेगी।

पश्चाध्यायी एक अपूर्व सिद्धान्त ग्रन्थ होनेपर भी बहुत कालसे लुप्त प्राय था, आपने ही अपने शिष्योंको पढ़ाकर इसका प्रसार किया। कभी २ इसके आधार पर अनेक तात्विक-गम्भीर भाषणोंसे श्रोतृ समाजको भी इस ग्रन्थके अमृतमय रससे तृप्त किया।

पूज्यपाद! आपके प्रसादसे उपलब्ध हुए इस ग्रंथकी आपके आदेशानुसार की हुई यह टीका आज आपके ही कर कमलोंमें टीकाकार द्वारा सादर-सप्रेम-सविनय समर्पित की जाती है।

यदि आपके समक्ष ही इसके समर्पणका सौभाग्य मुझे प्राप्त होता तो आपको भी इस बालकृतिसे सन्तोष होता और मुझे आपकी हार्दिक समालोचनासे विशेष अनुभव तथा परम हर्ष होता, परन्तु लिखते हुए हृदय विदीर्ण होता है कि इस अनुवादकी समाप्तिके पहले ही आप स्वर्गीय रत्न बन गये। आपके इस असमय स्वर्गारोहणसे प्रतीत होता है कि आपको अपनी निष्काम कृतिका फल देखना अभीष्ट नहीं था। अन्यथा कुछ काल और ठहरकर आप अपने शिष्यवर्गका अनुभव बढ़ाते हुए उसकी कार्य परिणतिसे निज कृतिकी सफलता पर सन्तुष्ट होते।

आपका प्रिय शिष्य—

मक्खनलाल शास्त्री।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमान् स्वर्गीय पंडित गोपालदासजी बरैया ।

जन्म सं० १९२३. स्वर्गारोहण सं० १९७४.

यद्युक्तिपंचाननभीसघोषाद्वादीभयूथा विसृजंति दर्पम् ।
विद्वत्सु चाद्यः परिगीयते यो गोपालदासो गुरुरेक एव ॥
सर्वशास्त्ररहस्यज्ञो सर्वतात्त्विकतोषदः ।
सर्वविद्याजुषामग्र्यो गुरुर्गोपालदासकः ॥

'जैनविजय' प्रेस, सूरत ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नमः सिद्धेभ्यः ।

अथ—सुबोधिनी—

हिन्दी भाषा–टीका सहित ।

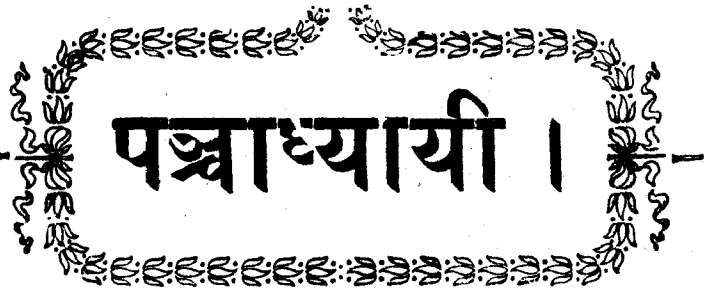

वीर प्रार्थना—

सुध्यानमें लवलीन हो, जब घातिया चारों हने
सर्वज्ञबोध, विरागताको, पालिया तब आपने
उपदेश दे हितकर, अनेकों भव्य, निज सम कर लिये
रवि ज्ञान किरण प्रकाश डालो, वीर ! मेरे भी हिये ॥ १ ॥

जिनवाणी नमस्कार—

स्याद्वाद, नय, षट्द्रव्य, गुण, पर्याय, और प्रमाणका
जड–कर्म चेतन बन्धका, अरु कर्मके अवसानका
कहकर स्वरूप यथार्थ, जगका जो किया उपकार है
उसके लिये, जिनवाणि ! तुमको वन्दना शतवार है ॥ २ ॥

गुरु स्तवन—

धरि कवच संयम, उग्र ध्यान कठोर असि निज हाथ ले
व्रत, समिति, गुप्ति, सुधर्म, भावन, वीर भट भी साथ ले
परचक्र राग द्वेष हनि, स्वातन्त्र्य–निधि पाते हुए
वे स्व–पर तारक, गुरु, तपोनिधि, मुक्ति पथ जाते हुए ॥ ३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थकारका मङ्गलाचरण और आशय—

पञ्चाध्यायावयवं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात् ।
अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम् ॥ १ ॥

अर्थ—पाँच अध्यायोंमें बँटे हुए जिस ग्रन्थराजको मैं स्वयं बनानेवाला हूं, उस ग्रन्थराजके बनानेमें जिन महावीर स्वामीके वचन मेरे लिये पदार्थोंके प्रकाश करनेमें मूल कारण हैं, उन महावीर स्वामी (वर्तमान—अन्तिम तीर्थंकर) का मैं स्तवन करता हूं ।

भावार्थ—ग्रन्थकारने इस श्लोकद्वारा महावीर स्वामीका स्तवन रूप मङ्गल किया है । जिस प्रकार इष्ट देवका नमस्कार, स्मरण आदिक मङ्गल है, उसी प्रकार उनके गुणोंका स्तवन करना भी मङ्गल है । स्तवन करनेमें भी ग्रन्थकारने महावीर स्वामीकी सर्व जीव हितकारक—अलौकिक दिव्य भाषाको ही हेतु ठहराया है । वास्तवमें यह संसारी जीव मोहान्धकारवश पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको नहीं पहचानता है । जब तेरहवें गुणस्थानवर्ती तीर्थंकरके उपदेशसे उसे यथार्थ बोध होता है, तब उस बोधरूपी प्रकाशमें पदार्थोंका ठीक २ विकाश होने लगता है । इसी आशयको ग्रन्थकारने स्पष्ट रीतिसे बतलाया है । मंगलाचरण करते हुए ग्रन्थकारने अपना आशय भी कुछ प्रगट कर दिया है । वे जिस ग्रन्थके बनानेका प्रारम्भ करते हैं, वह एक सामान्य ग्रन्थ नहीं होगा, किन्तु अनेक ग्रन्थोंका राजा—महा ग्रन्थ, होगा । इस बातको हृदयमें रखकर ही उन्होंने इसे ग्रन्थराज, पद दियाहै । साथ ही वे जिस ग्रन्थको बनानेवाले हैं, उस ग्रन्थको पाँच मूल बातोंमें—जैसे—द्रव्य विभाग, सम्यक्त्व विभाग आदि रूपसे विभक्त करनेका उद्देश्य स्थिर कर चुके हैं, तभी उन्होंने इस ग्रन्थका यौगिक[3] रीतिसे "पञ्चाध्यायी" ऐसा नाम रक्खा है ।

पांचों परमेष्ठियोंको नमस्कार—

शेषानपि तीर्थकराननन्तसिद्धानहं नमामि सम्म्
धर्माचार्याध्यापकसाधुविशिष्टान् मुनीश्वरान् वन्दे ॥२॥

---

१ आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गलं भाषितं बुधैः । तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तद्विघ्नप्रसिद्धये ॥१॥ आप्तपरीक्षा ।

२ पाँचों विभागोंके नाम यहां क्यों नहीं दिये गये हैं, यह विषय इस ग्रन्थकी भूमिकासे स्पष्ट होगा ।

३ शब्दोंके वाच्यार्थ तीन प्रकार हैं—रूढिसे, योगसे, योग रूढिसे । जो शब्द अपने अर्थको अपनी व्युत्पत्तिद्वारा न जना सके, वह रूढिसे कहा जाता है । जैसे—ऐलक शब्दका अर्थ ग्यारह प्रतिमाधारी । जो शब्द अपने अर्थको अपनी ही व्युत्पत्तिद्वारा जना सके वह यौगिक कहाजाता है । जैसे—जिन शब्दका अर्थ सम्यग्दृष्टि अथवा अर्हन् । जो शब्द अपने अर्थको व्युत्पत्तिद्वारा भी जना सके और उस अर्थमें नियत भी हो वह योगरूढि कहलाता है । जैसे—तीर्थंकर शब्दका अर्थ (चौवीस) तीर्थंकर ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ–महावीर स्वामीके सिवाय और भी जितने (वृषभादिक २३) तीर्थंकर हैं। तथा अनादि कालसे होनेवाले अनन्त सिद्ध हैं। उन सबको एक साथ मैं नमस्कार करता हूं। धर्माचार्य, उपाध्याय, और साधु, इन तीन श्रेणियोंमें विभक्त मुनीश्वरोंको भी मैं वन्दना करता हूं।

जिनशासनका माहात्म्य—

जीयाज्जैनं शासनमनादिनिधनं सुवन्द्यमनवद्यम्।
यदपि च कुमतारातीनदयं धूमध्वजोपमं दहति ॥ ३ ॥

अर्थ–जो जैन शासन (जैनमत) अनादि–अनन्त है। अतएव अच्छी तरह वन्दने योग्य है। दोषोंसे सर्वथा मुक्त है। साथमें खोटे मत रूपी शत्रुओंको अग्निकी तरह जलानेवाला है, वह सदा जयशील बना रहे।

ग्रन्थकारकी प्रतिज्ञा—

इति वन्दितपञ्चगुरुः कृतमङ्गलसक्रियः स एष पुनः।
नाम्ना पञ्चाध्यायीं प्रतिजानीते चिकीर्षितं शास्त्रम् ॥ ४ ॥

अर्थ–इस प्रकार पञ्च परमेष्ठियोंकी वन्दना करनेवाला और मङ्गलरूप श्रेष्ठ क्रियाको करनेवाला यह *ग्रन्थकार पञ्चाध्यायी नामक ग्रन्थको बनानेकी प्रतिज्ञा करता है।

ग्रन्थके बनानेमें हेतु—

अत्रान्तरंगहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः ॥५॥

अर्थ–ग्रन्थ बनानेमें यद्यपि अन्तरंग कारण कविका अति विशुद्ध भाव है, तथापि उस कारणका भी कारण सब जीवोंका उपकार करनेवाली श्रेष्ठ बुद्धि है।

भावार्थ–जबतक ज्ञानावरण कर्मका विशेष क्षयोपशम न हो, तबतक अनेक कारण कलाप मिलनेपर भी ग्रन्थ निर्माणादि कार्य नहीं हो सक्ते। इस लिये इस महान् कार्यमें अन्तरंग कारण तो कविवर (ग्रन्थकार) का विशेष क्षायोपशमिक भाव है परन्तु उस क्षयोपशम होनेमें भी कारण सब जीवोंके उपकार करनेके परिणाम हैं। विना उपकारी परिणामोंके हुए इस प्रकारकी परिणामोंमें निर्मलता ही नहीं आती।

---

१ आचार्यका मुनियोंके साथ धार्मिक सम्बन्ध ही होता है। परन्तु गृहस्थाचार्यका गृहस्थोंके साथ धार्मिक और सामाजिक, दोनों प्रकारका सम्बन्ध रहता है। इसीलिये आचार्यका धर्म विशेषण दिया है।

* आनुमानिक–श्रीमत्परमपूज्य अमृतचन्द्र सूरि। ऐसा अनुमान क्यों किया जाता है? यह भूमिकासे स्पष्ट होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथनक्रम—

सर्वोपि जीवलोकः श्रोतुं कामो वृषं हि सुगमोक्त्या ।
विज्ञप्तौ तस्य कृते तत्रायमुपक्रमः श्रेयान् ॥ ६ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जनसमूह धर्मको सुनना चाहता है, परन्तु सरल रीतिसे सुनना चाहता है । यह बात सर्व विदित है। इसके लिये हमारी यह (नीचे लिखी हुई) कथन शैली अच्छी होगी—

सति धर्मिणि धर्माणां मीमांसा स्यादनन्यथा न्याय्यात् ।
साध्यं वस्त्वविशिष्टं धर्मविशिष्टं ततः परं चापि ॥ ७ ॥

अर्थ—धर्मीका निरूपण होनेपर ही धर्मोंका विशेष विचार किया जा सक्ता है । इसके सिवाय और कोई नीति नहीं हो सक्ती । इसलिये पहले सामान्य रूपसे ही वस्तुको सिद्ध करना चाहिये । उसके पीछे धर्मोंकी विशेषताके साथ सिद्ध करना चाहिये ।

भावार्थ—अनेक धर्मोंके समूहका नाम ही धर्मी है । धर्म, गुण, ये दोनोंही एकार्थ हैं । जब किसी खास गुणका विवेचन किया जाता है तब वह विवेचनीय गुण तो धर्म कहलाता है और बाकी अनन्त गुणोंका समुदाय धर्मी (पिण्ड द्रव्य) कहलाता है । इसी प्रकार हरएक गुण चालनी न्यायसे धर्म कहलाता है, उससे बाकीके सम्पूर्ण गुणोंका समूह, धर्मी कहलाता है । धर्मकी मीमांसा (विचार) तभी हो सक्ती है जब कि पहले धर्म समुदाय रूप धर्मीका बोध हो जाय । जिस प्रकार शरीरका परिज्ञान होनेपर ही शरीरके प्रत्येक अंगका वर्णन किया जा सक्ता है । इसलिये यहां पर पहले धर्मोंका विचार न करके धर्मीका ही विचार किया जाता है । सामान्य विवेचनाके पीछे ही विशेष विवेचना की जा सक्ती है ।

तत्त्वका स्वरूप—

तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम् ।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पश्च ॥ ८ ॥

अर्थ—तत्त्व (वस्तु) सत् लक्षणवाली है । अथवा सत स्वरूप ही है । और वह स्वतः सिद्ध है इसीलिये अनादि निधन है । अपनी सहायतासे ही बनता और बिगड़ता है । और वह निर्विकल्प (वचनातीत) भी है ।

भावार्थ—वस्तु सत् लक्षणवाला है, यह प्रमाण लक्षण है । *प्रमाणमें एक गुणके द्वारा सम्पूर्ण वस्तुका ग्रहण होता है । वस्तुमें अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व आदि अनन्त गुण हैं । अस्तित्व गुणका नाम ही सत् है । सत् कहनेसे अस्तित्व गुणका ही ग्रहण होना चाहिये परन्तु यहांपर सत् कहनेसे सम्पूर्ण वस्तुका ग्रहण होता है । इसका कारण यही है कि अस्तित्व आदि सभी गुण अभिन्न हैं । अभिन्नताके कारण ही सतके कहनेसे सम्पूर्ण गुण समुदायरूप वस्तुका

* एकगुणमुखेनाऽशेषवस्तुकथनम्प्रमाणाधीनमिति वचनात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रहण हो जाता है । इसीलिये वस्तुको सत् स्वरूप भी कह दिया है । सत् और गुण समुदाय रूप वस्तु, दोनों अभिन्न हैं । इस लिये सत् रूप ही वस्तु है ।

यहांपर लक्ष्य लक्षणकी भेद विवक्षा रखकर ही वस्तुका सत्, लक्षण बतलाया है । अभेद विवक्षामें तो वस्तुको सत् स्वरूप ही बतलाया गया है ।

नैयायिक आदि कतिपय दर्शनवाले वस्तुको परसे सिद्ध मानते हैं । ईश्वरादिको उसका रचयिता बतलाते है, परन्तु यह मानना सर्वथा मिथ्या है । वस्तु अपने आप ही सिद्ध है । इसका कोई बनानेवाला नहीं है । इसी लिये न इसकी आदि है और न इसका अन्त है । प्रत्येक वस्तुका परिणमन अवश्य होता है उस परिणमनमें वस्तु अपने आप ही कारण है और अनन्त गुणोंका पिण्डरूप वस्तु वचन वर्गणाके सर्वथा अगोचर है ।

ऐसा न माननेमें दोष—

इत्थं नोचेदसतः प्रादुर्भूति र्निरङ्कुशा भवति ।
परतः प्रादुर्भावो युतसिद्धत्वं सतो विनाशो वा ॥ ९ ॥

अर्थ—यदि ऊपर कही हुई रीतिसे वस्तुका स्वरूप न माना जावे तो अनेक दोष आते हैं । असत् पदार्थ भी होने लगेगा । जब वस्तुको सत् स्वरूप और स्वतःसिद्ध माना जाता है तब तो असत्की उत्पत्ति बन नहीं सकती है । परन्तु ऐसा न मानने पर यह दोष विना किसी अंकुशके प्रबलतासे उपस्थित हो जायगा । इसी प्रकार वस्तुकी परसे उत्पत्ति होने लगेगी । वस्तुमें युतसिद्धता (अखण्डताका अभाव) भी होगी । और सत् पदार्थका विनाश भी होने लगेगा । इस तरह ऊपरकी चारों बातोंके न माननेसे ये चार दोष आते हैं ।

असत्पदार्थकी उत्पत्तिमें—

असतः प्रादुर्भावे द्रव्याणामिह भवेदनन्तत्वम् ।
को वारयितुं शक्तः कुम्भोत्पत्तिं मृदाद्यभावेपि ॥ १० ॥

अर्थ—यदि उन दोषोंको स्वीकार किया जाय तो और कौन २ दोष आते हैं, वही बतलाया जाता है । यदि असत्की उत्पत्ति मान ली जाय, अर्थात् जो वस्तु पहले किसी रूपमें भी नहीं है, और न उसके परमाणुओंकी सत्ता ही है, ऐसी वस्तुकी उत्पत्ति माननेसे वस्तुओंकी कोई इयत्ता (मर्यादा) नहीं रह सक्ती है । जब विना अपनी सत्ताके ही नवीन रूपसे उत्पत्ति होने लगेगी तो संसारमें अनन्तों द्रव्य होते चले जायगे । ऐसी अवस्थामें विना मिट्टीके ही घड़ा बनने लगेगा, इसको कौन रोक सकेगा ।

भावार्थ—असत्की उत्पत्ति माननेसे वस्तुओंमें कार्य—कारण भाव नहीं रहेगा । कार्य-कारण भावके उठ जानेसे कोई वस्तु कहींसे क्यों न उत्पन्न होजाय उसमें कोई बाधक नहीं हो सक्ता है । कार्य-कारण माननेपर यह दोष नहीं आता है । अपने कारणसे ही अपना कार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, यह नियम वस्तुओंकी अव्यवस्थामें बाधक हो जाता है । इस लिये असत पदार्थोंकी उत्पत्ति न मानकर वस्तुको सत्‌रूप मानना ही ठीक हैं ।

परसे सिद्ध माननेमें दोष—

परतः सिद्धत्वे स्यादनवस्थालक्षणो महान् दोषः ।
सोपि परः परतः स्यादन्यस्मादिति यतश्च सोपि परः ॥११॥

अर्थ—वस्तुको परसे सिद्ध मानने पर अनवस्था नामक दोष आता है। यह दोष बड़ा दोष है । वह इस प्रकार आता है कि—वस्तु जब परसे सिद्ध होगी तो वह पर भी किसी दूसरे पर पदार्थसे सिद्ध होगा । क्योंकि पर—सिद्ध माननेवालोंका यह सिद्धान्त है कि हर एक पदार्थ परसे ही उत्पन्न होता है ।

भावार्थ—अप्रमाणरूप अनन्त पदार्थोंकी उत्तरोत्तर कल्पना करते चले जाना, इसीका नाम अनवस्था *दोष है । यह दोष पदार्थ सिद्धिमें सर्वथा बाधक है । पदार्थोंको पर सिद्ध मानने पर यह महा दोष उपस्थित हो जाता है । क्योंकि उससे वह, फिर उससे वह, इस प्रकार कितनी ही लम्बी कल्पना क्यों न की जाय, परन्तु कहीं पर भी जाकर विश्राम नहीं आता। जहां रुकेंगे वहीं पर यह प्रश्न खड़ा होगा कि यह कहांसे हुआ, । इसलिये वस्तुको पर सिद्ध न मानकर स्वतःसिद्ध मानना ही श्रेयस्कर है ।

युतसिद्ध माननेमें दोष—

युतसिद्धत्वेप्येवं गुणगुणिनोः स्यात्पृथक् प्रदेशत्वम् ।
उभयोरात्मसमत्वाल्लक्षणभेदःकथं तयो भवति ॥१२॥

अर्थ—युतसिद्ध माननेसे गुण और गुणी (जिसमें गुण पाया जाय) दोनों ही के भिन्न २ प्रदेश ठहरेंगे । उस अवस्थामें दोनों ही समान होंगें । फिर अमुक गुण है और अमुक गुणी है ऐसा गुण, गुणीका भिन्न २ लक्षण नहीं बन सकेगा ।

भावार्थ—अनन्तगुणोंका अखण्ड पिण्ड स्वरूप यदि वस्तु मानी जावे तब तो गुण, गुणीके भिन्न प्रदेश नहीं होते हैं, और अभिन्नतामें ही विवक्षा वश गुण, गुणीमें लक्षणभेद हो जाता है । परन्तु जब वस्तुके भिन्न प्रदेश माने जावें और गुणोंके भिन्न माने जावें तब दोनों ही स्वतंत्र होंगे, और स्वतन्त्रतासे अमुक गुण है और अमुक गुणी है ऐसा लक्षणभेद नहीं कर सकते । समान-अधिकरमें दोनोंही वस्तु होंगे अथवा दोनों ही गुण होंगे। इसलिये युतसिद्ध मानना ठीक नहीं है ।

सत्‌का नाश माननेमें दोष—

अथवा सतो विनाशः स्यादिति पक्षोपि बाधितो भवति ।
नित्यं यतः कथञ्चिद्द्रव्यं सुज्ञैः प्रतीयतेऽध्यक्षात् ॥ १३ ॥

* अप्रामाणिकाऽनन्तपदार्थकल्पनया—अविश्रान्तिरनवस्था ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ–अथवा सत्का नाश हो जायगा यह पक्ष भी सर्वथा बाधित है। क्योंकि द्रव्य कथञ्चित् नित्य है यह बात विशेष जानकारोंको प्रत्यक्ष रूपसे प्रतीत है।

भावार्थ–यदि द्रव्य कथञ्चित नित्य न होवे तो प्रत्यभिज्ञान ही नहीं हो सक्ता। जिस पुरुषको पहले कभी देखा हो, फिर दुबारा भी उसे देखा जाय तो ऐसी बुद्धि पैदा होती है कि "यह वही पुरुष है जिसे कि हम पहले देख चुके हैं।" यदि उस पुरुषमें कथञ्चित नित्यता न होवे तो "यह वही पुरुष है" ऐसी स्थिर बुद्धि भी नहीं हो सक्ती। और ऐसी धारणारूप बुद्धि विद्वानोंको स्वयं प्रतीत होती है। इसलिये सर्वथा वस्तुका नाश मानना भी सर्वथा अनुचित है।

सारांश—

तस्मादनेकदूषणदूषितपक्षाननिच्छता पुंसा।
अनवद्यमुक्तलक्षणमिह तत्त्वं चानुमन्तव्यम् ॥ १४ ॥

अर्थ–इसलिये अनेक दूषणोंसे दूषित पक्षोंको जो पुरुष नहीं चाहता है उसे योग्य है कि वह ऊपर कहे हुए लक्षणवाली निर्दोष वस्तुको स्वीकार करै। अर्थात् सत् स्वरूप, स्वतः सिद्ध, अनादि निधन, स्वसहाय और निर्विकल्प स्वरूप ही वस्तुको समझे।

सत्ता विचार—

किञ्चैवंभूतापि च सत्ता न स्यान्निरंकुशा किन्तु।
सप्रतिपक्षा भवति हि स्वप्रतिपक्षेण नेतरेणेह ॥ १५ ॥

अर्थ–जिस सत्ताको वस्तुका लक्षण बतलाया है वह सत्ता भी स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। किन्तु अपने प्रतिपक्ष (विरोधी) के कारण प्रतिपक्षी भावको लिये हुए है। सत्ताका जो प्रतिपक्ष है उसीके साथ सत्ताकी प्रतिपक्षता है दूसरे किसीके साथ नहीं।

भावार्थ–नैयायिक सिद्धान्त सत्ताको सर्वथा स्वतन्त्र पदार्थ मानता है। उसके मतके अनुसार सत्ता यद्यपि वस्तुमें रहती है परन्तु वह वस्तुसे सर्वथा जुदी है, और वह नित्य है, व्यापक है, एक है। जैन सिद्धान्त इसके सर्वथा प्रतिकूल है। वह सत्ताको वस्तुसे अभिन्न मानता है, स्वतन्त्र पदार्थरूप सत्ताको नहीं मानता। यदि नैयायिक मतके अनुसार सत्ताको स्वतन्त्र पदार्थ माना जावे तो वस्तु अभावरूप ठहरेगी। यदि उसको नित्य माना जावे तो उसके साथ समवाय सम्बन्ध (नित्य सम्बन्धका नाम समवाय है) से रहनेवाली वस्तुका कभी भी नाश नहीं होना चाहिये। यदि उस सत्ताको व्यापक तथा एक माना जावे तो वह मध्यवर्ती अन्य पदार्थोंमें भी रह जायगी। दृष्टान्तके लिये गोत्व सत्ताको ले लीजिये जैसे–नैयायिक मतके अनुसार कलकत्तेवाली गौमें जो गोत्वधर्म है वही बम्बईवाली गौमें भी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब दोनों जगह एक ही गोत्व धर्म है तब वह अखण्ड होना चाहिये, और अखण्ड होनेसे कलकत्ता और बम्बईके बीचमें जितने भी पदार्थ हैं उन सबमें भी गोत्वधर्म रह जायगा। गोत्व धर्मके रहनेसे वे सभी पदार्थ गौ, कहलायंगे। इन बातोंके सिवाय सत्ताको स्वतन्त्र माननेमें और भी अनेक दोष आते हैं। इस लिये सत्ता स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं किन्तु वस्तुसे अभिन्न एक अस्तित्व नामक गुण है। जितने संसारमें पदार्थ हैं उन सबमें भिन्न २ सत्ता हैं, एक नहीं हैं। जब वस्तु परिणमनशील है तब उसके सत्ता गुणमें भी परिवर्तन होता है, इसलिये वह सत्ता कथंचित् अनित्य भी है, सर्वथा नित्य नहीं है। वस्तुके परिणमनकी अपेक्षासे ही उस सत्तामें प्रतिपक्षता आती है। पर्यायकी अपेक्षासे वह सत्ता अनेक रूप है। द्रव्यकी अपेक्षासे वह एक रूप भी हैं। इसी प्रकार सत्ताका प्रतिपक्ष पदार्थान्तर रूप परिणमनकी अपेक्षासे अभाव भी पड़ता है। और भी अनेक रीतिसे प्रतिपक्षता आती है जिसको ग्रन्थकार स्वयं आगे प्रगट करेंगे।

शङ्काकार

अत्राहैवं कश्चित् सत्ता या सा निरङ्कुशा भवतु।
परपक्षे निरपेक्षा स्वात्मनि पक्षेऽवलम्बिनी यस्मात् ॥१६॥

अर्थ—यहां पर कोई कहता है कि जो सत्ता है वह स्वतन्त्र ही है। क्योंकि वह अपने स्वरूपमें ही स्थित है। परपक्षसे सर्वथा निरपेक्ष है। अर्थात् सत्ताका कोई प्रतिपक्ष नहीं है।

उत्तर—

तन्न यतो हि विपक्षः कश्चित्सत्त्वस्य वा सपक्षोपि।
द्वावपि नयपक्षौ तौ मिथो विपक्षौ विवक्षितापेक्षात् ॥ १७॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। क्योंकि सत्ताका कोई सपक्ष और कोई विपक्ष अवश्य है। दोनों ही नय पक्ष हैं, और वे दोनों ही नय पक्ष विवक्षा वश परस्परमें विपक्षपनेको लिये हुए हैं।

भावार्थ—जिस समय द्रव्यके कहनेकी इच्छा होती है उस समय पर्यायको गौण दृष्टिसे देखा जाता है, और जिस समय पर्यायको कहनेकी इच्छा होती है उस समय द्रव्यको गौण दृष्टिसे देखा जाता है। द्रव्य और पर्यायमें परस्पर विपक्षता होनेसे सत्ताका सपक्ष और विपक्ष भी सिद्ध हो जाता है।

---

१ जिनका कुछ कथन दूसरे अध्यायमें किया गया है।

२ नैयायिक दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर शङ्काकार–

अत्राप्याह कुदृष्टि र्यदि नय पक्षौ विवक्षितौ भवतः ।
का नः क्षति र्भवेतामन्यतरेणेह सत्त्वसंसिद्धिः ॥ १८ ॥

अर्थ–यहां पर फिर मिथ्या दृष्टि कहता है कि यदि नय पक्ष विवक्षित होते हैं, तो होओ, हमारी कोई हानि नहीं है । सत्ताकी स्वतन्त्र सिद्धि एक नयसे ही हो जायगी ।

भावार्थ–शङ्काकार कहता है कि यदि द्रव्यार्थिक नय अथवा पर्यायार्थिक नय इन दोनोंमेंसे किसी भी नयसे जैन सिद्धान्त सत्ताको स्वीकार करता है तो उसी नयसे हम सत्ताको स्वतंत्र मानेंगे जिस नयसे भी सत्ता मानी जायगी उसी नयसे सत्ताकी स्वतन्त्रता बनी रहेगी । दूसरी नयको सत्ताका विपक्ष माननेकी क्या आवश्यकता है ?

शङ्काकारका आशय यही है कि किसी नय दृष्टिसे भी सत्ता क्यों न स्वीकार की जाय, उस दृष्टिसे वह स्वतन्त्र है, विपक्ष नय दृष्टिसे सत्ताका प्रतिपक्ष क्यों माना जाता है ?

उत्तर–

तन्न यतो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयात्मकं वस्तु ।
अन्यतरस्य विलोपे शेषस्यापीह लोप इति दोषः ॥ १९ ॥

अर्थ–शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं हैं । क्योंकि वस्तु द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय स्वरूप है । इन दोनों नयोंमेंसे किसी एक नयका लोप करने पर बाकीकी दूसरी नयका भी लोप हो जायगा । यह दोष उपस्थित होता है ।

भावार्थ–"सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषयः" ऐसा परीक्षामुखका सूत्र है । वस्तु उभय धर्मात्मक ही प्रमाणका विषय है । यदि सामान्य विशेषकी अपेक्षा न करै तो सामान्य भी नहीं रह सक्ता, क्योंकि विना विशेषके सामान्य अपने स्वरूपका लाभ ही नहीं कर सक्ता । इसी प्रकार विशेष भी यदि सामान्यकी अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र रहना चाहे तो वह भी नहीं रह सक्ता । यहां पर विशेष कथन पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे है, और सामान्य कथन द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे है । यदि शङ्काकारके कथनानुसार जिस नयसे सत्ता मानते हैं उसी नयसे सत्ताको स्वतन्त्र मानने लगें और प्रतिपक्षी नयकी अपेक्षासे असत्ताको स्वीकार न करें तो वस्तु एक नय रूप होगी । निरपेक्ष एक नयकी स्वीकारतामें वह नय भी नहीं रह सकेगी । क्योंकि वस्तु उभय नय रूप है । इसलिये एक नय दूसरे नयकी अवश्य अपेक्षा रखती है । इसी पारस्परिक अपेक्षामें सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता पड़ती है ।

परस्परकी प्रतिपक्षता—

प्रतिपक्षमसत्ता स्यात्सत्तायास्तद्यथा तथा चान्यत् ।
नाना रूपत्वं किल प्रतिपक्षं चैकरूपतायास्तु ॥ २० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ–जिस प्रकार सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता है उसी प्रकार और भी है। नाना रूपता एक रूपताका प्रतिपक्ष है।

भावार्थ–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सत्ताके दो भेद हैं। एक सामान्य सत्ता, और दूसरी सत्ता विशेष। सत्ता सामान्यका ही दूसरा नाम महासत्ता है, और सत्ता विशेषका दूसरा नाम अवान्तर सत्ता है। महासत्ता अपने स्वरूपकी अपेक्षासे सत्ता है। परन्तु अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे सत्ता नहीं है। इसी प्रकार अवान्तर सत्ता भी अपने स्वरूपकी अपेक्षासे सत्ता है, किन्तु महासत्ताकी अपेक्षासे वह असत्ता है। हरएक पदार्थमें स्व-स्वरूप और परस्वरूपकी अपेक्षासे सत्ता और असत्ता रहती है। इसी लिये हरएक पदार्थ कथंचित् सत्‌रूप है, और कथंचित् असत (अभाव) रूप है। सत्ता भी स्व-स्वरूप और परस्वरूपकी अपेक्षासे सत्, असत रूप उभय धर्म रखती है।

महासत्ता सम्पूर्ण पदार्थोंकी सम्पूर्ण अवस्थाओंमें रहती है इसलिये उसे नानारूपा (अनेक रूपा) कहा है। प्रतिनियत पदार्थोंके स्वरूप सत्ताकी अपेक्षासे अवान्तर सत्ताको एकरूपा कहा है।

और भी–

एक पदार्थस्थितिरिह सर्वपदार्थस्थितेर्विपक्षत्वम्।
ध्रौव्योत्पादविनाशैस्त्रिलक्षणायास्त्रिलक्षणाभावः ॥ २१ ॥

अर्थ–एक पदार्थकी सत्ता, समस्त पदार्थोंकी सत्ताका विपक्ष है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप त्रिलक्षणात्मक सत्ताका प्रतिपक्ष त्रिलक्षणाभाव (अत्रिलक्षणा) है।

भावार्थ–यद्यपि समस्त वस्तुओंमें भिन्न२ सत्ता है, तथापि वह सब वस्तुओंमें एक सरीखी है। इसलिये सामान्य दृष्टिसे सब पदार्थोंमें एक सत्ता कह दी जाती है। उसीको 'महासत्ता'* कहते हैं।

उस महा सत्ताका प्रतिपक्ष एक पदार्थमें रहनेवाली सत्ता है। उसीको अवान्तर सत्ता कहते हैं। इस अवान्तर सत्तासे ही प्रति नियत पदार्थोंकी भिन्न २ व्यवस्था होती है।

वस्तुमें उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य ये तीनों ही अवस्थायें प्रतिक्षण हुआ करती हैं। इन तीनों अवस्थाओंको धारण करनेवाली वस्तु ही सत् कहलाती है। इसलिये महासत्ता उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप त्रयात्मक है। यद्यपि ये तीनों अवस्थायें एक समयमें होनेवाली त्रिलक्षणात्मक पर्याय हैं। तथापि ये तीनों एक रूप नहीं हैं। जिस स्वरूपसे वस्तुमें उत्पाद है, उससे ध्रौव्य, विनाश नहीं है। और जिस स्वरूपसे विनाश है, उससे उत्पाद ध्रौव्य नहीं है। जिस स्वरूपसे

* यह महासत्ता केवल आपेक्षिक दृष्टिसे कही गई है। कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। जैसा कि नैयायिक और वैशेषिक दर्शनवाले सब पदार्थोंमें रहनेवाली महासत्ताको एक स्वतन्त्र पदार्थ ही मानते है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्रौव्य है, उससे उत्पाद विनाश नहीं है । इसलिये प्रत्येक अवस्थामें रहनेवाली अवान्तर सत्ता त्रिलक्षणात्मक नहीं है किन्तु एक एक लक्षण रूप है । इसी अपेक्षासे त्रिलक्षणात्मक महासत्ताका प्रतिपक्ष त्रिलक्षणाभाव अर्थात् एक एक लक्षण रूप अवान्तर सत्ता है । क्योंकि त्रिलक्षणका प्रत्येक एक लक्षण विरोधी है ।

और भी—

एकस्यास्तु विपक्षः सत्तायाः स्याद्दो ह्यनेकत्वम् ।
स्यादप्यनन्तपर्ययप्रतिपक्षस्त्वेकपर्ययत्वं स्यात् ॥ २२ ॥

अर्थ—एक सत्ताका प्रतिपक्ष अनेक है । और अनन्त पर्यायका प्रतिपक्ष एक पर्याय है।

भावार्थ—महासत्ता सम्पूर्ण पदार्थोंमें एक रूप बुद्धि पैदा करती है इसलिये वह एक कहलाती है । परन्तु अवान्तर सत्तामें यह बात नहीं है, जो एक वस्तुकी स्वरूप सत्ता है, वह दूसरेकी नहीं है । इसलिये वह अनेक कहलाती है ।*

प्रश्न—

एकस्मिन्निह वस्तुन्यनादिनिधने च निर्विकल्पे च ।
भेदनिदानं किं तद्येनैतज्जृम्भते वचस्त्विति चेत् ॥ २३ ॥

अर्थ—वस्तु एक अखण्ड द्रव्य है । वह अनादि है, अनन्त है, और निर्विकल्प भी है । ऐसी वस्तुमें भेदका क्या कारण है ? जिससे कि तुम्हारा उपर्युक्त कथन सुसङ्गत हो ।

भावार्थ—यहांपर यह प्रश्न है कि जब वस्तु अखण्ड द्रव्य है, तब सामान्यका प्रतिपक्ष विशेष, एकका प्रतिपक्ष अनेक, उत्पाद व्यय ध्रौव्यका प्रतिपक्ष प्रत्येक एक लक्षण, अनन्त पर्यायका प्रतिपक्ष एक पर्याय आदि जो बहुतसी बातें कही गई हैं, वे ऐसी हैं जो कि द्रव्यमें खण्डपनेको सिद्ध करती हैं। इस लिये वह कौनसा कारण है जिससे द्रव्यमें सामान्य, विशेष, एक, अनेक, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि भेद सिद्ध हों ?

उत्तर—

अंशविभागः स्यादित्यखण्डदेशे महत्यपि द्रव्ये ।
विष्कम्भस्य क्रमतो व्योम्नीवाङ्गुलितस्तिहस्तादिः ॥२४॥
प्रथमो द्वितीय इत्याद्यसंख्यदेशास्ततोप्यनन्ताश्च ।
अंशा निरंशरूपास्तावन्तो द्रव्यपर्यायाख्यास्ते ॥२५॥

---

* सत्ताके विषयमें स्वामी कुंदकुंद भी ऐसा ही कहते हैं—

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंत पज्जाया ।
उप्पादवयधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एगा ॥ १ ॥

पञ्चास्तिकाय ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्यायाणामेतद्धर्मं यत्त्वंशकल्पनं द्रव्ये ।
तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सुस्थं प्रमाणतश्चापि ॥२६॥

अर्थ—यद्यपि द्रव्य अखण्ड प्रदेश (देशांश) वाला है और बड़ा भी है। तथापि उसमें विस्तार क्रमसे अंशोंका विभाग कल्पित किया जाता है। जिस प्रकार आकाशमें विस्तार क्रमसे एक अंगुल, दो अंगुल, एक विलस्त, एक हाथ आदि अंश-विभाग किया जाता है। जिसमें फिर दुबारा अंश न किया जासके उसे ही निरंश अंश कहते हैं। ऐसे निरंशरूप अंश एक द्रव्यमें—पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवां, संख्यात, अविभागी—असंख्यात, अनन्त, तथा च, शब्दसे अनन्तानन्त तक होसक्ते हैं। जितने एक द्रव्यमें अंश हैं, उतनी ही उस द्रव्यकी पर्यायें समझनी चाहिये। प्रत्येक अंशको ही द्रव्यपर्याय कहते हैं। क्योंकि द्रव्यमें जो अंशोंकी कल्पना की जाती है, वही पर्यायोंका स्वरूप है। द्रव्यकी एक समय-की पर्याय उस द्रव्यका एक अंश है। इस लिये उन सम्पूर्ण अंशोंका समूह ही द्रव्य है। दूसरे शब्दोंमें कहना चाहिये कि द्रव्यकी जितनी भी अनादि—अनन्त पर्यायें हैं, उन्हीं पर्यायोंका समूह द्रव्य है। अर्थात् प्रत्येक द्रव्यकी एक समयमें एक पर्याय होती है, और कुल समय अनादि अनन्त है, इस लिये वस्तु भी अनादि अनन्त है। अतः उपर्युक्त कहा हुआ वस्तु—स्वरूप सर्वथा निर्दोष है, और सभी सुव्यवस्थित है। यही वस्तुका स्वरूप प्रमाणसे भली भांति सिद्ध है।

भावार्थ—यद्यपि वस्तु अनन्त गुणोंकी अखण्ड पिण्डरूप अखण्ड प्रदेशी है तथापि उसमें अंशोंकी कल्पना की जाती है। वह अंश कल्पना दो प्रकार होती है—एक तिर्यक् अंश कल्पना, दूसरी ऊर्ध्वांश कल्पना। एक समय वर्ती आकारको अविभागी अनेक अंशोंमें विभाजित करनेको तिर्यग् अंश कल्पना कहते हैं। इन प्रत्येक अविभागी अंशोंको द्रव्य पर्याय कहते हैं। द्रव्यका एक समयमें एक आकार है। दूसरे समयमें दूसरा आकार है। तीसरे सम-यमें तीसरा आकार है। इसी प्रकार अनन्त समयोंमें अनन्त आकार हैं इस प्रकार कालके क्रमसे द्रव्यके आकारके अनन्त भेद हैं। इसीका नाम ऊर्ध्वांश कल्पना है। और इन अनन्त समयवर्ती अनन्त आकारोंमेंसे प्रत्येक समयवर्ती प्रत्येक आकारको व्यञ्जन पर्याय कहते हैं। द्रव्यमें उपर्युक्त रीतिसे अंश कल्पना प्रदेशवत्व गुणके निमित्तसे होती है। अर्थात प्रदेशवत्व गुणके निमित्तसे द्रव्यमें आकार होता है। उसी आकारमें दो प्रकारकी कल्पना की जाती है। जिस प्रकार द्रव्यमें अंश कल्पना की जाती है उसी प्रकार गुणोंमें भी की जाती है। गुणकी एक समयमें एक अवस्था है। दूसरे समयमें दूसरी अवस्था है। तीसरे समयमें तीसरी अवस्था है। इसी प्रकार कालक्रमसे एक गुणकी अनन्त समयोंमें अनन्त अवस्थायें हैं इसीका नाम गुणमें ऊर्ध्वांश कल्पना है। इन अनन्त समयवर्ती अनन्त अवस्थाओं-मेंसे प्रत्येक समयवर्ती प्रत्येक अवस्थाको अर्थपर्याय कहते हैं। एक गुणकी एक समयमें जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवस्था है, उस अवस्थामें अविभाग प्रतिच्छेदरूप अंश कल्पनाको गुणमें तिर्यगंश कल्पना कहते हैं। और उन प्रत्येक अविभाग प्रतिच्छेदोंको गुणपर्याय कहते हैं। गुणोंमें जो अंश कल्पना की जाती है वह विष्कंभ क्रमसे नहीं होती क्योंकि देशका देशांश केवल एक प्रदेश व्यापी है किन्तु गुणका एक गुणांश एक समयमें उस द्रव्यके समस्त देशको व्यापकर रहता है इस लिये गुणमें अंश कल्पना काल क्रमसे तरतम रूपसे की जाती है। प्रत्येक समयमें जो अवस्था किसी गुणकी है उसही अवस्थाको गुणांश कहते हैं। एक गुणमें अनन्त गुणांश कल्पित किये जाते हैं। इन्हीं कल्पित गुणांशोंको अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। गुणांशरूप अविभाग प्रतिच्छेदोंका खुलासा इस प्रकार है। जैसे—बकरीके दूधमें चिक्कणता कम है। उससे अधिक क्रमसे गाय, भैंस, उटनी, भेड़के दूधमें उत्तरोत्तर बढ़ी हुई चिक्कणता है। स्निग्ध गुणके किसीमें कम अंश हैं, किसीमें अधिक अंश हैं। ऐसे २ अंश प्रत्येक गुणमें अनन्त हो सक्ते हैं। दूसरा दृष्टान्त ज्ञान गुणका है—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवमें अक्षरके अनन्तवें भाग व्यक्त ज्ञान है। उस ज्ञानमें भी अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं। जघन्य ज्ञानसे बढ़ा हुआ क्रमसे निगोदियाओंमें ही अधिक २ है। उनसे अधिक २ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीवोंमें है। पञ्चेन्द्रिय—असंज्ञीसे संज्ञीमें अधिक है। मनुष्योंमें किसीमें ज्यादा किसीमें कम स्पष्ट ही जाना जाता है। अथवा एक ही आत्मामें निगोदियाकी अवस्थासे लेकर ऊपर क्रम २ से केवलज्ञानतक एक ही ज्ञान गुणकी अनन्त अवस्थायें हो जाती हैं। ये सब अवस्थायें (भेद) ज्ञान गुणके अंश हैं। इन्हीं अंशोंको लेकर कल्पना की जा सक्ती है कि अमुक पुरुषमें इतना अधिक ज्ञान है, अमुकमें इतना कम है। किसी गुणके सबसे जघन्य भेदको अंश कहते हैं। ऐसे २ समान अंश प्रत्येक गुणमें अनन्त होते हैं। तभी यह स्थूलतासे व्यवहार होता है कि इतने अंश ज्ञानके अमुकसे अमुकमें अधिक हैं। इसी प्रकार रूपमें व्यवहार होता है कि अमुक कपड़ेपर गहरा रंग है। अमुक पर फीका रंग है। गहरापन और फीकापन रूप गुणके ही अंशोंकी न्यूनता और अधिकताके निमित्तसे कहलाता है। इसी विषयको हम रुपयेके दृष्टान्तसे और भी स्पष्ट कर देते हैं—एक रुपयेके चौंसठ पैसे होते हैं। अर्थात् ६४ पैसे और एक रुपया दोनों बराबर हैं। इसीको दूसरे शब्दोंमें कहना चाहिये कि एक रुपयेके ६४ भेद या अंश होते हैं। साथमें यह भी कल्पना कर लेना उचित है कि सबसे छोटा भेद (अंश) एक पैसा है। कल्पना करनेके बाद कहा जा सक्ता है कि अमुक व्यक्तिके पास इतने पैसे अधिक हैं। अमुकके पास उससे इतने पैसे कम हैं। यदि किसीके पास १० आना हों, और किसीके पास ६ आना हों तो जाना जा सक्ता है कि ६ आनावालेसे १० आनावालेके पास १६ अंश अधिक धन है इस दृष्टान्तसे इतना ही अभिप्राय है कि जघन्य अंशरूप अविभाग प्रतिच्छेदका बोध हो जाय। वास्तवमें अलग २ टुकड़े किसी गुणके नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जाते; और न अंशोंका नाश और उत्पत्ति ही होती है। किन्तु व्यक्तता और अव्यक्तताकी अपेक्षासे जो तरतम भेद होता है उसीके जाननेके लिये केवल अंशोंकी कल्पना की जाती है। यह अंश कल्पना सर्वज्ञज्ञानगम्य है। द्रव्यकी तरह गुणोंमें भी यही बात समझ लेनी चाहिये कि प्रत्येक गुणके जितने अंश है उतनी ही उस गुणकी पर्यायें हो सक्ती हैं। दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि उन त्रिकालवर्ती पर्यायोंका समूह ही गुण कहलाता है।

द्रव्य चार विभागोंमें बँटा हुआ है, यह बात भी उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट हो जाती है। वे चार विभाग इस प्रकार हैं—देश, देशांश, गुण, गुणांश। अनन्त गुणोंके अखण्ड पिण्ड (द्रव्य)को देश कहते हैं। उस अखण्ड पिण्ड रूप देशके प्रदेशोंकी अपेक्षासे जो अंश कल्पना की जाती है, उसको देशांश कहते हैं। द्रव्यमें रहनेवाले गुणोंको गुण कहते हैं। और उन गुणोंके अंशोंको गुणांश कहते हैं। बस प्रत्येक द्रव्यका स्वरूप इन्ही चार बातोंमें पर्याप्त है। इन चार बातोंको छोड़कर द्रव्य और कोई चीज नहीं है। ये चारों बातें प्रत्येक वस्तुमें अलग२ हैं। दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि इन्हीं चारों बातोंसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे भिन्न निश्चित किया जाता है। इन्हीं चारोंको स्वचतुष्टय कहते हैं। स्वनाम अपनेका है, चतुष्टय नाम चारका है, अर्थात् हर एक वस्तुकी अपनी २ चार चार बातें भिन्न भिन्न हैं। स्वचतुष्टयसे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका ग्रहण होता है। हर एक वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न २ हैं। अनन्त गुणोंका अखण्ड पिण्ड रूप जो देश है उसीको द्रव्य कहते हैं। उस देशके जो प्रदेशोंकी अपेक्षासे भेद हैं उसीको स्वक्षेत्र कहते हैं अर्थात् वस्तुका वही क्षेत्र है जितने प्रदेशोंमें वह विभक्त है। वस्तुमें रहनेवाले गुणोंको ही स्वभाव कहते हैं और उन गुणोंकी काल क्रमसे होनेवाली पर्यायको ही अर्थात् गुणोंके अंशको ही स्वकाल कहते है। इसलिये देश, देशांश, गुण, गुणांशका दूसरा नाम ही वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है। खुलासा इस प्रकार है—वस्तुका स्व द्रव्य, उसके अनन्त गुणसमुदायरूप पिण्डको छोड़कर और कोई नहीं है। वस्तुका क्षेत्र भी उसके प्रदेश ही हैं, न कि वह जहां रक्खी है। जहां वह वस्तु रक्खी है वह स्वक्षेत्र नहीं है किन्तु परक्षेत्र है। इसी प्रकार स्वकाल भी उस वस्तुकी काल क्रमसे होनेवाली पर्याय (गुणांश) है, न कि जिस कालमें वह परिणमन करती है वह काल, वह काल तो पर द्रव्य है। और स्वभाव उस वस्तुके गुण ही हैं।

दृष्टान्तके लिये सोंठ, मिरच, पीपल आदि एक लक्ष औषधियोंका चूर्ण पर्याप्त है एक २ तोला एक लाख औषधियोंको लेकर उन्हें कूट पीसकर नीबूके रसके साथ घोंटकर सबका एक बड़ा गोला बना डालें। उस गोलेमेंसे एक २ रत्ती प्रमाण गोलियाँ बना डालें। बस इन्हींसे स्वचतुष्टय घटित कर लेना चाहिये। एक लाख समान २ औषधियोंका जो गोला है उसे तो स्वद्रव्य अर्थात् देशके स्थानमें समझना चाहिये। उस गोलेकी जो एक २ रत्ती प्रमाण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोलियाँ हैं उन्हें स्वक्षेत्र अर्थात् देशांशके स्थानमें समझना चाहिये । क्योंकि वह गोला रूप समस्त चूर्ण उन्हीं गोलियोंमें पर्याप्त है । उन *गोलियोंमें जो एक लक्ष औषधियां हैं उन्हें स्वभाव अर्थात् गुणके स्थानमें समझना चाहिये । और उन गोलियोंमें जो कालक्रमसे भिन्न २ स्वाद भेद है उसे स्वकाल अर्थात् गुणांशके स्थानमें समझना चाहिये । प्रत्येक द्रव्यका स्वचतुष्टय भिन्न २ है । इस स्वचतुष्टयमें ही प्रत्येक द्रव्य पर्याप्त है ।

शंकाकार–

एतेन विना चैकं द्रव्यं सम्यक् प्रपश्यतश्चापि ।
को दोषो यद्वीतेरियं व्यवस्थैव साधुरस्त्विति चेत् ॥ २७ ॥

अर्थ–ऊपर कही हुई व्यवस्थाका तो प्रत्यक्ष नहीं है; केवल एक द्रव्य ही भली भांति दीख रहा है, इस अवस्थामें कौनसा दोष आता है कि जिसके डरसे उपर्युक्त व्यवस्था ही ठीक मानी जावे ।

भावार्थ–शंकाकारका अभिप्राय इतना ही है कि एक द्रव्यको ही मान लिया जावे जो कि स्थूलतासे दीख रहा है, उस द्रव्यमें देश, देशांश, गुण, गुणांश (स्वचतुष्टय) माननेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर–

देशाभावे नियमात्सत्त्वं द्रव्यस्य न प्रतीयेत ।
देशांशाभावेपि च सर्वं स्यादेकदेशमात्रं वा ॥ २८ ॥

अर्थ–यदि देशहीन माना जावे तो द्रव्यकी सत्ताका ही निश्चय नहीं हो सकेगा । और देशांशोंके न माननेपर सर्व द्रव्य एक देशमात्र हो जायगा ।

भावार्थ–अनन्त गुणोंका अखण्डपिण्ड स्वरूप देशके माननेसे ही द्रव्यकी सत्ता प्रतीत होती है । यदि पिण्डरूप देश न माना जावे तो द्रव्यकी सत्ता ही नहीं ठहरती। इसी प्रकार देशांशके माननेसे द्रव्यकी इयत्ता (परिमाण)का ज्ञान होता है । जितने जिस द्रव्यके अंश होते हैं वह द्रव्य उतना ही बड़ा समझा जाता है । यदि देशके अंशों (विस्तार क्रमसे) की कल्पना न की जाय तो सभी द्रव्य समान समझे जावेंगे । अंशविभाग न होनेसे सबहीका एक ही अंश समझा जायगा ।

---

* जो क्षेत्र एक औषधिका है, वही क्षेत्र लक्ष औषधियोंका है । जितनी भी गोलियां बनाई गई हैं सभीमें लक्ष औषधियां हैं । उसी प्रकार एक गुण जितने देशमें हैं दूसरा भी उसी देशमें हैं । इसलिये सभी गुणोंका एक ही देश है । अर्थात् विष्कंभ क्रमसे होनेवाले वस्तुके प्रत्येक प्रदेशमें अनन्त गुण रहते हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुकी असत्ता और एकांशतामें दोष--

तत्रासत्त्वे वस्तुनि न श्रेयसास्य साधकाभावात् ।
एवं चैकांशत्वे महतो व्योम्नोऽप्रतीयमानत्वात् ॥ २९ ॥

अर्थ—वस्तुको असत् (अभाव) रूप स्वीकार करना ठीक नहीं है । क्योंकि वस्तु असत् स्वरूप सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है । दूसरा यह भी अर्थ हो सकता है कि वस्तुको अभाव रूप माननेसे वह किसी कार्यको सिद्ध न कर सकेगी । इस प्रकार वस्तुमें अंश भेद न माननेसे आकाशकी महानताका ज्ञान नहीं हो सकेगा ।

भावार्थ—पहले तो पदार्थको अभावात्मक सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है । दूसरे-जो अभाव रूप है वह कोई पदार्थ ही नहीं हो सक्ता । जो अपनी सत्ता ही नहीं रखता वह किसी कार्यमें किस प्रकार साधक हो सक्ता है । इसी प्रकार वस्तुमें जब अंशोंकी कल्पना की जाती है तब तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि जिस वस्तुके जितने अधिक अंश हैं वह उतनी ही बड़ी है । जिसके जितने कम अंश हैं वह उतनी ही छोटी है । आकाशके सब वस्तुओंसे अधिक अंश हैं, इस लिये वह सबोंसे महान् ठहरता है । यदि देशोंशोंकी कल्पनाको उठा दिया जाय तो छोटे बड़ेका भेद भी उठ जायगा ।

अंशकल्पनासे लाभ--

किञ्चैतदंशकल्पनमपि फलवत्स्याद्यतोनुमीयेत ।
कायत्वमकायत्वं द्रव्याणामिह महत्त्वममहत्त्वम् ॥ ३० ॥

अर्थ—अंश कल्पनासे एक तो छोटे बड़ेका भेद ज्ञान ऊपर बतलाया गया है । दूसरा अंश कल्पनासे यह भी फल होता है कि उससे द्रव्योंमें कायत्व और अकायत्वका अनुमान कर लिया जाता है इसी प्रकार छोटे और बड़ेका भी अनुमान कर लिया जाता है ।

भावार्थ—जिन द्रव्योंमें बहुत प्रदेश होते हैं वे अस्तिकाय समझे जाते हैं, और जिसमें केवल एकही प्रदेश होता है वह अस्तिकाय नहीं समझा जाता । बहुप्रदेश और एक प्रदेशका ज्ञान तभी हो सक्ता है जब कि उस द्रव्यके प्रदेशों (अंशों)की जुदी जुदी कल्पना कि जाय । विना जुदी जुदी कल्पना किये प्रदेशोंकी न्यूनाधिकताका बोध भी नहीं हो सक्ता है । और विना न्यूनाधिकताका बोध हुए, द्रव्योंमें कौन द्रव्य छोटा है, और कौन बड़ा है यह परिज्ञान भी नहीं हो सक्ता । इसलिये अंशोंकी कल्पना करना सफल है ।

शङ्काकार—

भवतु विवक्षितमेतन्ननु यावन्तो निरंशदेशांशाः
तल्लक्षणयोगादप्पणुवद्द्रव्याणि सन्तु तावन्ति ॥ ३१ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि यह तुम्हारी विवक्षा रहो, अर्थात् तुम जो द्रव्यमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरंश (फिर जिसका खण्ड न हो सके) अंशोंकी कल्पना करते हो, वह करो। परन्तु जितने भी निरंश-देशांश हैं उन्हींको एक एक द्रव्य समझो। जिस प्रकार परमाणु एक द्रव्य है उसी प्रकार एक द्रव्यमें जितने निरंश—देशांशोंकी कल्पना की जाती है, उनको उतने ही द्रव्य समझना चाहिये न कि एक द्रव्य मानकर उसके अंश समझो। द्रव्यका लक्षण उन प्रत्येक अंशोंमें जाता ही है।

भावार्थ—गुण समुदाय ही द्रव्य कहलाता है। यह द्रव्यका लक्षण द्रव्यके प्रत्येक देशांशमें मौजूद है, इसलिये जितने भी देशांश है उतने ही उन्हें द्रव्य समझना चाहिये।

उत्तर—

नैवं यतो विशेषः परमः स्यात्पारिणामिकोऽध्यक्षः।
खण्डैकदेशवस्तुन्यखण्डितानेकदेशे च ॥ ३२ ॥

अर्थ—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि खण्डस्वरूप एकदेश वस्तु माननेसे और अखंड स्वरूप अनेक देश वस्तु माननेसे परिणमनमें बड़ा भारी भेद पड़ता है यह बात प्रत्यक्ष है।

भावार्थ—यदि शंकाकारके कहनेके अनुसार देशांशोंको ही द्रव्य माना जावे तो द्रव्य एक देशवाला खण्ड खण्ड रूप होगा, अखण्ड रूप अनेक प्रदेशी नहीं ठहरेगा, खण्डरूप एक प्रदेशी माननेमें क्या दोष आता है सो आगे लिखा जाता है—

प्रथमोद्देशितपक्षे यः परिणामो गुणात्मकस्तस्य।
एकत्र तत्र देशे भवितुं शीलो न सर्वदेशेषु ॥ ३३ ॥

अर्थ—पहला पक्ष स्वीकार करनेसे अर्थात् खण्डरूप एक प्रदेशी द्रव्य माननेसे जो गुणोंका परिणमन होगा वह सम्पूर्ण वस्तुमें न होकर उसके एक ही देशांशमें होगा। क्योंकि शंकाकार एक देशांशरूप ही वस्तुको समझता है इसलिये उसके कथनानुसार गुणोंका परिणमन एक देशमें ही होगा।

एकदेश परिणमन माननेमें प्रत्यक्ष बाधा—

तदसत्प्रमाणबाधितपक्षत्वादक्षसंविदुपलब्धेः।
देहैकदेशविषयस्पर्शादिह सर्वदेशेषु ॥ ३४ ॥

अर्थ—गुणोंका परिणमन एक देशमें होता है, यह बात प्रत्यक्ष बाधित है। जिसमें प्रमाण-बाधा आवे वह पक्ष किसी प्रकार ठीक नहीं हो सक्ता। इन्द्रियजन्य ज्ञानसे यह बात सिद्ध है कि शरीरके एक देशमें स्पर्श होनेसे सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो जाते हैं।

भावार्थ—शरीर प्रमाण आत्म द्रव्य है इसीलिये शरीरके एक देशमें स्पर्श होनेसे सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च होते हैं अथवा शरीरके एक देशमें चोट लगनेसे सम्पूर्ण शरीरमें वेदना होती है। यदि शंकाकारके कथनानुसार आत्माका एक २ अंश (प्रदेश) ही एक एक आत्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य समझा जाय तो एक देशमें चोट लगनेसे सब शरीरमें पीड़ा नहीं होनी चाहिये, जिस देशमें कष्ट पहुंचा है उसी देशमें पीडा होनी चाहिये परन्तु होता इसके सर्वथा प्रतिकूल है अर्थात् सम्पूर्ण शरीरमें एक आत्मा होनेसे सम्पूर्ण शरीरमें ही वेदना होती है इसलिये खण्डरूप एक देश स्वरूप वस्तुनहीं है किन्तु अखण्ड स्वरूप अनेक प्रदेशी है।

अखण्ड-अनेकप्रदेशी द्रव्यमें दृष्टान्त-

प्रथमेतर पक्षे खलु यः परिणामः स सर्वदेशेषु ।
एको हि सर्वपर्वसु प्रकम्पते ताडितो वेणुः ॥ ३५ ॥

अर्थ—दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर अर्थात् अनेक प्रदेशी-अखण्ड रूप द्रव्य मानने पर जो परिणमन होगा वह सर्व देशमें (सम्पूर्ण वस्तुमें) होगा। जिस प्रकार एक वेंतको एक तरफसे हिलानेसे सारा वेंत हिल जाता है।

भावार्थ—वेंतका दृष्टान्त मोटा है। इसलिये ग्राह्य अंश (एक देश) लेना चाहिये। वेंत यद्यपि बहुतसे परमाणुओंका समूह है तथापि स्थूल दृष्टिसे वह एक ही द्रव्य समझा जाता है। इसी अंशमें उसका दृष्टान्त दिया गया है। वेंत अखण्ड रूप वस्तु है इसलिये एक प्रदेशको हिलानेसे उसके सम्पूर्ण प्रदेश हिल जाते हैं। यदि अखण्ड स्वरूप अनेक प्रदेशी उसे न मानकर उसके एक २ प्रदेशको जुदा जुदा द्रव्य समझा जाय तो जिस देशमें वेंतको हिलाया जावे उसी देशमें उसको हिलना चाहिये, सब देशमें नहीं परन्तु यह प्रत्यक्ष बाधित है। इसलिये वस्तु अनेक देशांशोंका अखण्ड पिण्ड है।

एक प्रदेशवाला भी द्रव्य है—

एक प्रदेशवदपि द्रव्यं स्यात्खण्डवर्जितः स यथा ।
परमाणुरेव शुद्धः कालाणुर्वा यथा स्वतः सिद्धः ॥ ३६ ॥

अर्थ—कोई द्रव्य एक प्रदेशवाला भी है और वह खण्ड रहित है अर्थात् अखण्ड एक प्रदेशी भी कोई द्रव्य है, जैसे पुद्गलका शुद्ध परमाणु और कालाणु। ये भी स्वतः सिद्ध द्रव्य हैं।

परन्तु—

न स्याद्द्रव्यं क्वचिदपि बहु प्रदेशेषु खण्डितो देशः ।
तदपि द्रव्यमिति स्यादखण्डितानेकदेशमदः ॥ ३७ ॥

अर्थ—परन्तु ऐसा द्रव्य कोई नहीं है कि बहु प्रदेशी होकर खण्ड-एक देश रूप हो इसलिये बहु प्रदेशवाला द्रव्य अखण्डरूप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य और गुण—

अथ चैव ते प्रदेशाः सविशेषा द्रव्यसंज्ञया भणिताः ।
अपि च विशेषाः सर्वे गुणसंज्ञास्ते भवन्ति यावन्तः ॥ ३८ ॥

अर्थ—ऊपर जिन देशांशों (प्रदेशों) का वर्णन किया गया है । वे देशांश गुण सहित हैं । गुण सहित उन्हीं देशांशोंकी द्रव्य संज्ञा है । उन देशांशोंमें रहनेवाले जो विशेष हैं उन्हींकी गुण संज्ञा है ।

भावार्थ—द्रव्य अनन्त गुणोंका समूह है इसलिये जितने भी द्रव्यके प्रदेश हैं सबमें अनंत गुणोंका अंश है उन गुणों सहित जो प्रदेश हैं उन्हींकी मिलकर द्रव्य संज्ञा हैं, गुणोंकी विशेष संज्ञा है ।

गुण, गुणीसे जुदा नहीं है—

तेषामात्मा देशो नहि ते देशात्पृथक्त्वसत्ताकाः ।
नहि देशे हि विशेषाः किन्तु विशेषैश्च तादृशो देशः ॥ ३९ ॥

अर्थ—उन गुणोंका समूह ही देश (अखण्ड-द्रव्य) है । वे गुण देशसे भिन्न अपनी सत्ता नहीं रखते हैं और ऐसा भी नहीं कह सकते कि देशमें गुण (विशेष) रहते हैं किन्तु उन विशेषों (गुणों) के मेलसे ही वह देश कहलाता है ।

भावार्थ—नैयायिक दर्शनवाले गुणोंकी सत्ता भिन्न मानते हैं और द्रव्यकी सत्ता भिन्न मानते हैं, द्रव्यको गुणोंका आधार बतलाते हैं परन्तु जैन सिद्धान्त ऐसा नहीं मानता किन्तु उन गुणोंके समूहको ही देश मानता है और उन गुणोंकी द्रव्यसे भिन्न सत्ता भी नहीं स्वीकार करता है । ऐसा भी नहीं है कि द्रव्य आधार है और गुण आधेय रूपसे द्रव्यमें रहते हैं, किन्तु उन गुणोंके समुदायसे ही वह पिण्ड द्रव्य संज्ञा पाता है ।

दृष्टान्त—

अत्रापि च संदृष्टिः शुक्लादीनामियं तनुस्तन्तुः ।
नहि तन्तौ शुक्लाद्याः किन्तु सिताद्यैश्च तादृशस्तन्तुः ॥४०॥

अर्थ—गुण और गुणीमें अभेद है, इसी विषय में तन्तु (डोरे) का दृष्टान्त है । शुक्ल गुण आदिका शरीर ही तन्तु है । शुक्लादि गुणोंको छोड़कर और कोई वस्तु तंतु नहीं है और न ऐसा ही कहा जा सक्ता है कि तन्तुमें शुक्लादिक गुण रहते हैं, किन्तु शुक्लादि गुणोंके एकत्रित होनेसे ही तन्तु बना है ।

भावार्थ—शुक्ल आदि गुणोंका समूह ही डोरा कहलाता है । जिस प्रकार डोरा और सफेदी अभिन्न है उसी प्रकार द्रव्य और गुण भी अभिन्न हैं । जिस प्रकार डोरा, सफेदी आदिसे पृथक् वस्तु नहीं है उसी प्रकार द्रव्य भी गुणोंसे पृथक् चीज नहीं है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशङ्का—

अथ चेद्भिन्नो देशो भिन्ना देशाश्रिता विशेषाश्च ।
तेषामिह संयोगाद्द्रव्यं दण्डीव दण्डयोगाद्वा ॥ ४१ ॥

अर्थ—यदि देशको भिन्न समझा जाय और देशके आश्रित रहनेवाले विशेषोंको भिन्न समझा जाय, तथा उन सबके संयोगसे द्रव्य कहलाने लगे। जिस प्रकार पुरुष भिन्न है, दण्ड (डंडा) भिन्न है, दोनोंके संयोगसे दण्डी कहलाने लगता है तो

उत्तर—

नैवं हि सर्वसङ्कर दोषत्वाद्वा सुसिद्धदृष्टान्तात् ।
तत्किं चेतनयोगादचेतनं चेतनं न स्यात् ॥ ४२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त आशंका ठीक नहीं है। देशको भिन्न और गुणोंको देशाश्रित भिन्न स्वीकार करनेसे सर्व संकर दोष आवेगा। यह बात सुघटित दृष्टान्त द्वारा प्रसिद्ध है। गुणोंको भिन्न माननेसे क्या चेतना गुणके सम्बन्धसे अचेतन पदार्थ चेतन (जीव) नहीं हो जायगा ?

भावार्थ—जब गुणोंको द्रव्यसे पृथक् स्वीकार किया जायगा, तो ऐसी अवस्थामें गुण स्वतन्त्र होकर कभी किसीसे और कभी किसीसे संबंधित हो सक्ते हैं। चेतना गुणको यदि जीवका गुण न मानकर एक स्वतन्त्र पदार्थ माना जाय तो वह जिस प्रकार जीवमें रहता है उसी प्रकार कभी अजीव-जड़ पदार्थमें भी रह जायगा। उस अवस्थामें अजीव भी जीव कहलाने लगेगा। फिर पदार्थोंका नियम ही नहीं रह सकेगा, कोई पदार्थ किसी रूप हो जायगा, इसलिये द्रव्यसे गुणको भिन्न सत्तावाला मानना सर्वथा मिथ्या है।

अथवा—

अथवा विना विशेषैः प्रदेशसत्त्वं कथं प्रमीयेत ।
अपि चान्तेरण देशैर्विशेषलक्ष्मावलक्ष्यते च कथम् ॥४३॥

अर्थ—दूसरी बात यह भी है कि विना गुणोंके द्रव्यके प्रदेशोंकी सत्ता ही नहीं जानी जा सक्ती अथवा विना प्रदेशोंके गुण भी नहीं जाने जा सक्ते।

भावार्थ—गुण समूह ही प्रदेश हैं। विना समुदायके समुदायी नहीं रह सकता, और विना समुदायीके समुदाय नहीं रह सकता—दोनोंके विना एक भी नहीं रह सकता, अथवा शब्दान्तरमें ऐसा कहना चाहिये कि दोनों एक ही बात है।

गुण, गुणीको भिन्न माननेमें दोष—

अथ चैतयोः पृथक्त्वे हठादहेतोश्च मन्यमानेपि ।
कथमिवगुणगुणिभावः प्रमीयते सत्समानत्वात् ॥ ४४ ॥

अर्थ—यदि हठ पूर्वक विना किसी हेतुके गुण और गुणी भिन्न भिन्न सत्तावाले ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माने जावें, तो ऐसी अवस्थामें दोनोंकी सत्ता समान होगी । सत्ताकी समानतामें 'यह गुण है और यह गुणी है,' यह कैसे जाना जा सक्ता है ?

भावार्थ—जब गुण समुदायको द्रव्य कहा जाता है तब तो समुदायको गुणी और समुदायीको गुण कहते हैं परन्तु गुण और गुणीको भिन्न माननेपर दोनों ही समान होंगे, उस समानतामें किसको गुण कहा जाय और किसको गुणी कहा जाय ? गुण गुणीका अन्तर ही नहीं प्रतीत होगा ।

सारांश—

तस्मादिदमनवद्यं देशविशेषास्तु निर्विशेषास्ते ।
गुणसंज्ञकाः कथञ्चित्परणतिरूपाः पुनः क्षणं यावत् ॥ ४५ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात निर्दोष सिद्ध है कि देश-विशेष ही गुण कहलाते हैं । गुणोंमें गुण नहीं रहते हैं । वे गुण प्रतिक्षण परिणमनशील हैं परन्तु सर्वथा विनाशी नहीं हैं ।

प्रश्न—

एकत्वं गुणगुणिनोः साध्यं हेतोस्तयोरनन्यत्वात् ।
तदपि द्वैतमिव स्यात् किं तत्र निबन्धनं त्वितिचेत् ॥ ४६ ॥

अर्थ—गुण, गुणी दोनों ही एक हैं क्योंकि वे दोंनों ही भिन्न सत्तावाले नहीं हैं । यहांपर अभिन्न सत्ता रूप हेतुसे गुण, गुणीमें एकपना सिद्ध किया जाता है, फिर भी क्या कारण कि अखण्ड पिण्ड होनेपर भी द्रव्यमें द्वैतभावसा प्रतीत होता है ?

उत्तर—

यत्किञ्चिदस्ति वस्तु स्वतः स्वभावे स्थितं स्वभावश्च ।
अविनाभावी नियमाद्विवक्षितो भेदकर्ता स्यात् ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो कोई भी वस्तु है वह अपने स्वभाव (गुण-स्वरूप) में स्थित है और वह स्वभाव भी निश्चयसे उस स्वभावी (वस्तु) से अविनाभावी-अभिन्न है परन्तु विवक्षा वश भिन्न समझा जाता है ।

भावार्थ—यद्यपि स्वभाव, स्वभावी, दोनों ही अभिन्न हैं तथापि अपेक्षा कथनसे स्वभाव और स्वभावीमें भेद समझा जाता हैं, वास्तवमें भेद नहीं है ।

गुणके पर्यायवाची शब्द—

शक्तिर्लक्षमविशेषो धर्मो रूपं गुणः स्वभावश्च ।
प्रकृतिः शीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥ ४८ ॥

अर्थ—शक्ति, लक्ष्म, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति, शील, आकृति ये सभी शब्द एक अर्थके कहनेवाले हैं । सभी नाम गुणके हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यमें अनन्तगुण-

देशस्यैका शक्तिर्या काचित् सा न शक्तिरन्या स्यात् ।
क्रमतो वितर्क्यमाणा भवन्त्यनन्ताश्च शक्तयो व्यक्ताः ॥४९॥

अर्थ—देशकी कोई भी एक शक्ति, दूसरी शक्तिरूप नहीं होती, इसी प्रकार क्रमसे प्रत्येक शक्तिके विषयमें विचार करनेपर भिन्न २ अनन्त शक्तियां स्पष्ट प्रतीत होती हैं।

भावार्थ—द्रव्यमें अनंत शक्तियां हैं, वे सभी एक दूसरेसे भिन्न हैं। एक शक्ति दूसरी शक्ति रूप कभी नहीं होती।

शक्तियोंकी भिन्नतामें हेतु—

स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्णो युगपद्यथा रसालफले ।
प्रतिनियतेन्द्रियगोचरचारित्वात्ते भवन्त्यनेकेपि ॥ ५० ॥

अर्थ—जिस प्रकार आमके फलमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, चारों ही एक साथ पाये जाते हैं, वे चारों ही गुण भिन्न २ नियत इन्द्रियों द्वारा जाने जाते हैं इसलिये वे भिन्न हैं।

भावार्थ—आमके फलमें जो स्पर्श है उसका ज्ञान स्पर्शन इन्द्रियसे होता है, रसका ज्ञान रसनेन्द्रियसे होता है, गन्धका ज्ञान नासिकासे होता है, रूपका ज्ञान चक्षुसे होता है। भिन्न २ इन्द्रियोंके विषय होनेसे वे चारों ही गुण भिन्न हैं। इसी प्रकार सभी गुणोंके कार्य भी भिन्न २ हैं, इसलिये सभी गुण भिन्न २ हैं।

गुणोंकी भिन्नतामें दृष्टान्त—

तदुदाहरणं चैतज्जीवे यद्दर्शनं गुणश्चैकः ।
तन्न ज्ञानं न सुखं चारित्रं वा न कश्चिदितरश्च ॥ ५१ ॥

अर्थ—सभी गुण पृथक् २ हैं, इस विषयमें यह उदाहरण है—जैसे जीव द्रव्यमें जो एक दर्शन नामा गुण है, वह ज्ञान नहीं होसक्ता, न सुख होसक्ता, न चारित्र होसक्ता अथवा और भी किसी गुण स्वरूप नहीं हो सक्ता, दर्शनगुण सदा दर्शनरूप ही रहेगा।

एवं यः कोपि गुणः सोपि च न स्यात्तदन्यरूपो वा ।
स्वयमुच्छलन्ति तदिमा मिथो विभिन्नाश्च शक्तयोऽनन्ताः ॥५२॥

अर्थ—इसी प्रकार जो कोई भी गुण है वह दूसरे गुण रूप नहीं हो सक्ता इसलिये द्रव्यकी अनन्त शक्तियां परस्पर भिन्नताको लिये हुए भिन्न २ कार्यों द्वारा स्वयं उदित होती रहती हैं।

गुणोंमें अंशविभाग—

तासामन्यतरस्या भवन्त्यनन्ता निरंशका अंशाः ।
तरतमभागविशेषैरंशच्छेदैः प्रतीयमानत्वात् ॥ ५३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—उन शक्तियोंमेंसे प्रत्येक शक्तिके अनन्त अनन्त निरंश (जिसका फिर अंश न हो सके) अंश होते हैं। हीनाधिक विशेष भेदसे उन अंशोंका परिज्ञान होता है।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तः सुगमोऽयं शुक्लं वाससततोपि शुक्लतरम्।
शुक्लतमं च ततः स्यादंशाश्चैते गुणस्य शुक्लस्य ॥ ५४ ॥

अर्थ—एक सफेद कपड़ेका सुगम दृष्टान्त है। कोई कपड़ा कम सफेद होता है, कोई उससे अधिक सफेद होता है और कोई उससे भी अधिक सफेद होता है। ये सब सफेदी के ही भेद हैं। इस प्रकारकी तरतमता (हीनाधिकता) अनेक प्रकार हो सक्ती है, इसलिये शुक्ल गुणके अनेक (अनन्त) अंश कल्पित किये जाते हैं।

दूसरा दृष्टान्त—

अथवा ज्ञानं यावज्जीवस्यैको गुणोप्यखण्डोपि।
सर्वजघन्यनिरंशच्छेदैरिव खण्डितोप्यनेकः स्यात् ॥ ५५ ॥

अर्थ—दूसरा दृष्टान्त जीवके ज्ञान गुणका स्पष्ट है। जीवका ज्ञान गुण यद्यपि एक है और वह अखण्ड भी है तथापि सबसे जघन्य अंशोंके भेदसे खण्डित सरीखा अनेक रूप प्रतीत होता है।

भावार्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवका अक्षरके अनन्तवें भाग जघन्य ज्ञान है, उस ज्ञानमें भी अनन्त अंश (अविभाग प्रतिच्छेद] हैं, उसी निगोदियाकी ऊपरकी उत्तरोत्तर अवस्थाओंमें थोड़ी २ ज्ञानकी वृद्धि होती जाती है। द्वीन्द्रिय आदिक त्रस पर्याय-में और भी वृद्धि होती है, बढ़ते २ उस जीवका ज्ञान गुण इतना विशाल हो जाता है कि चराचर जगतकी प्रतिक्षणमें होनेवाली सभी पर्यायोंको एक साथ ही स्पष्टतासे जानने लगता है। इस प्रकारकी वृद्धिमें सबसे जघन्य वृद्धिको ही एक अंश कहते हैं। उसीका नाम अविभाग प्रतिच्छेद है। विचारशील अनुभव कर सक्ते हैं कि एक ही ज्ञान गुण में जघन्य अवस्थासे लेकर कहां तक वृद्धि होती है। बस यही क्रमसे होनेवाला वृद्धिभेद सिद्ध करता है कि ज्ञान गुणके बहुतसे अंश हैं जो कि हीनाधिक रूपसे प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक गुणके अंश अनन्त २ हैं। इन्हींका नाम अविभाग प्रतिच्छेद है।

गुणोंके अंशोंमें क्रम—

देशच्छेदो हि यथा न तथा छेदो भवेद्गुणांशस्य।
विष्कंभस्य विभागात्स्थूलो देशस्तथा न गुणभागः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार देशके छेद (देशांश) होते हैं, उस प्रकार गुणोंके छेद नहीं होते। देशके छेद विष्कंभ (विस्तार—चौड़ाई) क्रमसे होते हैं और देश एक मोटा पदार्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। गुण इस प्रकारका नहीं है और न उसके छेद ही ऐसे होते हैं किन्तु तरतम रूपसे होते हैं।

भावार्थ—देशके छेद तो भिन्न २ प्रदेश स्वरूप होते हैं परन्तु गुणके छेद सर्व प्रदेशों में व्यापक रहते हैं। वे हीनाधिक रूपसे होते हैं।

गुणोंका छेदक्रम—

क्रमोपदेशश्चायं प्रवाहरूपो गुणः स्वभावेन ।
अर्धच्छेदेन पुनश्छेत्तव्योपि च तदर्धछेदेन ॥ ५७ ॥
एवं भूयो भूयस्तदर्धछेदैस्तदर्धछेदैश्च ।
यावच्छेतुमशक्यो यः कोपि निरंशको गुणांशः स्यात् ॥५८॥
तेन गुणांशेन पुनर्गणिताः सर्वे भवन्त्यनन्तास्ते ।
तेषामात्मा गुण इति नहि ते गुणतः पृथक्त्वसत्ताकाः ॥ ५९ ॥

अर्थ—गुणोंके अंशोंके छेद करनेमें क्रम कथनका उपदेश बतलाते हैं कि गुण स्वभावसे ही प्रवाह रूप है अर्थात् द्रव्य अनन्तगुणात्मक पिण्डके साथ बराबर चला जाता है। द्रव्य अनादि-अनंत है, गुण भी अनादि-अनन्त हैं। द्रव्यके साथ गुणका प्रवाह बराबर चला जाता है। वह गुण उसके अर्धच्छेदोंसे छिन्न भिन्न करने योग्य है अर्थात् उस गुणके आधे आधे छेद करना चाहिये, इसी प्रकार बार बारउ सके अर्धच्छेद करना चाहिये, तथा वहांतक करना चाहिये जहांतककि कोई भी गुणका अंश फिर न छेदा जा सके, और वह निरंश समझा जाय। उन छेदरूप किये हुए गुणोंके अंशोंका जोड़ अनन्त होता है। उन्हीं अंशोंका समूह गुण कहलाता है। गुणोंके अंश, गुणसे भिन्न सत्ता नहीं रखते हैं किन्तु उन अंशोंका समूह ही एक सत्तात्मक गुण कहलाता है।

पर्यायके पर्यायवाचक शब्द—

अपि चांशः पर्यायो भागो हारो विधा प्रकारश्च ।
भेदश्छेदो भंगः शब्दाश्चैकार्थवाचका एते ॥ ६० ॥

अर्थ—अंश, पर्याय, भाग, हार, विध, प्रकार, भेद, छेद, भंग, ये सब शब्द एक अर्थ के वाचक हैं। सबोंका अर्थ पर्याय है।

गुणांश ही गुणपर्याय है—

सन्ति गुणांशा इति ये गुणपर्यायास्त एव नाम्नापि ।
अविरुद्धमेतदेव हि पर्यायाणामिहांशधर्मत्वात् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जितने भी गुणांश हैं वे ही गुणपर्याय कहलाते हैं। यह बात अविरुद्ध सिद्ध है कि अंश स्वरूप ही पर्यायें होती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुण-पर्यायका नामान्तर-

गुणपर्यायाणामिह केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः ।
अर्थो गुण इति वा स्यादेकार्थादर्थपर्यया इति च ॥ ६२ ॥

अर्थ—कितने ही बुद्धिधारी गुणपर्यायोंका दूसरा नाम भी कहते हैं । गुण और अर्थ, ये दोनों ही एक अर्थवाले हैं इसलिये गुण पर्यायको अर्थपर्याय भी कह देते हैं ।

द्रव्य-पर्यायका नामान्तर—

अपि चोद्दिष्टानामिह देशांशैर्द्रव्यपर्ययाणां हि ।
व्यञ्जनपर्याया इति केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः ॥ ६३ ॥

अर्थ—देशांशोंके द्वारा जिन द्रव्यपर्यायोंका ऊपर निरूपण किया जा चुका है, उन द्रव्यपर्यायोंको कितने ही बुद्धिशाली व्यञ्जनपर्याय, इस नामसे पुकारते हैं ।

भावार्थ—प्रदेशवत्व गुणका परिणमन सम्पूर्ण द्रव्यमें होता है, इसलिये उक्त गुणके * परिणमनको द्रव्यपर्याय अथवा व्यञ्जनपर्याय कहते हैं ।

शङ्काकार—

ननु मोघमेतदुक्तं सर्वं पिष्टस्य पेषणन्यायात् ।
एकेनैव कृतं यत् स इति यथा वा तदंश इति वा चेत् ॥६४॥

अर्थ—ऊपर जितना भी कहा गया है, सभी पिष्ट पेषण है अर्थात् पीसे हुएको पीसा गया है । एकके कहनेसे ही काम चल जाता है, यातो द्रव्य ही कहना चाहिये अथवा पर्याय ही कहना चाहिये । द्रव्य और पर्यायको जुदा २ कहना निष्फल है ?

उत्तर—

तन्नैवं फलवत्त्वाद द्रव्यादेशादवस्थितं वस्तु ।
पर्यायादेशादिदमनवस्थितमिति प्रतीतत्त्वात् ॥ ६५ ॥

अर्थ—ऊपर जो शङ्का की गई है वह ठीक नहीं है । द्रव्य और पर्याय दोनोंका ही निरूपण आवश्यक है । द्रव्यकी अपेक्षासे वस्तु नित्य है । पर्यायकी अपेक्षासे वस्तु अनित्य है । इस बातकी प्रतीति दोनोंके कथनसे ही होती है ।

भावार्थ—यदि द्रव्य और पर्याय दोनोंका निरूपण न किया जाय तो वस्तुमें कथंचित् नित्यता और कथंचित् अनित्यताकी सिद्धि न हो सकेगी इसलिये दोनोंका ही निरूपण निष्फल नहीं, किन्तु सफल है ।

---

* प्रदेशवत्त्व गुणके परिणमनको यदि गुणकी दृष्टिसे कहाजाय तो उसे गुणपर्याय भी कह सक्ते हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नित्यता और अनित्यताका दृष्टान्त—

स यथा परिणामात्मा शुक्लादित्वादवस्थितश्च पटः ।
अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य शुक्लस्य ॥ ६६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार शुक्लादि अनन्त गुणोंका समूह वस्त्र अपनी अवस्थाओंको प्रतिक्षण बदलता रहता है । अवस्थाओंके बदलने पर भी शुक्लादिगुणोंका नाश कभी नहीं होता है इसलिये तो वह वस्त्र नित्य है । साथ ही शुक्लादिगुणोंके तरतम रूप अंशोंकी अपेक्षासे अनित्य भी है । क्योंकि एक अंश (पर्याय) दूसरे अंशसे भिन्न है ।

भावार्थ—वस्त्र, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है, और द्रव्य दृष्टिसे नित्य है ।

दूसरा जीवका दृष्टान्त—

अपि चात्मा परिणामी ज्ञानगुणत्वादवस्थितोपि यथा ।
अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य बोधस्य ॥ ६७ ॥

अर्थ—आत्मामें ज्ञान गुण सदा रहता है । यदि ज्ञान गुणका आत्मामें अभाव हो जाय तो उस समय आत्मत्व ही नष्ट हो जाय । इसलिये उस गुणकी अपेक्षासे तो आत्मा नित्य है, परन्तु उस गुणके निमित्तसे आत्माका परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है, कभी ज्ञानगुणके अधिक अंश व्यक्त हो जाते हैं और कभी कम अंश प्रकट हो जाते हैं, उस ज्ञानमें सदा हीनाधिकता (संसारावस्थामें) होती रहती है, इस हीनाधिकताके कारण आत्मा कथंचित् अनित्य भी है ।*

आशंका—

यदि पुनरेवं न भवति भवति निरंशं गुणांशवद्द्रव्यम् ।
यदि वा कीलकवदिदं भवति नैं परिणामि वा भवेत्क्षणिकम् ।
अथचेदिदमाकूतं भवन्त्वनन्ता निरंशका अंशाः ।
तेषामपि परिणामो भवतु समांशो न तरतमांशः स्यात् ॥६९॥

अर्थ—यदि ऊपर कही हुई द्रव्य,, गुण, पर्यायकी व्यवस्था न मानी जाय, और गुणांशकी तरह निरंश द्रव्य माना जाय, अथवा उस निरंश द्रव्यको परिणामी न मानकर कूटस्थ (लोहेका पीटनेका एक मोटा कीला होता है जो कि लुहारोंके यहां गड़ा रहता है) की तरह नित्य माना जाय, अथवा उस द्रव्यको सर्वथा क्षणिक ही माना जाय, अथवा उस द्रव्यके अनन्त निरंश अंश मानकर उन अंशोंका समान रूपसे परिणमन माना जाय, तरतम रूपसे न माना जाय तब क्या दोष होगा ?

* पदार्थोंकी अवस्थाभेदके निमित्तसे मुक्त जीवोंके ज्ञानमें भी परिणमन होता है इसलिये मुक्तात्माओंमें भी कथंचित् अनित्यता सिद्ध होती है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर—

एतत्पक्षचतुष्टयमपि दुष्टं दृष्टबाधितत्वाच्च ।
तत्साधकप्रमाणाभावादिह सोप्यदृष्टान्तात् ॥ ७० ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए चारों ही विकल्प दोष सहित हैं, चारों ही विकल्पोंमें प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधा आती है। तथा न उनका साधक कोई प्रमाण ही है और न उनकी सिद्धिमें कोई दृष्टान्त ही है।

भावार्थ—यदि द्रव्यको गुणांशकी तरह माना जाय तो गुणोंका परिणमन एक देशमें ही होगा। अथवा किसी भी गुणका कार्य सम्पूर्ण वस्तुमें नहीं हो सकेगा। यदि उस द्रव्यको नित्य माना जाय तो उसमें कोई क्रिया नहीं हो सक्ती है। क्रियाके अभावमें पुण्यफल, पाप-फल, बन्ध मोक्षादि व्यवस्था कुछ भी नहीं ठहर सक्ती है। इसी प्रकार सर्वथा क्षणिक माननेमें प्रत्यभिज्ञान (यह वही है जिसको पहिले देखा था आदि ज्ञान) नहीं हो सक्ता, कार्यकारण भाव भी नहीं हो सक्ता, हेतु-फल भाव भी नहीं हो सक्ता, और परस्पर व्यवहार भी नहीं हो सक्ता। *

यदि निरंश अंश मानकर उनका समान परिणमन माना जाय, तरतमरूपसे न माना जाय तो द्रव्य सदा एकसा रहेगा, उसमें अवस्था भेद नहीं हो सकेगा। इसलिये उपर्युक्त चारों ही विकल्प मिथ्या हैं, उनमें अनेक बाधायें आती हैं। अब प्रसंग पाकर यहां द्रव्यका स्वरूप कहा जाता है।

द्रव्य-लक्षण-उपक्रम—

द्रव्यत्वं किन्नाम ÷पृष्टश्चेतीह केनचित् सूरिः ।
प्राह प्रमाणसुनयैरधिगतमिव लक्षणं तस्य ॥ ७१ ॥

अर्थ—किसीने आचार्यसे पूछा कि महाराज! द्रव्य क्या पदार्थ है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उस द्रव्यका प्रमाण और सुनयोंद्वारा अच्छी तरह मनन किया हुआ लक्षण कहने लगे।

---

* यदि नित्यैकान्त और अनित्यैकान्तका विशेष ज्ञान प्राप्त करना हो तो निम्न लिखित कारिकाओंके प्रकरणमें अष्ट सहस्रीको देखना चाहिये।

नित्यत्वैकान्तपक्षेपि विक्रिया नोपपद्यते ।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥ १ ॥
क्षणिकैकान्तपक्षेपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः ।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारंभः कुतः फलम् ॥ २ ॥

÷इसके स्थानमें इह होना और 'पृष्टश्चेतीहके स्थानमें पृष्टश्चेतीव होना विशेष अच्छा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यका लक्षण—

गुणपर्ययवद्द्रव्यं लक्षणमेतत्सुसिद्धमविरुद्धम् ।
गुणपर्ययसमुदायो द्रव्यं पुनरस्य भवति वाक्यार्थः ॥ ७२ ॥

अर्थ—जिसमें गुण पर्याय पाये जांय, वह द्रव्य है । यह द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह सिद्ध है । इस लक्षणमें किसी प्रकारका विरोध नहीं आता है । "गुण पर्याय जिसमें पाये जायं वह द्रव्य है" इस वाक्यका स्पष्ट अर्थ यह है कि गुण और पर्यायोंका समुदाय ही द्रव्य है।

भावार्थ—" गुणपर्ययवद्द्रव्यम् " इस वाक्यमें वतुप् प्रत्यय है । उसका ऐसा अर्थ निकलता है कि गुण, पर्यायवाला द्रव्य है । इस कथनसे कोई यह न समझ लेवें कि गुण पर्याय कोई दूसरे पदार्थ हैं जो कि द्रव्यमें रहते हैं और उन दोनोंका आधार भूत द्रव्य कोई दूसरा पदार्थ है । इस अनर्थ अर्थके समझनेकी आशंकासे आचार्य नीचेके चरणसे स्वयं उस वाक्यका स्पष्ट अर्थ करते हैं कि गुण, पर्यायवाला द्रव्य है अथवा गुणपर्याय जिसमें पाये जायं वह द्रव्य है। इन दोनोंका यही अर्थ है कि गुण पर्यायोंका समूह ही द्रव्य है । यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि अनन्त गुणोंका अखण्ड पिण्ड ही द्रव्य है, और वे गुण प्रतिक्षण अपनी अवस्थाको बदलते रहते हैं इसलिये त्रिकालवर्ती पर्यायोंको लिये हुए जो गुणोंका अखण्ड पिण्ड है वही द्रव्य है । गुण, पर्यायसे पृथक् कोई द्रव्य पदार्थ नहीं है । इसी बातको स्फुट करते हुए किन्ही आचार्योंका कथन प्रकट करते है ।

द्रव्यका लक्षण—

गुण समुदायो द्रव्यं लक्षणमेतावतापि केचिदाहुः ।
समगुणपर्यायो वा द्रव्यं कैश्चिन्निरूप्यते वृद्धैः ॥ ७३ ॥

अर्थ—कोई २ बुद्धिधारी " गुण समुदाय ही द्रव्य है " ऐसा भी द्रव्यका लक्षण कहते हैं । कोई विशेष अनुभवी वृद्ध पुरुष समान रीति (साथ २) से होनेवाली गुणोंकी पर्यायोंको ही द्रव्यका लक्षण बतलाते हैं ।

भावार्थ—पहले श्लोकमें गुण और पर्याय दोनोंको ही द्रव्यका लक्षण बतलाया गया था, परन्तु यहांपर पर्यायोंको गुणोंसे पृथक् पदार्थ न समझकर गुण समुदायको ही द्रव्य कहा गया है । वास्तवमें गुणोंकी अवस्थाविशेष ही पर्यायें हैं । गुणोंसे सर्वथा भिन्न पर्याय कोई पदार्थ नहीं है । इसलिये गुण, पर्यायमें अभेद बुद्धि रखकर गुण समुदाय ही द्रव्य कहा गया हैं । जब गुणोंसे पर्याय भिन्न वस्तु नहीं है किन्तु उन गुणोंकी ही अवस्था विशेष है तब यह बात भी सिद्ध हुई समझना चाहिये कि उन अवस्थाओंका समूह ही गुण है। त्रिकालवर्ती अवस्थाओंके समूहको छोड़कर गुण और कोई पदार्थ नहीं है । यह बात पहले भी स्पष्ट रीतिसे कही जा चुकी है कि गुणोंके अंशोंका नाम ही पर्याय है और उन अंशोंका समूह ही गुण है । जबकि पर्याय समूह ही गुण है तब गुणसमुदायको द्रव्य कहना अथवा पर्यायसमुदायको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य कहना, दोनोंका एक ही अर्थ है । गुणोंसे पर्यायोंको अभिन्न समझकर ही अखण्ड अनन्त गुणोंकी त्रिकालवर्ती पर्यायोंको ही द्रव्य कहा गया है ।

तथा फिर भी इसीका स्पष्ट अर्थ—

अयमत्राभिप्रायो ये देशास्तद्गुणास्तदंशाश्च ।
एकालापेन समं द्रव्यं नाम्ना त एव निःशेषम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका यह अभिप्राय है कि जो देश हैं, उन देशोंमें रहनेवाले जो गुण हैं तथा उन गुणोंके जो अंश हैं उन तीनोंकी ही एक आलाप (एक शब्द द्वारा) से द्रव्य संज्ञा है ।

नहि किञ्चित्सद्द्रव्यं केचित्सन्तो गुणाः प्रदेशाश्च ।
केचित्सन्ति तदंशा द्रव्यं तत्सन्निपाताद्वा ॥ ७५ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि द्रव्य कोई जुदा पदार्थ हो, गुण कोई जुदा पदार्थ हो, प्रदेश जुदा पदार्थ हो, उनके अंश कोई जुदा पदार्थ हो, और उन सबके मिलापसे द्रव्य कहलाता हो ।

तथा ऐसा भी नहीं है—

अथवापि यथा भित्तौ चित्रं द्रव्ये तथा प्रदेशाश्च ।
सन्ति गुणाश्च तदंशाः समवायित्वात्तदाश्रयाद्द्रव्यम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—अथवा ऐसा भी नहीं है कि जिस प्रकार भित्तिमें चित्र खिचा रहता है अर्थात् जैसे भीतिमें चित्र होता है वह भित्तिमें रहता है परन्तु भित्तिसे जुदा पदार्थ है उसी प्रकार द्रव्यमें प्रदेश, गुण, अंश रहते हैं और समवाय* सम्बन्धसे उनका आश्रय द्रव्य है।

भावार्थ—ऐसा नहीं है कि देश, देशांश, गुण, गुणांश चारों ही जुदे २ पदार्थ हों, और उनका समूह द्रव्य कहलाता हो, किन्तु चारों ही अखण्ड रूपसे द्रव्य कहलाते हैं । भेद विवक्षासे ही चार जुदी २ संज्ञायें कहलाती हैं, अभेद विवक्षासे चारों ही अभिन्न हैं औ उसी चारोंकी अभिन्नताको द्रव्य कहते हैं ।

उदाहरण—

इदमस्ति यथा मूलं स्कन्धः शाखा दलानि पुष्पाणि ।
गुच्छाः फलानि सर्वाण्येकालापात्तदात्मको वृक्षः ॥ ७७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जड़, स्कन्ध (पीड़) शाखा, पत्ते, पुष्प, गुच्छा, फल, सभीको मिलाकर एक आलाप (एक शब्द) से वृक्ष कहते हैं । वृक्ष जड़, स्कन्ध, शाखा आदिसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है किन्तु इनका समुदाय ही वृक्ष कहलाता है, अथवा वृक्षको छोड़कर

* भिन्न २ पदार्थोंके घनिष्ट नित्य सम्बन्धको समवाय सम्बन्ध कहते हैं। गुण, गुणीको भिन्न मानकर उनका नित्य सम्बन्ध नैयायिक दर्शन मानता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शाखादिक भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार देश, देशांश, गुण, गुणांशका समूह ही द्रव्य है। द्रव्यसे भिन्न न तो देशादिक ही हैं, और देशादिसे भिन्न न द्रव्य ही है।

कारक और आधाराधेयकी अभिन्नता—

यद्यपि भिन्नोऽभिन्नो दृष्टान्तः कारकश्च भवतीह।
ग्राह्यस्तथाप्यभिन्नो साध्ये चास्मिन् गुणात्मके द्रव्ये ॥ ७८ ॥

अर्थ—यद्यपि दृष्टान्त और कारक भिन्न भी होते हैं और अभिन्न भी होते हैं। यहां गुण समुदायरूप द्रव्यकी सिद्धिमें अभिन्न दृष्टान्त और अभिन्न ही कारक ग्रहण करना चाहिये। खुलासा आगे किया जाता है।

दोनोंकी भिन्नतामें दृष्टान्त—

भिन्नोप्यथ दृष्टान्तो भित्तौ चित्रं यथा दधीह घटे।
भिन्नः कारक इति वा कश्चिद्धनवान् धनस्य योगेन ॥ ७९ ॥

अर्थ—आधाराधेयकी भिन्नताका दृष्टान्त इस प्रकार है कि जैसे भित्तिमें चित्र होता है अथवा घडेमें दही रक्खा है। भित्ति भिन्न पदार्थ है और उसपर खिचा हुआ चित्र दूसरा पदार्थ है। इसी प्रकार घट दूसरा पदार्थ है और उसमें रक्खा हुआ दही दूसरा पदार्थ है, इसलिये ये दोनों ही दृष्टान्त आधाराधेयकी भिन्नतामें है। भिन्न कारकका दृष्टान्त इस प्रकार है—जैसे कोई आदमी धनके निमित्तसे धनवाला कहलाता है। यहांपर धन दूसरा पदार्थ है और पुरुष दूसरा पदार्थ है। धन और पुरुषका स्व-स्वामि सम्बन्ध कहलाता है। यह स्व-स्वामि सम्बन्ध भिन्नताका है।

भावार्थ—जिस प्रकार धनवान् पुरुष, यह भिन्नतामें स्व स्वामि सम्बन्ध है उस प्रकार गुण-पर्यायवान् द्रव्य, यह सम्बन्ध नहीं है अथवा जैसा आधाराधेय भाव भित्ति और चित्रमें है वैसा गुण द्रव्यमें नहीं है किन्तु कारक और आधाराधेय दोनों ही अभिन्न हैं।

दोनोंकी अभिन्नतामें दृष्टान्त—

दृष्टान्तश्चाभिन्नो वृक्षे शाखा यथा गृहे स्तम्भः।
अपि चाभिन्नः कारक इति वृक्षोऽयं यथा हि शाखावान् ॥८०॥

अर्थ—आधार-आधेयकी अभिन्नतामें दृष्टान्त इस प्रकार है, जैसे वृक्षमें शाखा अथवा घरमें खम्भा। कारककी अभिन्नतामें दृष्टान्त इस प्रकार है जैसे—यह वृक्ष शाखावाला है।

भावार्थ—यहांपर वृक्ष और शाखा तथा घर और खंभा दोनों ही अभिन्नताके दृष्टान्त हैं। वृक्षसे शाखा जुदा पदार्थ नहीं है। और घरसे खंभा जुदा पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार "वृक्ष शाखावान् है" यह स्वस्वामि सम्बन्ध भी अभिन्नताका है। इन्ही अभिन्न आधार-आधेय और अभिन्नकारकके समान गुण, पर्याय, और द्रव्यको समझना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शङ्काकार ।

समवायः समवायी यदि वा स्यात्सर्वथा तदेकार्थः ।
समुदायो वक्तव्यो न चापि समवायवानिति चेत् ॥ ८१ ॥

अर्थ—समवाय और समवायी अर्थात् गुण और द्रव्य दोनों ही सर्वथा एकार्थक हैं, ऐसी अवस्थामें गुण समुदाय ही कहना चाहिये । द्रव्यके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ?

उत्तर—

तन्न यतः समुदायो नियतं समुदायिनः प्रतीतत्त्वात् ।
व्यक्तप्रमाणसाधितसिद्धत्वाद्वा सुसिद्धदृष्टान्तात् ॥ ८२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि समुदाय नियमसे समुदायीका होता है। यह बात प्रसिद्ध प्रमाणसे सिद्ध की हुई है और प्रसिद्धदृष्टान्तसे भी यह बात सिद्ध होती है।

भावार्थ—यद्यपि * सीकोंका समूह ही सोहनी (झाडू) है। तथापि सीकोंके समुदायसे ही घरका कूड़ा दूर किया जाता है, सीकोंसे नहीं इसलिये समुदाय और समुदायी कथञ्चित् भिन्न भी हैं और कथञ्चित् अभिन्न भी हैं।

खुलासा—

स्पर्शरसगन्धवर्णा लक्षणभिन्ना यथा रसालफले ।
कथमपि हि पृथक्कर्तुं न तथा शक्यास्त्वखण्डदेशत्वात् ॥८३॥

अर्थ—यद्यपि आमके फलमें स्पर्श, रस, गंध और रूप भिन्न २ हैं क्योंकि इनके लक्षण भिन्न २ हैं तथापि सभी अखण्डरूपसे एकरूप हैं किसी प्रकार जुदे २ नहीं किये जा सकते।

भावार्थ—स्पर्शका ज्ञान स्पर्शनेन्द्रियसे होता है, रसका ज्ञान रसना-इन्द्रियसे होता हैं, गन्धका नासिकासे होता है और रूपका चक्षुसे होता है इसलिये ये चारों ही भिन्न २ लक्षणवाले हैं, परन्तु चारोंका ही तादात्म्य सम्बन्ध है, कभी भी जुदे २ नहीं हो सकते हैं। इसलिये लक्षण भेदसे भिन्न हैं, समुदाय रूपसे अभिन्न हैं, अतएव गुण और गुणीमें कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद स्पष्टतासे सिद्ध होता है।

सारांश—

अत एव यथा वाच्या देशगुणांशाश्च विशेषरूपत्वात् ।
वक्तव्यं च तथा स्यादेकं द्रव्यं त एव सामान्यात् ॥८४॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध हो चुकी कि विशेष कथनकी अपेक्षासे देश, गुण, पर्याय सभी जुदे २ हैं। और सामान्य कथनकी अपेक्षासे वे ही सब द्रव्य कहलाते हैं।

* सीकोंका दृष्टान्त स्थूल दृष्टांत है। केवल समुदायांशमें ही इसे घटित करना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष लक्षण कहनेकी प्रतिज्ञा—

अथ चैतदेव लक्षणमेकं वाक्यान्तरप्रवेशेन ।
निष्प्रतिघप्रतिपत्त्यै विशेषतो लक्षयन्ति बुधाः ॥ ८५ ॥

अर्थ—" गुण पर्ययवद्द्रव्यम् " इसी एक लक्षणको निर्बाध प्रतीतिके लिये वाक्यान्तर (दूसरी रीतिसे) द्वारा विशेष रीतिसे भी बुद्धिमान कहते हैं ।

भावार्थ—अब द्रव्यका दूसरा लक्षण कहते हैं परन्तु वह दूसरा लक्षण उपर्युक्त (गुणपर्ययवद्द्रव्य) लक्षणसे भिन्न नहीं है किन्तु उसीका विशद है ।

द्रव्यका लक्षण—

उत्पादस्थितिभंगैर्युक्तं सद्द्रव्यलक्षणं हि यथा ।
एतैरेव समस्तैः पृक्तं सिद्धेत्समं न तु व्यस्तैः ॥ ८६ ॥

अर्थ—पहले जो द्रव्यका लक्षण 'सत्' कहा गया है वह सत् उत्पाद, स्थिति, भंग, इन तीनोंसे सहित ही द्रव्यका लक्षण हैं । इतना विशेष है कि इन तीनोंका साहित्य भिन्न २ कालमें नहीं होता है, किन्तु एक ही कालमें होता है ।

भावार्थ—एक कालमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, तीनों अवस्थाओंको लिये हुए सत् ही द्रव्यका लक्षण है ।

उसीका स्पष्टार्थ—

***अयमर्थः प्रकृतार्थो ध्रौव्योत्पादव्ययास्त्रयश्चांशाः ।**
नाम्ना सदिति गुणः स्यादेकोऽनेके त एकशः प्रोक्ताः ॥८७॥

अर्थ—इस प्रकरणका यह अर्थ है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, ये तीनों ही अंश, एक सत् गुणके हैं इसलिये इन तीनोंको ही समुदाय रूपसे सन्मात्र कह देते हैं और क्रमसे वे तीनों ही जुदे २ अनेक हैं ।

भावार्थ—द्रव्यमें एक अस्तित्व नामक गुण है, उसीको सत्ता भी कहते हैं । वह सत् गुण ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है इसलिये प्रत्येककी अपेक्षासे तीनों जुदे २ हैं, परन्तु समुदायकी अपेक्षासे केवल सत्गुण स्वरूप हैं ।

सत् गुण भी है और द्रव्य भी है ।

लक्ष्यस्य लक्षणस्य च भेदविवक्षाश्रयात्सदेव गुणः ।
द्रव्यार्थादेशादिह तदेव सदिति स्वयं द्रव्यम् ॥ ८८ ॥

---

* इस श्लोकद्वारा तत्त्वार्थसूत्रके " सद्द्रव्यलक्षणं " और " उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् " इन्हीं दो सूत्रोंका आशय प्रगट किया गया है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—लक्ष्य और लक्षणकी भेद विवक्षासे तो सत् गुण ही है परन्तु द्रव्यार्थिक दृष्टिसे वही सत् स्वयं द्रव्य स्वरूप है ।

भावार्थ—वस्तुमें अनन्त गुण हैं। उन गुणोंमेंसे प्रत्येकको *चालनी न्यायसे यदि द्रव्यका लक्ष्य माना जावे तो उस अवस्थामें द्रव्य लक्ष्य ठहरेगा, और गुण उसका लक्षण ठहरेगा। लक्ष्य लक्षणकी अपेक्षासे ही गुण गुणीमें कथंचित् भेद है। इसी दृष्टिसे सत्ता और द्रव्यमें कथंचित् भेद है, परन्तु भेद विकल्प बुद्धिको हटाकर केवल द्रव्यार्थिक दृष्टिसे सत्ता और द्रव्य दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है, जो द्रव्य है सो ही सत्ता है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि सम्पूर्ण गुणोंमें अभिन्नता होनेसे किसी एक गुणके द्वारा समग्र वस्तुका ग्रहण हो जाता है इस ÷कथनसे सत्ता कहनेसे भी द्रव्यका ही बोध होता है और द्रव्यत्त्व कहनेसे भी द्रव्यका ही बोध होता है। वस्तुत्त्व कहनेसे भी द्रव्य (वस्तु) का ही बोध होता है। नय दृष्टिसे सत्ता, द्रव्यत्त्व और वस्तुत्त्वके कहनेसे केवल उन्ही गुणोंका ग्रहण होता है। अभेद बुद्धि रखनेसे उत्पाद व्यय, ध्रौव्य ये तीनों अवस्थायें द्रव्यकी कहलाती हैं इसलिये द्रव्य ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है ।

वस्त्वस्ति स्वतःसिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि ।
तस्मादुत्पादस्थितिभंगमयं तत् सदेतदिह नियमात् ॥ ८९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार वस्तु अनादिनिधन स्वतः सिद्ध अविनाशी है उसी प्रकार परिणामी भी है इसलिये उत्पाद, स्थिति, भंग स्वरूप नियमसे सत् (द्रव्य) है ।

भावार्थ—वस्तु कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है। द्रव्य दृष्टिसे नित्य है। उत्पादादि पर्याय दृष्टिसे अनित्य है ।

वस्तुको परिणामी न माननेमें दोष—

नहि पुनरुत्पादस्थितिभंगमयं तद्विनापि परिणामात् ।
असतो जन्मत्त्वादिह सतो विनाशस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ९० ॥

अर्थ—यदि विना परिणामके ही वस्तुको उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप माना जाय तो असत्की उत्पत्ति और सत्का विनाश अवश्यंभावी होगा ।

भावार्थ—वस्तुको परिणमनशील मानकर यदि उत्पादि त्रय माने जावें तब तो वस्तुमें नित्यता कायम रहती है। यदि उसे परिणमनशील न मानकर उसमें उत्पादादि माना जावे तो

*आटा छनते हुए क्रमसे चलनीके सम्पूर्ण छिद्रोंसे निकलता है इसीको 'चालनी न्याय' कहते हैं ।

÷ यही कथन प्रमाण कथन कहलाता है। प्रमाण लक्षण इस प्रकार है—'एक गुण-मुखेनाऽशेषवस्तुकथनमिति'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु सर्वथा अनित्य ठहर जायगी, तथा फिर नवीन वस्तुका उत्पाद होगा, और जो है उसका नाश हो जायगा । परंतु यह व्यवस्था *प्रमाण वाधित है इसलिये वस्तुको परिणामी मानना चाहिये । फिर किसी परिणामसे वस्तु उत्पन्न होगी, किसीसे नष्ट भी होगी और किसीसे स्थिर भी रहेगी । इसी बातको आगे स्पष्ट करते हैं—

द्रव्यं ततः कथञ्चित्केनचिदुत्पद्यते हि भावेन ।
व्येति तदन्येन पुनर्नैतद्द्वितयं हि वस्तुतया ॥९१॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे द्रव्य परिणामी सिद्ध हो चुका इस लिये वह किसी अवस्थासे कथंचित् उत्पन्न भी होता है, किसी दूसरी अवस्थासे कथंचित् नष्ट भी होता है । वस्तु स्थितिसे उत्पत्ति और नाश, दोनों ही वस्तुमें नहीं होते ।

भावार्थ—किसी परिणामसे वस्तुमें ध्रौव्य (कथंचित् नित्यता) भी रहता है ।

उत्पादादि त्रयके उदाहरण--

इह घटरूपेण यथा प्रादुर्भवतीति पिण्डरूपेण ।
व्येति तथा युगपत्स्यादेतद्द्वितयं न मृत्तिकात्वेन ॥९२॥

अर्थ—वस्तु घटरूपसे उत्पन्न होती है, पिण्ड रूपसे नष्ट होती है, मृत्तिका रूपसे स्थिर है । ये तीनों ही अवस्थायें एक ही कालमें होती हैं परन्तु एक रूप नहीं है ।

शङ्काकार ।

ननु ते विकल्पमात्रमिह यदकिञ्चित्करं तदेवेति ।
एतावतापि न गुणो हानिर्वा तद्विना यतस्त्विति चेत् ॥९३॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि यह सब तुम्हारी कल्पना मात्र है और वह व्यर्थ है। उत्पादादि त्रयके माननेसे न तो कोई गुण ही है और इसके न माननेसे कोई हानि भी नहीं दीखती ?

उत्तर—

तन्न यतो हि गुणः स्यादुत्पादादित्रयात्मके द्रव्ये ।
तन्निन्हवे च न गुणः सर्वद्रव्यादिशून्यदोषत्वात् ॥९४॥

अर्थ—शङ्काकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि उत्पादादि त्रय स्वरूप वस्तुको माननेसे ही लाभ है उसके न माननेमें कोई लाभ नहीं है, प्रत्युत द्रव्य, परलोक कार्य कारण आदि पदार्थोंकी शून्यताका प्रसंग आनेसे हानि है ।

---

* ऐसा माननेसे जो दोष आते हैं, उनका कथन पहले किया जा चुका है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणाम नहीं माननेमें दोष–

परिणामाभावादपि द्रव्यस्य स्यादनन्यथावृत्तिः ।
तस्यामिह परलोको न स्यात्कारणमथापि कार्यं वा ॥९५॥

अर्थ—परिणामके न माननेसे द्रव्य सदा एकसा ही रहेगा । उस अवस्थामें परलोक कार्य, कारण आदि कोई भी नहीं ठहर सक्ता ।

भावार्थ—दृष्टान्तके लिये जीव द्रव्यको ही ले लीजिये । यदि जीव द्रव्यमें परिणमन न माना जाय, उसको सदा एक सरीखा ही माना जाय, तो पुण्य पापका कुछ भी फल नहीं हो सकता है, अथवा मोक्षके लिये सब प्रयत्न व्यर्थ हैं । इसी प्रकार अवस्थाभेदके न माननेमें कार्य, कारणभाव आदि व्यवस्था भी नहीं बन सकती है ।

परिणामीके न माननेमें दोष–

परिणामिनोप्यभावत् क्षणिकं परिणाममात्रमिति वस्तु ।
तन्न यतोऽभिज्ञानान्नित्यस्याप्यात्मनः प्रतीतित्वात् ॥९६॥

अर्थ—यदि परिणामीको न माना जाय तो वस्तु क्षणिक–केवल परिणाम मात्र ठहर जायगी और यह बात बनती नहीं, क्योंकि ×प्रत्यभिज्ञान द्वारा आत्माकी कथञ्चित् नित्य रूपसे भी प्रतीति होती है ।

भावार्थ—विना कथंचित् नित्यता स्वीकार किये आत्मामें यह वही जीव है, ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता । इसलिये दोनों श्लोकोका फलितार्थ यह निकला कि वस्तु अपनी वस्तुताको कभी नहीं छोड़ती इसलिये तो वह नित्य है और वह सदा नई २ अवस्थाओंको बदलती रहती है इसलिये अनित्य भी हैं । वह न तो सर्वथा नित्य ही है और न सर्वथा अनित्य ही है जैसा कि सांख्य बौद्ध मानते हैं ।

शङ्काकार–

गुणपर्ययवद्द्रव्यं लक्षणमेकं यदुक्तमिह पूर्वम् ।
वाक्यान्तरोपदेशादधुना तद्बाध्यते त्विति चेत् ॥९७॥

अर्थ–पहले द्रव्यका लक्षण " गुणपर्ययवद्द्रव्यं " यह कहा गया है और अब वाक्या-

× " दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् " अर्थात् जिस पदार्थको पहिले कभी देखा जाय, फिर भी कभी उसीको अथवा उसके सम या विषमको देखा जाय तो वहां वर्तमानमें प्रत्यक्ष और पहिलेका स्मरण, दोनों एक साथ होनेसे यह वही है अथवा उसके समान है, आदि ज्ञान होता है । इसीको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । विना कथञ्चित् नित्यता स्वीकार किये ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्तरके द्वारा " सद्द्रव्य लक्षणं " यह कहा जाता है । तथा सत्को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त बतलाया जाता है । इसलिये उस लक्षणमें इस लक्षणसे बाधा आती है ?

उत्तर—

तन्न यतः सुविचारादेकोर्थो वाक्ययोर्द्वयोरेव ।
अन्यतरं स्यादितिचेन्न मिथोभिव्यञ्जकत्वाद्वा ॥९८॥

अर्थ—दोनों लक्षणोंमें विरोध बतलाना ठीक नहीं है क्योंकि अच्छी तरह बिचार करनेसे दोनों वाक्योंका एक ही अर्थ प्रतीत होता है । फिर भी शंकाकार कहता है कि जब दोनों लक्षणोंका एक ही अर्थ है तो फिर दोनोंके कहनेकी क्या आवश्यकता है, दोनोंमेंसे कोई सा एक कह दिया जाय ? आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा भी नहीं हैं कि दोनोंमेंसे एक ही कहा जाय, किन्तु दोनोंही मिलकर अभिव्यञ्जक (वस्तुप्रदर्शक) हैं ।

खुलासा—

तद्दर्शनं यथा किल नित्यत्वस्य च गुणस्य व्याप्तिः स्यात् ।
गुणवद्द्रव्यं च स्यादित्युक्ते ध्रौव्यवत्पुनः सिद्धम् ॥९९॥

अर्थ—दोनों लक्षणोंके विषयमें खुलासा इस प्रकार है कि नित्यता और गुणकी व्याप्ति है अर्थात् गुण कहनेसे नित्यपनेका बोध होता है इसलिये " गुणवान् द्रव्य है " ऐसा कहनेसे ध्रौव्यवान् द्रव्य सिद्ध होता है ।

भावार्थ—कथंचित् नित्यको ध्रौव्य कहते हैं । गुणोंसे कथंचित् नित्यता सिद्ध करने के लिये ही द्रव्यको ध्रौव्यवान् कहा है ।

विशेष—

अपि च गुणाः सँलक्ष्यास्तेषामिह लक्षणं भवेत् ध्रौव्यम् ।
तस्माल्लक्ष्यं साध्यं लक्षणमिह साधनं प्रसङ्गत्वात् ॥१००॥

अर्थ—दूसरे शब्दोंमें यह कहा जाता है कि गुण लक्ष्य हैं, ध्रौव्य उनका लक्षण है इसलिये यहां पर लक्ष्यको साध्य बनाया जाता है और लक्षणको साधन बनाया जाता है ।

भावार्थ—गुणोंका ध्रौव्य लक्षण करनेसे गुणोंमें कथंचित् नित्यता भली भांति सिद्ध हो जाती है ।

पर्यायकी अनित्यताके साथ व्याप्ति है—

पर्यायाणामिह किल भङ्गोत्पादद्वयस्य वा व्याप्तिः ।
इत्युक्ते पर्ययवद्द्रव्यं सृष्टिव्ययात्मकं वा स्यात् ॥१०१॥

अर्थ—पर्यायोंकी नियमसे उत्पाद और व्ययके साथ व्याप्ति है अर्थात् पर्यायके कहनेसे उत्पत्ति और विनाशका बोध होता है । इस लिये "पर्यायवाला द्रव्य है" ऐसा कहनेसे उत्पाद व्ययवाला द्रव्य सिद्ध होता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ—वस्तुमें होनेवाले अवस्थाभेदको उत्पाद, व्यय कहते हैं, अवस्था नाम पर्यायका है, पर्यायोंमें कथंचित् अनित्यता सिद्ध करनेके लिये ही द्रव्यको उत्पाद व्ययवान् कहा है।

द्रव्यस्थानीया इति पर्यायाः स्युः स्वभाववन्तश्च ।
तेषां लक्षणमिव वा स्वभाव इव वा पुनर्व्ययोत्पादम् ॥१०२॥

अर्थ—उक्त कथनसे पर्यायोंमें दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि वे द्रव्यस्थानीय हैं—द्रव्यमें ही उत्पन्न होती हैं या रहती हैं—पर्यायें द्रव्यसे भिन्न नहीं हैं। दूसरी बात यह कि वे स्वभाववान् हैं[1]। जब पर्यायें द्रव्यस्थानीय तथा स्वभाववान् हैं तो उनका लक्षण और स्वभाव बताना भी आवश्यक है। अतएव यदि कोई यह जानना चाहे कि उनका लक्षण और स्वभाव क्या है ? तो उसको यही समझना चाहिये कि व्यय और उत्पाद ये दोनों ही ऐसे हैं कि जिनको पर्यायोंके लक्षणकी तरहसे भी कह सकते हैं या स्वभावकी तरहसे भी कह सकते हैं। तात्पर्य यह कि उत्पादव्यय और पर्यायमें लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध अथवा स्वभावस्वभाववत्सम्बन्ध है। तथा पर्यायें द्रव्यस्थानीय हैं। अतएव पर्ययवद्द्रव्यं यह द्रव्यका लक्षण 'उत्पादव्ययवद्द्रव्यं इस द्रव्यके लक्षणका अभिव्यंजक होता है क्योंकि द्रव्यके दोनों लक्षणोंमें अभिव्यङ्ग्याभिव्यंजक भाव तथा साध्यसाधन भाव है। जैसा कि पहले गुणकी अपेक्षासे कहा जा चुका है।

गुण निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा—

अथ च गुणत्वं किमहो सूक्तः केनापि जन्मिना सूरिः ।
प्रोचे सोदाहरणं लक्षितमिव लक्षणं गुणानां हि ॥ १०३ ॥

अर्थ—गुण क्या पदार्थ है ? यह प्रश्न किसी पुरुषने आचार्यसे पूंछा, तब आचार्य उदाहरण सहित गुणोंका सुलक्षित लक्षण कहने लगे।

गुणका लक्षण—

***द्रव्याश्रया गुणाःस्युर्विशेषमात्रास्तु निर्विशेषाश्च ।**
करतलगतं यदेतैर्व्यक्तमिवालक्ष्यते वस्तु ॥ १०४

अर्थ—द्रव्यके आश्रय रहनेवाले, विशेष रहित जो विशेष हैं वे ही गुण कहलाते हैं। उन्हीं गुणोंके द्वारा हाथमें रक्खे हुए पदार्थकी तरह वस्तु स्पष्ट प्रतीत होती है।

भावार्थ—गुण सदा द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं परन्तु इनका आश्रय-आश्रयीभाव ऐसा

---

१ पर्यायें द्रव्यस्थानीय हैं इसीलिये स्वभाववान् हैं ऐसा भी कहा जा सकता है।

* " द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः " तत्वार्थसूत्रके इस सूत्रका आशय इस श्लोक द्वारा प्रकट किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है जैसा कि चौकीपर रक्खी हुई पुस्तकोंका चौकीके साथ होता है किन्तु ऐसा है जैसा कि ÷तन्तु और कपड़ेका अथवा पुस्तक और अक्षरोंका होता है। यद्यपि कपड़ा तन्तुओंसे भिन्न नहीं है तथापि वह तन्तुओंका आधेय समझा जाता है। इसी प्रकार पुस्तक अक्षरोंसे भिन्न नहीं है तथापि वह अक्षरोंका आधार समझी जाती है, इसी प्रकार गुण और द्रव्यका आधार-आधेयभाव है। गुण और विशेष ये दोनों ही एकार्थ वाचक हैं, गुणोंमें गुण नहीं रहते हैं। यदि गुणोंमें भी गुण रह जांय तो वे भी द्रव्य ठहरेंगे और अनवस्था दोष भी आवेगा इसलिये जो ÷द्रव्यके आश्रय रहनेवाले हों और निर्गुण हों वे गुण कहलाते हैं।

खुलासा—

अयमर्थो विदितार्थः समप्रदेशाः समं विशेषा ये।
ते ज्ञानेन विभक्ताः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥ १०५ ॥

अर्थ—गुण, द्रव्यके आश्रय रहते हैं, इसका खुलासा यह है कि एक गुणका जो प्रदेश है वही प्रदेश सभी गुणोंका है इसलिये सभी गुणोंके समान प्रदेश हैं उन प्रदेशोंमें रहनेवाले गुणोंका जब बुद्धिपूर्वक विभाग किया जाता है तब श्रेणीवार क्रमसे अनन्त गुण प्रतीत होते हैं अर्थात् बुद्धिसे विभाग करनेपर द्रव्यके सभी प्रदेश गुणरूप ही दीखते हैं। गुणोंके अतिरिक्त स्वतन्त्र आधाररूप प्रदेश कोई भिन्न पदार्थ नहीं प्रतीत होता है।

उदाहरण —

दृष्टान्तः शुक्लाद्या यथा हि समतन्तवः समं सन्ति।
बुध्या विभज्यमानाः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥ १०६ ॥

अर्थ—समान तन्तुवाले सभी शुक्लादिक गुण समान है उन शुक्लादिक गुणोंका बुद्धिसे विभाग किया जाय तो क्रमसे श्रेणीवार अनन्त गुण ही प्रतीत होंगे।

गुणोंका नित्याऽनित्य विचार—

नित्यानित्यविचारस्तेषामिह विद्यते ततः प्रायः।
विप्रतिपत्तौ सत्यां विवदन्ते वादिनो यतो बहवः ॥ १०७ ॥

÷ तन्तु और कपड़ेका दृष्टान्त भी स्थूल है ग्राह्यांशमें ही घटित करना चाहिये।

÷ द्रव्यके आश्रय पर्याय भी रहती है और वह निर्गुण भी है इसलिये गुणोंका लक्षण पर्यायमें घटित होनेसे अतिव्याप्ति नामक दोष आता है। लक्षण अपने लक्ष्यमें रहता हुआ यदि दूसरे पदार्थमें भी रह जाय, उसीको अतिव्याप्ति कहते हैं, इस दोषको हटानेके लिये गुणोंके लक्षणमें 'द्रव्याश्रय' का अर्थ यह करना चाहिये कि जो नित्यतासे द्रव्यके आश्रय रहें वे गुण हैं, ऐसा कहनेसे पर्यायमें लक्षण नहीं जा सकता, क्योंकि पर्याय अनित्य है इसीलिये गुणोंको सहभावी और पर्यायोंको क्रमभावी बतलाया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ–गुणोंके विषयमें बहुतसे वादियोंका विवाद होता है–कोई गुणोंको सर्वथा नित्य बतलाते हैं, और कोई सर्वथा अनित्य बतलाते हैं। इसलिये आवश्यक प्रतीत होता है कि गुणोंके विषयमें नित्यता और अनित्यताका विचार किया जाय।

जैन सिद्धान्त—

जैनानामतमेतन्नित्यानित्यात्मकं यथा द्रव्यम् ।
ज्ञेयास्तथा गुणा अपि नित्यानित्यात्मकास्तदेकत्वात् ॥१०८॥

अर्थ–जैनियोंका तो ऐसा सिद्धान्त है कि जिस प्रकार द्रव्य कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है, उसी प्रकार गुण भी कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य हैं क्योंकि द्रव्यसे सर्वथा भिन्न गुण नहीं हैं।

गुणोंकी नित्यताका विचार—

तत्रोदाहरणमिदं तद्भावाऽव्ययाद्गुणा नित्याः ।
तदभिज्ञानात्सिद्धं तल्लक्षणमिह यथा तदेवेदम् ॥१०९॥

अर्थ–नित्यका यह लक्षण है कि जिसके *स्व-भावका नाश न हो। यह लक्षण गुणोंमें पाया जाता है इसलिये गुण नित्य हैं, गुणोंके स्व-भावका नाश नहीं होता है। यह गुणोंका लक्षण "यह वही है" ऐसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान द्वारा सिद्ध होता है अर्थात् गुणोंमें यह वही गुण है, ऐसी प्रतीति होती है और यही प्रतीति उनमें नित्यताको सिद्ध करती है।

गुणोंकी नित्यतामें उदाहरण–

ज्ञानं परणामि यथा घटस्य चाकारतः पटाकृत्या ।
किं ज्ञानत्वं नष्टं न नष्टमथ चेत्कथं न नित्यं स्यात् ॥११०॥

अर्थ–आत्माका ज्ञान गुण परिणमनशील है। कभी वह घटके ÷आकार होता है तो कभी पटके आकार हो जाता है। घटाकारसे पटाकार होते समय उसमें क्या ज्ञान गुण नष्ट हो जाता है? नहीं, ज्ञान नष्ट नहीं होता, केवल अवस्थाभेद हो जाता है, वह पहले घटको जानता था अब पटको जानने लगा है इतना ही भेद हुआ है। जानना दोनों अवस्थाओंमें

---

* तत्त्वार्थसूत्रके "तद्भावाव्ययं नित्यम्" इस सूत्रका आशय है।

÷ घटाकार और पटाकारका घटज्ञान और पटज्ञानसे प्रयोजन है। ज्ञानगुणका यह स्वभाव है कि वह जिस पदार्थको जानता है उसके आकार हो जाता है इसी लिये ज्ञानको दर्पणकी तुलना दी गई है, दर्पणमें भी जिस पदार्थका प्रतिबिम्ब पड़ता है, दर्पण उस पदार्थके आकार होजाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बराबर है इस लिये ज्ञानका कभी नाश नहीं § होता है। जब ज्ञानका कभी नाश नहीं होत, यह बात सुप्रतीत है, तो वह नित्य क्यों नहीं है? अवश्य है।

गुणोंकी नित्यतामें ही दूसरा दृष्टान्त—

दृष्टान्तः किल वर्णो गुणो यथा परिणमन् रसालफले।
हरितात्पीतस्तत्किं वर्णत्वं नष्टमिति नित्यम् ॥ १११ ॥

अर्थ—जिस प्रकार आमके फलमें रूप गुण बदलता रहता है, आमकी कच्ची अवस्थामें हरा रंग रहता है, पकनेपर उसमें पीला रंग हो जाता है, हरेसे पीला होनेपर क्या उसका रूप (रंग) नष्ट हो जाता है? यदि नहीं नष्ट होता है तो क्यों नहीं रूप गुणको नित्य माना जावे? अवश्य मानना चाहिये।

भावार्थ—हरे रंगसे पीला रंग होनेमें केवल रंगकी अवस्थामें भेद हो जाता है। रंग दोनों ही अवस्थामें है इस लिये रंग सदा रहता है वह चाहे कभी हरा हो जाय, कभी पीला हो जाय, कभी लाल हो जाय, रंग सभी अवस्थाओंमें है इस लिये रंग (रूप) गुण नित्य है, यह दृष्टान्त अजीवका है, पहला जीवका था।

गुणोंकी अनित्यताका विचार—

वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि।
तस्मादुत्पादव्ययद्वयमपि भवति हि गुणानां तु ॥ ११२ ॥

---

§ यहांपर कोई ऐसी शंका करसक्ता है कि जीवात्माओंमें ज्ञान बराबर घटता हुआ प्रतीत होता है सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकमें घटते २ अक्षरके अनन्तवें भाग प्रमाण रह जाता है तो इससे सिद्ध होता है कि किसी जीवमें ज्ञानका सर्वथा ही अभाव हो जाता हो। यद्यपि स्थूल दृष्टिसे इस शंकाकी संभावना ठीक है, तथापि तत्त्व दृष्टिसे विचार करनेपर उक्त शंका निर्मूल हो जाती है। किसी भी पदार्थमें कमी की संभावना वहीं तक की जा सक्ती है, जहां तक कि उस पदार्थकी सत्ता है, पदार्थकी निश्शेषतामें कभी शब्दका प्रयोग ही नहीं हो सकता, दूसरे हर एक पदार्थकी उत्कृष्टता और जघन्यताकी सीमा अवश्य है। ज्ञान गुणकी जघन्यतामें भी अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद बतलाये हैं। सूक्ष्म निगोदियाके जघन्य ज्ञानमें आवरण नहीं होता है, वह सदा प्रकटित रहता है और सदा निरावरण है। यदि उसमें भी आवरण आ जाय तो जीवमें जड़ताका प्रसंग आवेगा, ऐसी अवस्थामें वस्तुकी वस्तुता ही चली जाती है। ज्ञानकी नित्यतामें युक्तियोंके अतिरिक्त प्रमाणके लिये नीचे लिखी गाथा देखो—

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्मि।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणं ॥ १ ॥

गोम्मटसार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—जिस प्रकार वस्तु प्रतिक्षण परिणमनशील है, उसी प्रकार गुण भी प्रतिक्षण परिणमनशील हैं इसलिये जसे वस्तुका उत्पाद और व्यय होता है उसी प्रकार गुणोंका उत्पाद और व्यय होता है।

गुणोंकी अनित्यतामें भी वही दृष्टान्त—

ज्ञानं गुणो यथा स्यान्नित्यं सामान्यवत्तयाऽपि यतः ।
नष्टोत्पन्नं च तथा घटं विहायाऽथ पटं परिच्छन्दत् ॥११३॥

अर्थ—यद्यपि सामान्य दृष्टिसे ज्ञान गुण नित्य है तथापि वह कभी घटको और कभी पटको जानता है इसलिये अनित्य भी है।

भावार्थ—अवस्था (पर्याय) की अपेक्षासे ज्ञान अनित्य है। अपनी सत्ताकी अपेक्षासे नित्य है।

गुणोंकी अनित्यतामें वही दूसरा दृष्टान्त—

सन्दृष्टौ रूपगुणो नित्यश्चाम्रेपि वर्णमात्रतया ।
नष्टोत्पन्ने हरितात्परिणममानश्च पीतवत्त्वेन ॥११४॥

अर्थ—आममें रूप सदा रहता है इसकी अपेक्षासे यद्यपि रूप गुण नित्य है तो भी हरितमें पीत अवस्थामें बदलनेसे वह नष्ट और उत्पन्न भी होता है।

शङ्काकार—

ननु नित्या हि गुणा अपि भवन्त्वनित्यास्तु पर्यया: सर्वे ।
तत्किं द्रव्यवदिह किल नित्यात्मका गुणाः प्रोक्ताः ॥११५॥

अर्थ—यह बात निश्चित है कि गुण नित्य होते हैं और पर्यायें सभी अनित्य होती हैं। फिर क्या कारण है कि द्रव्यके समान गुणोंको भी नित्यानित्यात्मक बतलाया है ?

उत्तर—

सत्यं तत्र यतः स्यादिदमेव विवक्षितं यथा द्रव्ये
न गुणेभ्यः पृथगिह तत्सदिति द्रव्यं च पर्यायाश्चेति ॥११६॥

अर्थ—उपर्युक्त शङ्का यद्यपि ठीक है, तथापि उसका उत्तर इस प्रकार है कि गुणोंसे भिन्न सत् पदार्थ कोई वस्तु नहीं है। द्रव्य, पर्याय और गुण ये तीनों ही सत्स्वरूप हैं इसलिये जिस प्रकार द्रव्यमें विवक्षावश कथंचित् नित्यता और कथंचित् अनित्यता आती है, उसी प्रकार गुणोंमें भी नित्यता और अनित्यता विवक्षाधीन है।

और भी—

अपि नित्याः प्रतिसमयं विनापि यत्नं हि परिणमन्ति गुणाः ।
स च परिणामोऽवस्था तेषामेव न पृथक्त्वसत्ताकः ॥११७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—यद्यपि गुण नित्य हैं तथापि विना किसी प्रयत्नके प्रति समय परिणमन करते हैं। वह परिणाम भी उन्हीं गुणोंकी अवस्था विशेष है, भिन्न सत्तावाला नहीं है।

शङ्काकार—

ननु तद्वस्थो हि गुणः किल तदवस्थान्तरं हि परिणामः।
उभयोरन्तर्वर्तित्वादिह पृथगेतदेवमिदमिति चेत् ॥११८॥

अर्थ—शङ्काकारका कहना है कि गुण तो सदा एकसा रहता है और परिणाम एक समयसे दूसरे समयमें सर्वथा जुदा है। तथा परिणाम और गुण इन दोनोंके बीचमें रहनेवाला द्रव्य भिन्न ही पदार्थ है?

उत्तर—

तन्न यतः सदवस्थाः सर्वा आम्रेडितं यथा वस्तु।
न तथा ताभ्यः पृथगिति किमपि हि सत्ताकमन्तरं वस्तु ॥११९॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है। क्योंकि परिणाम गुणोंकी ही अवस्था विशेष है; द्रव्य, गुण, पर्याय ये तीनों ही मिलकर वस्तु कहलाते हैं। इन तीनोंका नाम लेनेसे वस्तुका ही बोध होता है इसलिये ये सब वस्तुके ही द्विरुक्त (पुनः पुनः कथन) हैं। उन अवस्थाओंसे जुदा भिन्न सत्तावाला गुण अथवा द्रव्य कोई पदार्थ नहीं है।

भावार्थ—शंकाकारने गुणोंको उनके परिणामोंसे भिन्न बतलाया था। और उसमें हेतु दिया था कि एक समयमें जो परिणाम है, दूसरे समयमें उससे सर्वथा भिन्न ही है। इसी प्रकार वह भी नष्ट हो जाता है, तीसरे समयमें जुदा परिणाम ही पैदा होता है। इसलिये गुणोंसे परिणाम सर्वथा भिन्न है। इसका उत्तर दिया गया है कि यद्यपि परिणाम प्रति समय भिन्न है, तथापि जिस समयमें जो परिणाम है वह गुणोंसे भिन्न नहीं है उन्हींकी अवस्था विशेष है। इसी प्रकार प्रति समयका परिणाम गुणोंसे अभिन्न है। यदि गुणोंसे सर्वथा भिन्न ही परिणामको माना जाय तो प्रश्न हो सकता है कि वह परिणाम किसका है? विना परिणामीके परिणामका होना असंभव है। इसलिये गुणोंका परिणाम गुणोंसे सर्वथा भिन्न नहीं है। किन्तु परिणाम समूह ही गुण है। और गुण समूह ही द्रव्य है।

नियतं परिणामित्वादुत्पादव्ययमया य एव गुणाः।
टङ्कोत्कीर्णन्यायात्त एव नित्या यथा स्वरूपत्वात् ॥ १२० ॥

अर्थ—जिस प्रकार परिणमन शील होनेसे गुण उत्पाद, व्यय स्वरूप हैं उसी प्रकार *टंकोत्कीर्ण न्यायसे अपने स्वरूपमें सदा स्थिर रहते हैं इसलिये वे नित्य भी हैं।

* कड़े पत्थरमें जो टांकीसे गहरे चिह्न किये जाते हैं वे मिटते नहीं है। इसीका नाम टंकोत्कीर्ण न्याय है। यह भी यहांपर स्थूलतासे ग्राह्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न हि पुनरेकेषामिह भवति गुणानां निरन्वयो नाशः ।
अपरेषामुत्पादो द्रव्यं यत्तदुभयाधारम् ॥ १२१ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि किन्हीं गुणोंका तो सर्वथा नाश होता जाता है और दूसरे नवीन गुणोंकी उत्पत्ति होती जाती है तथा उन उत्पन्न और नष्ट होनेवाले गुणोंका आधार द्रव्य है।

दृष्टान्ताऽऽभास—

दृष्टान्ताभासोऽयं स्यादि विपक्षस्य मृत्तिकायां हि ।
एके नश्यन्ति गुणा जायन्ते पाकजा गुणास्त्वन्ये ॥ १२२ ॥

अर्थ—विपक्षका यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं है कि मिट्टीमें पहले गुण तो नष्ट होजाते हैं और पाकसे होनेवाले दूसरे गुण पैदा होजाते हैं। यह केवल ÷दृष्टान्ताभास है।

भावार्थ—नैयायिक दर्शनका सिद्धान्त है कि जिस समय कच्चा घड़ा अग्नि (अवा) में दिया जाता है उसीसमय उस घड़ेके पहले सभी गुण नष्ट होजाते हैं। घड़ेका पाक होनेसे उसमें दूसरे ही नवीन गुण पैदा होजाते हैं। इतना ही नहीं, *वैशेषिकोंका तो यहां तक भी सिद्धान्त है कि अग्निमें जब घड़ेकी पाकावस्था होती है तब काला घड़ा बिलकुल फूट जाता है। उसके सब परमाणु अलग २ बिखर जाते हैं। फिर शीघ्र ही रक्त रूप पैदा होता है और पाकज परमाणु इकट्ठे होते हैं। उनसे कपाल बनते हैं। उन कपालोंसे लाल घड़ा बनता है। इस कार्यमें (घड़ेके फूटने और बननेमें) जो समय लगता है वह अति सूक्ष्म है इसलिये जाना नहीं जाता। इस नैयायिक सिद्धान्तके दृष्टान्तको देकर गुणोंका नाश और उत्पत्ति मानना सर्वथा मिथ्या है। यह दृष्टान्त सर्वथा बाधित है। यह बात किसी विवेकशालीकी बुद्धिमें नहीं आसक्ती है कि अग्निमें घड़ेके गुणोंका नाश होजाता हो अथवा वह घड़ा ही अग्निमें फूटकर फिर झटपट अपने आप तयार हो जाता हो, इसलिये उक्त नैयायिकोंका सिद्धान्त सर्वथा बाधित है। इस दृष्टान्तसे गुणोंका नाश और उत्पत्ति मानना भी मिथ्या है। इसी बातको ग्रन्थकार स्वयं प्रगट करते हैं।

तत्रोत्तरमिति सम्यक् सत्यां तत्र च तथाविधायां हि
किं पृथिवीत्वं नष्टं न नष्टमथ चेत्तथा कथं न स्यात् ॥ १२३ ॥

÷ झूंठे दृष्टान्तको दृष्टान्ताभास कहते हैं।

* वैशेषिके नये पीलुपाक वादिमते तत्रहि पाकार्थमपक्वघटो यदा महामहानसे निधीयते तदा तदन्तः प्रविष्टाभिर्वेगवदग्निज्वालामालाभिरवयवविभागेन पूर्वावयवसंयोगे विनष्टेऽसमवायिकारणनाशात् भावकार्यनाश इति नियमात् श्यामघटे विनष्टे पुनः परमाणुषु रक्तरूपोत्पत्त्या द्व्यणुकादिक्रमेण रक्तघटोत्पत्तिरिति । नैयायिकानां पिठरपाकवादिनामत्र गौरवः ।

सिद्धान्तमुक्तावली (नैयायिक-वैशेषिकग्रन्थ)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—नैयायिक सिद्धान्तका यह उत्तर स्पष्ट रीतिसे होजाता है कि अग्निमें घड़ेको रखनेसे क्या घड़ेकी मिट्टीका नाश हो जाता है ? यदि मिट्टीका नाश नहीं होता है तो घड़ेके गुणोंमें नित्यता क्यों नहीं है ? अवश्य है ।

शङ्काकार—

ननु केवलं प्रदेशाद्रव्यं देशाश्रया विशेषास्तु ।
गुणसंज्ञका हि तस्माद्भवति गुणेभ्यश्च द्रव्यमन्यत्र ॥ १२४ ॥
तत एव यथा सुघटं भङ्गोत्पादध्रुवत्रयं द्रव्ये ।
न तथा गुणेषु तत्स्यादपि च व्यस्तेषु वा समस्तेषु ॥ १२५ ॥

अर्थ—जो प्रदेश हैं वे ही द्रव्य कहलाते हैं । देशके आश्रयसे रहनेवाले जो विशेष हैं वे ही गुण कहलाते हैं इसलिये गुणोंसे द्रव्य भिन्न हैं, जब गुणोंसे द्रव्य भिन्न है तब उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, ये तीनों द्रव्यमें जिस प्रकार सुघटित होते हैं, उस प्रकार गुणोंमें नहीं होते न तो किसी २ गुणमें होते हैं और न गुण समुदायमें ही होते हैं ?

भावार्थ—शंकाकारका यह अभिप्राय है कि द्रव्य रूप देश नित्य है उसकी अपेक्षासे ही ध्रौव्य है । और गुण रूप विशेष अनित्य हैं उनकी अपेक्षासे ही उत्पाद, व्यय हैं ।

उत्तर—

यतः क्षणिकत्वापत्तेरिह लक्षणाद्गुणानां हि
तदभिज्ञानविरोधात्क्षणिकत्वं बाध्यतेऽध्यक्षात् ॥ १२६ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है । क्योंकि इस लक्षणसे गुणोंमें क्षणिकता आती है गुणोंमें क्षणिकता यह वही है, इस प्रत्यभिज्ञानसे प्रत्यक्ष बाधित है ।

भावार्थ—प्रत्यभिज्ञानसे गुणोंमें नित्यता की ही प्रतीति होती है ।

दूसरा दोष—

अपि चैवमेकसमये स्यादेकः कश्चिदेव तत्र गुणः ।
तन्नाशादन्यतरः स्यादिति युगपन्न सन्त्यनेकगुणाः ॥ १२७ ॥

अर्थ—गुणोंको उत्पाद, व्यय रूप विशेष माननेसे द्रव्यमें एक समयमें कोई एक गुण ठहरेगा । उस गुणके नाश होनेसे दूसरा गुण उसमें आवेगा । एक साथ द्रव्यमें अनेक गुण नहीं रह सकेंगे ।

प्रत्यक्ष बाधा—

तदसद्यतः प्रमाणदृष्टान्तादपि च बाधितः पक्षः ।
स यथा सहकारफले युगपद्वर्णादिविद्यमानत्वात् ॥ १२८ ॥

अर्थ—द्रव्यमें एक समयमें एक ही गुणकी सत्ता मानना ठीक नहीं है । क्योंकि यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बात प्रमाण और दृष्टान्त दोनोंसे बाधित है । आमके फलमें एक साथ ही रूप रस, गन्ध, स्पर्श आदिक अनेक गुणोंकी सत्ता प्रत्यक्ष प्रतीत होती है।

पक्षान्तर—

अथ चेदिति दोषभयान्नित्याः परिणामिनस्त इति पक्षः ।
तत्किं स्यान्न गुणानामुत्पादादित्रयं समं न्यायात् ॥ १२९ ॥

अर्थ—यदि उपर्युक्त दोषोंके भयसे गुणोंको नित्य और परिणामी माना जाय तो फिर गुणोंमें एक साथ उत्पादादि त्रय क्यों नहीं होंगे ? अवश्य होंगे ।

भावार्थ—द्रव्यकी तरह गुणोंमें भी उत्पादित्रय होते हैं यह फलितार्थ निकल चुका यही बात पहले कही जा चुकी है ।

अपि पूर्वं च यदुक्तं द्रव्यं किल केवलं प्रदेशाः स्युः ।
तत्र प्रदेशवत्त्वं शक्तिविशेषश्च कोपि सोपि गुणः ॥ १३० ॥

अर्थ—पहले यह भी शंका की गई थी कि केवल प्रदेश ही द्रव्य कहलाते हैं सो प्रदेश भी, प्रदेशत्व नामक शक्ति विशेष है । वह भी एक गुण है ।

भावार्थ—द्रव्यमें जो पर्याय होती है, उसे व्यञ्जन पर्याय कहते हैं । वह व्यञ्जन पर्याय प्रदेशवत्त्व गुणका विकार है, अर्थात् प्रदेशवत्व गुणकी विशेष अवस्थाका नाम ही व्यञ्जन पर्याय है ।

सारांश—

तस्माद्गुणसमुदायो द्रव्यं स्यात्पूर्वसूरिभिः प्रोक्तम् ।
अयमर्थः खलु देशो विभज्यमाना गुणा एव ॥ १३१ ॥

अर्थ—इस लिये जो पूर्वाचार्यों (अथवा पहले इसी ग्रन्थमें) ने गुणोंके समुदायको द्रव्य कहा है वह ठीक है । इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यदि देश (द्रव्य) को भिन्न २ विभाजित किया जाय तो गुण ही प्रतीत होंगे ।

भावार्थ—गुणोंको छोड़कर द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नहीं है । द्रव्यमेंसे यदि एक एक गुणको भिन्न २ कल्पित करें तो द्रव्य कुछ भी शेष नहीं रहता । और जो सम्पूर्ण द्रव्यकी एक समयमें पर्याय (व्यञ्जन पर्याय) होती है वह भी प्रदेशवत्व गुणकी अवस्था विशेष है इसलिये गुण समुदाय ही द्रव्य है । यह आचार्यका पूर्व कथन सर्वथा ठीक है ।

शङ्काकार—

ननु चैवं सति नियमादिह पर्याया भवन्ति यावन्तः ।
सर्वे गुणपर्याया वाच्या न द्रव्यपर्ययाः कोचित् ॥ १३२ ॥

अर्थ—यदि गुण समुदाय ही द्रव्य है तो जितनी भी द्रव्यमें पर्यायें होंगी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन सबोंको नियमसे गुणोंकी पर्याय ही कहना चाहिये, किसीको भी द्रव्य पर्याय नहीं कहना चाहिये ?

उत्तर—

तन्न यतोऽस्ति विशेषः सति च गुणानां गुणत्ववत्त्वेपि ।
चिदचिद्यथा तथा स्यात् क्रियावती शक्तिरथ च भाववती ॥१३३॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है । क्योंकि गुणोंमें भी विशेषता है। यद्यपि गुणत्व धर्मकी अपेक्षासे सभी गुण, गुण कहलाते हैं तथापि उनमें कोई चेतन गुण है कोई अचेतन गुण है । जिस प्रकार गुणोंमें यह विशेषता है। उसी प्रकार उनमें कोई क्रियावती शक्ति (गुण) है और कोई भाववती शक्ति है ।

क्रियावती और भाववती शक्तियोंका स्वरूप—

तत्र क्रिया प्रदेशो देशपरिस्पंदलक्षणो वा स्यात् ।
भावः शक्तिविशेषस्तत्परिणामोऽथ वा निरंशांशैः ॥ १३४ ॥

अर्थ—उन दोनों शक्तियोंमें प्रदेश अथवा देशका परिस्पंद (हलन चलन) क्रिया कहलाती है और शक्ति विशेष भाव कहलाता है उसका परिणमन निरंश-अंशों द्वारा होता है

भावार्थ—प्रदेशवत्त्व गुणको क्रियावती शक्ति कहते हैं, और बाकीके अनन्त गुणोंको भाववती शक्ति कहते हैं । परिणमन भी दो प्रकारका होता है एक तो ज्ञानादि गुणोंका परिणमन दूसरा सम्पूर्ण द्रव्यका परिणमन । ज्ञानादि गुणोंका परिणमन क्रिया रहित है । केवल गुणोंके अंशोंमें तरतम रूपसे न्यूनाधिकता होती रहती है परन्तु द्रव्यका जो परिणमन होता है, उसमें उसके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें परिवर्तन होता है । वह परिवर्तन सक्रिय है । द्रव्यका परिवर्तन प्रदेशवत्त्व गुणके निमित्तसे होता है । इसीलिये प्रदेशवत्त्व गुणको क्रियावती शक्ति कहा गया है और बाकीके सम्पूर्ण गुण निष्क्रिय है, इसलिये उन्हें भाववती शक्ति कहा गया है ।

यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्याय नाम्ना ।
यतरे च विशेषांशास्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव ॥ १३५ ॥

अर्थ—जितने भी प्रदेशांश हैं वे द्रव्य पर्याय कहे जाते हैं और जितने गुणांश हैं वे गुणपर्याय कहे जाते हैं ।

भावार्थ—प्रदेशवत्त्व गुणके निमित्तसे जो द्रव्यके समस्त प्रदेशोंमें आकारान्तर होता रहता है उसे द्रव्यपर्याय अथवा व्यञ्जनपर्याय कहते हैं और बाकीके गुणोंमें जो तरतम रूपसे परिणमन होता है उसे गुणपर्याय अथवा अर्थ पर्याय कहते हैं ।

तत एव युक्तचरं व्युच्छेदादित्रयं गुणानां हि ।
अनवद्यमिदं सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् ॥ १३६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ–इस लिये पहले जो गुणोंमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य बतलाया गया है, वह सब प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध होनेसे निर्दोष है ।

अथ चैतल्लक्षणमिह वाच्यं वाक्यान्तरप्रवेशेन ।
आत्मा यथा चिदात्मा ज्ञानात्मा वा स एव चैकार्थः ॥ १३७ ॥

अर्थ––अब गुणोंका लक्षण वाक्यान्तर (दूसरी रीतिसे) द्वारा कहते हैं । जिस प्रकार आत्मा, चिदात्मा, अथवा ज्ञानात्मा, ये सब एक अर्थको प्रगट करते हैं उसी प्रकार वह वाक्यान्तर कथन भी एकार्थक है ।

तद्वाक्यान्तरमेतद्यथा गुणाः सहभुवोपि चान्वयिनः ।
अर्थाश्चैकार्थत्वादर्थादेकार्थवाचकाः सर्वे ॥ १३८ ॥

अर्थ––वह वाक्यान्तर इस प्रकार है—गुण, सहभावी, अन्वयी इन सबका एक ही अर्थ है । अर्थात् उपर्युक्त तीनों ही शब्द गुण रूप अर्थके वाचक हैं ।

सहभावी शब्दका अर्थ—

सह सार्धं च समं वा तत्र भवन्तीति सहभुवः प्रोक्ताः ।
अयमर्थो युगपत्ते सन्ति न पर्यायवत्क्रमात्मानः ॥ १३९ ॥

अर्थ—सह, सार्ध और सम इन तीनोंका एक ही साथ रूप अर्थ है । गुण सभी साथ २ रहते हैं इस लिये वे सहभावी कहे गये हैं । इसका यह अर्थ है कि सभी गुण एक साथ रहते हैं, पर्यायके समान क्रम क्रमसे नहीं होते हैं ।

शङ्का और समाधान—

ननु सह समं मिलित्वा द्रव्येण च सहभुवो भवन्त्विति चेत् ।
तन्न यतो हि गुणेभ्यो द्रव्यं पृथगिति यथा निषिद्धत्वात् ॥ १४० ॥

अर्थ–शंकाकार सहभावी शब्दका अर्थ करता है कि गुण द्रव्यके साथ मिलकर रहते हैं इसी लिये वे सहभावी कहलाते हैं । परन्तु शंकाकार की यह शंका निर्मूल है क्योंकि गुणोंसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ है इस बातका पहले ही निषेध किया जाचुका है ।

भावार्थ—सहभावी शब्दका यह अर्थ नहीं है कि गुण द्रव्यके साथ २ रहते हैं इस लिये सहभावी कहलाते हैं क्योंकि ऐसा अर्थ करनेसे द्रव्य जुदा पदार्थ ठहरता है और उस द्रव्यके साथ २ रहनेवाले गुण जुदे ठहरते हैं । परन्तु इस बातका पहले ही निषेध किया जा चुका है कि गुणोंसे भिन्न द्रव्य कोई जुदा पदार्थ है । इस लिये सहभावी शब्दका यह अर्थ करना चाहिये कि सभी गुण साथ २ रहते हैं । द्रव्य अनन्त गुणोंका अखण्ड पिण्ड है । उन गुणोंमें प्रतिक्षण परिणमन (पर्याय) होता रहता है । अनादिकालसे लेकर अनन्तकाल तक उन गुणोंके जितने भी परिणमन होते हैं, उन सबोंमें गुण सदा साथ २ रहते हैं । गुणोंका परस्पर वियोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होता है । परन्तु पर्यायोंमें यह बात नहीं है । वे क्रमभावी हैं । उनका सदा साथ नहीं रहता है जो पर्यायें पूर्व समयमें हैं वे उत्तर समयमें नहीं रहती । इसीलिये पर्यायें क्रम भावी हैं । जो गुण पहले समयमें हैं वे ही दूसरे समयमें हैं इसलिये गुण सहभावी हैं ।

फिर भी शंका-समाधान—

ननुचैवमतिव्याप्तिः पर्यायेष्वपि गुणानुषंगत्वात् ।
पर्यायः पृथगिति चेत्सर्वं सर्वस्य दुर्निवारत्वात् ॥ १४१ ॥

अर्थ—यदि गुणोंको साथ रहनेसे सहभावी कहा गया है तो यह लक्षण पर्यायोंमें भी जाता है वे भी तो साथ ही साथ रहती हैं । इस लिये वे भी गुण कहलावेंगी । यह अति व्याप्ति दोष है, इस अतिव्याप्ति दोषको दूर करनेके लिये आचार्य कहते हैं कि पर्यायोंमें गुणोंका लक्षण नहीं आता है, क्योंकि पर्यायें साथ २ नहीं रहती हैं किन्तु भिन्न २ रहती हैं । फिर भी यदि लक्षणको दूषित ठहराया जायगा तो हरएक दूषण हरएकमें दुर्निवार हो जायगा अथवा पर्यायोंको भी अभिन्न माननेसे अवस्थाओंमें भेद न रहनेसे सभी सब रूप हो जायंगे अर्थात् फिर अवस्थाभेद न हो सकेगा ।

अन्वय शब्दका अर्थ—

अनुरित्यव्युच्छिन्नप्रवाहरूपेण वर्तते यद्वा ।
अयतीत्ययगत्यर्थाद्धातोरन्वर्थतोन्वयं द्रव्यम् ॥ १४२ ॥

अर्थ—अन्वय शब्दमें दो पद पड़े हुए हैं । एक अनु, दूसरा अय, अनु पदका यह अर्थ है कि विना किसी रुकावट (अनर्गल) के प्रवाहरूप और अय पद गत्यर्थक अय धातुसे बना है, इसका अर्थ होता है कि गमन करे, चला जाय । अनु और अय-अन्वयका मिलकर अर्थ होता है कि जो अनर्गल रीतिसे बराबर प्रवाह रूपसे चला जाय ऐसा अनुगत अर्थ घटनेसे द्रव्य अन्वय कहलाता है ।

द्रव्यके पर्याय वाचक शब्द—

सत्ता सत्त्वं सद्धा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु ।
अर्थो विधिरविशेषादेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥ १४३ ॥

अर्थ—सत्ता, सत्त्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ विधि ये सभी शब्द सामान्य रीतिसे एक द्रव्य रूप अर्थके वाचक हैं ।

अयमन्वयोस्ति येषामन्वयिनस्ते भवन्ति गुणवाच्याः ।
अयमर्थो वस्तुत्वात् स्वतः सपक्षा न पर्ययापेक्षाः ॥ १४४ ॥

अर्थ—यह अन्वय जिनके है वे अन्वयी कहलाते हैं ऐसे अन्वयी गुण कहलाते हैं । इसका अर्थ यह है कि वास्तवमें गुण अपने ही पक्ष (अन्वयपूर्वक) में रहते हैं, पर्यायोंकी अपेक्षा नहीं रखते हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ—द्रव्य अनन्त गुणोंका समुदाय है । उन सम्पूर्ण गुणोंमें प्रति समय नयी नयी पर्यायें होती रहती हैं । उन समस्त पर्यायोंमें गुण बराबर साथ रहते हैं । हरएक गुणका अपनी समस्त अवस्थाओंमें अन्वय (सन्तति अथवा अनुवृत्ति) पाया जाता है । इस प्रकार अनन्त गुण समुदाय रूप द्रव्यमें अनन्त गुण ही अपनी समस्त अवस्थाओंमें पाये जाते हैं, इसलिये गुण अन्वयी कहलाते हैं । और इसीसे वे सदा स्वपक्ष अर्थात् स्वस्वरूपमें बने रहते हैं । पर्यायकी अपेक्षासे भिन्न २ नहीं हो जाते हैं ।

इस श्लोकमें ×'सपक्षा' पाठ है । सपक्ष कहते हैं अन्वायीको अर्थात् गुण व्यतिरेकी नहीं है जिसमें ' यह वही है ' ऐसी बुद्धि हो वह अन्वयी कहलाता है और जिसमें ऐसी बुद्धि न हो वह व्यतिरेकी कहलाता है । गुण अनेक हैं इसलिये नाना गुणोंकी अपेक्षासे यद्यपि गुण भी व्यतिरेकी हैं । परन्तु एक गुण अपनी समस्त अवस्थाओंमें रहता हुआ ' यह वही है ' इस बुद्धिको पैदा करता है इसलिये वह अन्वयी ही है, परन्तु पर्यायोंमें ' यह वह नहीं है ' ऐसी बुद्धि होती है इसलिये वे व्यतिरेकी हैं ।

शङ्काकार—

ननु च व्यतिरेकित्वं भवतु गुणानां सदन्वयत्वेपि ।
तदनेकत्वप्रसिद्धौ भावव्यतिरेकतः सतामिति चेत् ॥ १४५ ॥

अर्थ—गुणोंका सत्के साथ अन्वय होनेपर भी उनमें व्यतिरेकीपना भी होना चाहिये क्योंकि वे अनेक हैं । भाव व्यतिरेक भी पदार्थोंमें होता है ।

भावार्थ—अनेकोंमें ही व्यतिरेक घटता है, गुण भी अनेक हैं इसलिये उनमें भी व्यतिरेक घटना चाहिये । फिर गुणोंको अन्वयी ही क्यों कहा गया है ?

उत्तर—

तन्न यतोस्ति विशेषो व्यतिरेकस्यान्वयस्य चापि यथा ।
व्यतिरेकिणो ह्यनेकेप्येकः स्यादन्वयी गुणो नियमात् ॥१४६॥

अर्थ—शंकाकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है । क्योंकि अन्वय और व्यतिरेकमें विशेषता है व्यतिरेकी अनेक होते हैं । और एक गुण नियमसे अन्वयी होता है ।

भावार्थ—व्यतिरेक अनेकमें घटता है, और अन्वय प्रवाह रूपसे चले जानेवाले एकमें घटता है । पर्यायें अनेक हैं, उनमें तो व्यतिरेक ही घटता है । गुणोंमें नाना गुणोंकी अपेक्षा यद्यपि व्यतिरेक है तथापि प्रत्येक गुण अन्वयी ही है । यह वह नहीं है, ऐसा जो

× पुस्तकमें यद्यपि 'सपक्षा' ही पाठ है । परन्तु हमने 'स्वपक्षा' पाठको भी हृदयंगत कर, उसका भी अर्थ ऊपर लिख दिया है । 'सपक्षा' का अर्थ तो अनुकूल है ही । परन्तु 'स्वपक्षा' का भी अर्थ उसी भावका प्रगट करता है । विज्ञ पाठक विचारें ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यतिरेक है, वह चार प्रकार है। देश व्यतिरेक, क्षेत्र व्यतिरेक, काल व्यतिरेक और भाव व्यतिरेक।

देश व्यतिरेक इस प्रकार है—

स यथा चैको देशः स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः।
सोपि न भवति स देशो भवति स देशश्च देशव्यतिरेकः ॥१४७॥

अर्थ—अनन्त गुणोंके एक समयवर्ती अभिन्न पिण्डको देश कहते हैं। जो एक देश है वह दूसरा नहीं है। तथा जो दूसरा है, वह दूसरा ही है। वह पहला नहीं है। इसको देश व्यतिरेक कहते हैं।

क्षेत्र व्यतिरेक इस प्रकार है—

अपि यश्चैको देशो यावदभिव्याप्य वर्तते क्षेत्रम्।
तत्तत्क्षेत्रं नान्यद्भवति तदन्यश्च क्षेत्रव्यतिरेकः ॥ १४८ ॥

अर्थ—जितने क्षेत्रको व्यापकर (घेरकर) एक देश रहता है। वह क्षेत्र वही है, दूसरा नहीं है। और जो दूसरा क्षेत्र है, वह दूसरा ही है, पहला नहीं है। इसको क्षेत्र व्यतिरेक कहते हैं।

काल व्यतिरेक इस प्रकार है—

अपि चैकस्मिन् समये यकाप्यवस्था भवेन्न साप्यन्या।
भवति च सापि तदन्या द्वितीयसमयेपि कालव्यतिरेकः ॥१४९॥

अर्थ—एक समयमें जो अवस्था होती है, वह वही है। दूसरी नहीं हो जाती। और जो दूसरे समयमें अवस्था है वह दूसरी ही है, पहली नहीं हो जाती, इसको काल-व्यतिरेक कहते हैं।

भाव व्यतिरेक इस प्रकार है—

भवति गुणांशः कश्चित् स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः।
सोपि न भवति तदन्यो भवति तदन्योपि भावव्यतिरेकः॥१५०॥

अर्थ—जो एक गुणांश है वह वही है, दूसरा नहीं है। और जो दूसरा गुणांश है, वह दूसराही है, पहला नहीं है। इसको भाव व्यतिरेक कहते हैं।

इस प्रकारके व्यतिरेकके न माननेमें दोष—

यदि पुनरेवं न स्यात्स्यादपि चैवं पुनः पुनः सैषः।
एकांशदेशमात्रं सर्वं स्यात्तन्न बाधितत्वात्प्राक् ॥ १५१ ॥

अर्थ—यदि ऊपर कही हुई व्यतिरेककी व्यवस्था न मानी जावे और जो पहले समयमें देशादिक हैं वे ही दूसरे समयमें माने जावें, भिन्न २ न माने जावें तो सम्पूर्ण वस्तु एक अंश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मात्र देशवाली ठहरेगी । और ऐसा मानना ठीक नहीं है एक अंश मात्र देशकी स्वीकारतामें पहले ही बाधा दी जा चुकी है ।

स्पष्टार्थ—

अयमर्थः पर्यायाः प्रत्येकं किल यथैकशः प्रोक्ताः ।
व्यतिरेकिणो ह्यनेके न तथाऽनेकत्वतोपि सन्ति गुणाः ॥१५२॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए कथनका खुलासा अर्थ इस प्रकार है कि एक २ समयमें क्रमसे भिन्न २ होनेवाली जो पर्यायें हैं वे ही व्यतिरेकी हैं, परन्तु गुण अनेक होनेपर भी उस प्रकार व्यतिरेकी नहीं हैं ।

भावार्थ—जो द्रव्यकी एक समयकी पर्याय है वह दूसरे समयमें नहीं रहती, किन्तु दूसरे समयमें दूसरी ही पर्याय होती है । इसलिये द्रव्यका एक समयका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न है, और दूसरे समयका भिन्न है । जो पहले समयका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है वही दूसरे समयका नहीं है इसलिये पर्यायें व्यतिरेकी हैं क्योंकि व्यतिरेकका लक्षण ही यही है कि यह वह नहीं है, पर्यायें अनेक हैं और वे भिन्न २ हैं इसलिये यह वह नहीं है ऐसा व्यतिरेक उनमें अच्छी तरह घटता है, परन्तु गुणोंमें यह बात नहीं है। यद्यपि गुण भी अनेक हैं तथापि उनमें (प्रत्येक गुणमें) यह वह नहीं है, ऐसा व्यतिरेक नहीं घटता । किन्तु प्रत्येक गुण अपनी अनादि–अनन्त अवस्थाओंमें पाया जाता है । इसलिये प्रत्येक गुणमें यह वही है, ऐसा अन्वय ही घटता है ।

गुणोंमें अन्वयीपना दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं—

किन्त्वेकशः स्वबुद्धौ ज्ञानं जीवः स्वसर्वसारेण ।
अथ चैकशः स्वबुद्धौ दृग्वा जीवः स्वसर्वसारेण ॥ १५३ ॥

अर्थ—किसीने अपनी बुद्धिमें सर्वस्वतासे ज्ञानको ही जीव समझा, और दूसरेने अपनी बुद्धिमें सर्वस्वतासे दर्शनको ही जीव समझा ।

भावार्थ—एकने ज्ञान गुणकी मुख्यतासे जीवको ग्रहण किया है और दूसरेने दर्शन गुणकी मुख्यतासे जीवको ग्रहण किया है, परन्तु दोनोंने उसी जीवको उतना ही ग्रहण किया है । यद्यपि ज्ञान गुण भिन्न है और दर्शन गुण भिन्न है, इसी प्रकार और भी जितने गुण हैं सभी भिन्न २ हैं, तथापि वे परस्पर अभिन्न हैं, इसी लिये जो यह कहता है कि " ज्ञान है सो जीव है " वह यद्यपि जीवको ज्ञानकी प्रधानतासे ही ग्रहण करता है, परन्तु जीव तो ज्ञान रूपी ही केवल नहीं है किन्तु दर्शनादि स्वरूप भी है । इस लिये गुणोंमें अनेकता होनेपर भी पर्यायोंकी तरह " यह वह नहीं है " ऐसा व्यतिरेक नहीं घटता इसी बातको आगेके श्लोकोंसे स्पष्ट करते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत एव यथाऽनेके पर्यायाः सैष नेति लक्षणतः ।
व्यतिरेकिणश्च न गुणास्तथेति सोऽयं न लक्षणाभावात् ॥१५४॥

अर्थ—इस लिये जिस प्रकार अनेक पर्यायें " यह वह नहीं है " इस लक्षणसे व्यतिरेकी हैं, उस प्रकार अनेक भी गुण " यह वह नहीं है " इस लक्षणके न घटनेसे व्यतिरेकी नहीं हैं ।

किन्तु—

तल्लक्षणं यथा स्याज्ज्ञानं जीवो य एव तावांश्च ।
जीवो दर्शनमिति वा तदभिज्ञानात् स एव तावांश्च ॥१५५॥

अर्थ—गुणोंमें अन्वय लक्षण ही घटता है । जिस समय जीवको ज्ञान स्वरूप कहा जाता है, उस समय वह उतना ही है और जिस समय जीवको दर्शन स्वरूप कहा जाता है उस समय वह उतना ही है । ज्ञान अथवा दर्शन रूप जीवको कहनेसे उसमें ' यह वही है ' ऐसा ही प्रत्यभिज्ञान होता है ।

एष क्रमः सुखादिषु गुणेषु वाच्यो गुरूपदेशाद्वा ।
यो जानाति स पश्यति सुखमनुभवतीति स एव हेतोश्च ॥१५६॥

अर्थ—पूर्वाचार्योंके कथनानुसार यही क्रम सुखादिक गुणोंमें भी लगा लेना चाहिये । जो जीव जानता है, वही देखता है और वही सुखका अनुभवन करता है । इन सब कार्योंमें " यह वही है " ऐसी ही प्रतीति होती है ।

अर्थ शब्दका अन्वर्थ—

अथ चोद्दिष्टं प्रागप्यर्था इति संज्ञया गुणा वाच्याः ।
तदपि न रूढिवशादिह किन्त्वर्थाद्यौगिकं तदेवेति ॥ १५७ ॥

अर्थ—यह पहले कहा जा चुका है कि अर्थ नाम गुणका है, वह भी केवल रूढ़िवशसे नहीं है किन्तु वह यौगिक रीतिसे है ।

अर्थका यौगिक अर्थ—

स्यादृगितावितिधातुस्तद्रूपोयं निरुच्यते तज्ज्ञैः ।
अत्यर्थानुगतार्थादनादिसन्तानरूपतोपि गुणः ॥ १५८ ॥

अर्थ—' ऋ ' एक धातु है, गमन करना उसका अर्थ है । उसी धातुका यह ' अर्थ ' शब्द बना है ऐसा व्याकरणके जानकार कहते हैं । जो गमन करें उसे अर्थ कहते हैं । गुण अनादि सन्तति रूपसे साथ २ चले जाते हैं । इसलिये गुणका अर्थ नाम अन्वर्थक (यथार्थ) ही है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारांश—

अयमर्थः सन्ति गुणा अपि किल परिणामिनः स्वतः सिद्धाः।
नित्यानित्यत्वादप्युत्पादादित्रयात्मकाः सम्यक् ॥ १५९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका सारांश यह है कि गुण भी नियमसे स्वतः सिद्ध परिणामी हैं इसलिये वे कथंचित् नित्य भी हैं और कथंचित् अनित्य भी हैं, और इसीसे उनमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अच्छी तरह घटते हैं।

गुणोंमें भेद—

अस्ति विशेषस्तेषां सति च समाने यथा गुणत्वेपि।
साधारणास्त एके केचिदसाधारणा गुणाः सन्ति ॥ १६० ॥

अर्थ—यद्यपि गुणत्व सामान्यकी अपेक्षासे सभी गुणोंमें समानता है, तथापि उनमें विशेषता भी है। कितने ही उनमें साधारण गुण हैं, और कितने ही असाधारण गुण हैं।

साधारण और असाधारणका अर्थ—

साधारणास्तु यतरे ततरे नाम्ना गुणा हि सामान्याः।
ते चाऽसाधारणका यतरे ततरे गुणा विशेषाख्याः ॥ १६१ ॥

अर्थ—जितने साधारण गुण हैं वे सामान्य गुण कहलाते हैं, और जितने असाधारण गुण हैं वे विशेष गुण कहलाते हैं।

भावार्थ—जो गुण सामान्य रीतिसे हरएक द्रव्यमें पाये जांय, उन्हें तो सामान्य अथवा साधारण गुण कहते हैं। और जो गुण खास २ द्रव्यमें ही पाये जांय उन्हें विशेष अथवा असाधारण गुण कहते हैं। अर्थात् जो सब द्रव्योंमें रहें वे सामान्य और जो किसी विशेष द्रव्यमें रहें वे विशेष कहलाते हैं।

ऐसा क्यों कहा जाता है ?

तेषामिह वक्तव्ये हेतुः साधारणैर्गुणैर्यस्मात्।
द्रव्यत्वमस्ति साध्यं द्रव्यविशेषस्तु साध्यते त्वितरैः ॥ १६२ ॥

अर्थ—ऐसा क्यों कहाजाता है ? इसका कारण यह है कि साधारण गुणोंसे तो द्रव्य सामान्य सिद्ध किया जाता है, और विशेष गुणोंसे द्रव्य विशेष सिद्ध किया जाता है।

उदाहरण—

संदृष्टिः सदिति गुणः स यथा द्रव्यत्वसाधको भवति।
अथ च ज्ञानं गुण इति द्रव्यविशेषस्य साधको भवति ॥१६३॥

अर्थ—उदाहरण इस प्रकार है कि सत् (अस्तित्व) यह गुण सामान्य द्रव्यका साधक है, और ज्ञान गुण द्रव्य विशेष (जीव) का साधक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ—सत् गुण सभी द्रव्योंमें समान रीतिसे पाया जाता है इसलिये सभी द्रव्य सत् कहलाते हैं, परन्तु ज्ञान गुण सभी द्रव्योंमें नहीं पाया जाता किन्तु जीवमें ही पाया जाता है इसलिये ज्ञान विशेष गुण है और सत् सामान्य गुण है। इसी प्रकार सभी द्रव्योंमें सामान्य गुण समान हैं, और विशेष गुण जुदे जुदे हैं।

पर्यायका लक्षण कहनेकी प्रतिज्ञा—

उक्तं हि गुणानामिह लक्ष्यं तल्लक्षणं यथाऽऽगमतः।
सम्प्रति पर्यायाणां लक्ष्यं तल्लक्षणं च वक्ष्यामः ॥ १६४ ॥

अर्थ—इस ग्रन्थमें आगमके अनुसार गुणोंका लक्ष्य और लक्षण तो कहा गया, अब पर्यायोंका लक्ष्य और लक्षण कहते हैं।

पर्यायका लक्षण—

क्रमवर्तिनो ह्यनित्या अथ च व्यतिरेकिणश्च पर्यायाः।
उत्पादव्ययरूपा अपि च ध्रौव्यात्मकाः कथञ्चिच्च ॥ १६५ ॥

अर्थ—पर्यायें क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी, उत्पादव्ययस्वरूप और कथंचित् ध्रौव्य स्वरूप होती हैं।

तत्र व्यतिरेकित्वं प्रायः प्रागेव लक्षितं सम्यक्।
अवशिष्टविशेषमितः क्रमतः सँल्लक्ष्यते यथाशक्ति ॥ १६६ ॥

अर्थ—पर्यायोंका व्यतिरेकीपना तो गुणोंके कथनमें सिद्ध किया जा चुका है। अब बाकीके लक्षण क्रमसे यथाशक्ति यहांपर कहे जाते हैं।

क्रमवर्तित्वका लक्षण—

अस्त्यत्र य प्रसिद्धः क्रम इति धातुश्च पादविक्षेपे।
क्रमति क्रम इति रूपस्तस्य स्वार्थानतिक्रमादेषः ॥ १६७ ॥
वर्तन्ते ते नयतो भवितुं शीलास्तथा स्वरूपेण।
यदि वा स एव वर्ती येषां क्रमवर्तिनस्त एवार्थात् ॥ १६८ ॥

अर्थ—पादविक्षेपका अर्थ होता है क्रमसे गमन करना अथवा क्रमसे होना, इसी अर्थमें क्रम धातु प्रसिद्ध है। उसीका क्रम शब्द बना है। यह शब्द अपने अर्थका उल्लंघन नहीं करता है। क्रमसे जो वर्तन करे अर्थात् क्रमसे जो होवे उन्हें क्रमवर्ती कहते हैं अथवा क्रमस्वरूपसे होनेका जिनका स्वभाव है उन्हें क्रमवर्ती कहते हैं। अथवा क्रम ही जिनमें होता रहे उन्हें ही अनुगत—अर्थ होनेसे क्रमवर्ती कहते हैं ऐसी क्रमवर्ती पर्यायें होती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसीका खुलासा अर्थ—

अथमर्थः प्रागेकं जातं समुच्छिद्य जायते चैकः ।
अथ नष्टे सति तस्मिन्नन्योप्युत्पद्यते यथा देशः ॥ १६९ ॥

अर्थ—पर्यायें क्रमवर्ती हैं, इसका यह अर्थ है कि जिस प्रकार पहले एक पर्याय हुई, फिर उसका नाश होनेपर दूसरी हुई, उस दूसरीका भी नाश होनेपर तीसरी हुई इसी प्रकार पूर्व पूर्व पर्यायोंके नाश होनेपर जो उत्तरोत्तर पर्यायें क्रमसे होती जाती हैं इसीका नाम क्रमवर्ती है। अनन्त गुणोंके एक समयवर्ती अभिन्न पिण्डको देश कहते हैं। एक समयका देश दूसरे समयसे भिन्न है। यहां पर देशसे पर्यायका ग्रहण होता है।

शंकाकार—

ननु यद्यस्ति स भेदः शब्दकृतो भवतु वा तदेकार्थात् ।
व्यतिरेकक्रमयोरिह को भेदः पारमार्थिकस्त्विति चेत् ॥१७०॥

अर्थ—यदि व्यतिरेकीपन और क्रमवर्तीपनमें शब्द भेद ही माना जाय तब तो ठीक है। क्योंकि दोनोंका एक ही अर्थ है। यदि इन दोनोंमें अर्थ भेद भी माना जाता है तब बतलाना चाहिये कि वास्तवमें इन दोनोंमें क्या भेद है ?

उत्तर—

तन्न यतोस्ति विशेषः सदंशधर्मे द्वयोः समानेपि ।
स्थूलेष्विव पर्यायेष्वन्तर्लीनाश्च पर्यायाः सूक्ष्माः ॥ १७१ ॥

अर्थ—शंकाकारका यह कहना " कि व्यतिरेकी और क्रमवर्ती दोनोंका एक ही अर्थ है " ठीक नहीं है। क्योंकि द्रव्यके पूर्व समय वर्ती और उत्तर समय वर्ती अंशोंमें समानता होने पर भी विशेषता है। जिस प्रकार स्थूल पर्यायोंमें सूक्ष्म पर्यायें अन्तर्लीन (गर्भित) हो जाती हैं परन्तु लक्षण भेदसे भिन्न हैं, उसी प्रकार व्यतिरेकी और क्रमवर्ती भी भिन्न हैं।

भावार्थ—द्रव्यका प्रतिक्षण जो परिणमन होता है उसके दो भेद हैं। एक समयवर्ती परिणमनकी अपेक्षा द्वितीय समयवर्ती परिणमनमें कुछ समानता भी रहती है और कुछ असमानता भी रहती है। दृष्टान्तके लिये बालकको ही ले लीजिये। बालककी हरएक समयमें अवस्थायें बदलती रहती हैं। यदि ऐसा न माना जावे तो एक वर्ष बाद बालकमें पुष्टता और लम्बाई नहीं आना चाहिये। और वह एक दिनमें नहीं आजाती है प्रति समय बढ़ती रहती है परन्तु हमारी दृष्टिमें बालककी जो पहले समयकी अवस्था है वही दूसरे समयमें दीखती है, इसका कारण वही सदृश परिणमन है। जो असदृश-अंश है वह सूक्ष्म है इन्द्रियोंद्वारा उसका ग्रहण नहीं होता है सदृश-परिणमन अनेक समयोंमें एकसा है इसीलिये कहा जाता है कि स्थूल पर्याय चिरस्थायी है और इसी अपेक्षासे पर्यायको कथंचित् ध्रौव्य स्वरूप कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थूल पर्यायोंमें यद्यपि सूक्ष्म पर्यायें गर्भित हो जाती हैं तथापि लक्षण भेदसे वे भिन्न २ हैं, उसी प्रकार व्यतिरेक और क्रममें भी लक्षण भेदसे भेद है सोई आगे कहा जाता है—

व्यतिरेकका स्वरूप—

तत्र व्यतिरेकः स्यात् परस्पराभावलक्षणेन यथा ।
अंशविभागः पृथगिति सदृशांशानां सतामेव ॥ १७२ ॥
तस्माद्व्यतिरेकित्वं तस्य *स्यात् स्थूलपर्ययः स्थूलः ।
सोऽयं भवति न सोयं यस्मादेतावतैव संसिद्धिः ॥ १७३ ॥

अर्थ—समान अंशोंमें परिणमन होनेवाले पदार्थोंका जो परस्परमें अभावको लिये हुए भिन्न २ अंशोंका विभाग किया जाता है, उसीका नाम व्यतिरेक है। जो एक समयवर्ती पर्याय है वह दूसरे समयवर्ती नहीं है। बस इसीसे व्यतिरेककी भले प्रकार सिद्धि हो जाती है।

भावार्थ—एक समयवर्ती पर्यायका द्वितीय समयवर्ती पर्यायमें अभाव लाना, इसीका नाम व्यतिरेक है। यद्यपि स्थूल पर्यायोंका समान रूपसे परिणमन होता है, तथापि एक समयवर्ती परिणमन (आकार) दूसरे समयवर्ती परिणमनसे भिन्न है। दूसरे समयवर्ती परिणमन पहले समयवर्ती परिणमनसे भिन्न है। इसी प्रकार भिन्न २ समयोंमें होनेवाले भिन्न २ आकारोंमें परस्पर अभाव घटित करना इसीका नाम व्यतिरेक है।

क्रमका स्वरूप—

विष्कंभःक्रम इति वा क्रमः प्रवाहस्य कारणं तस्य ।
न विवक्षितमिह किञ्चित्तत्र तथात्वं किमन्यथात्वं वा ॥१७४॥
क्रमवर्तित्वं नाम व्यतिरेकपुरस्सरं विशिष्टं च ।
स भवति भवति न सोऽयं भवति तथाथ च तथा न भवतीति १७५

अर्थ—जो विस्तार युक्त हो वह क्रम कहलाता है, क्रम प्रवाहका कारण है, क्रममें यह नहीं विवक्षित है कि यह वह है अथवा अन्य है। क्रमवर्तीपना व्यतिरेकके पहले होता है और नियमसे व्यतिरेक सहित होता है। एक पर्यायके पीछे दूसरी, दूसरीके पीछे तीसरी, तीसरीके पीछे चौथी, इस प्रकार बराबरके प्रवाहको क्रम कहते हैं और 'यह वह नहीं है' इस प्रकार परस्परमें आनेवाले अभावको व्यतिरेक कहते हैं।

भावार्थ—एकके पीछे दूसरी, तीसरी, चौथी इस प्रकार बराबर होनेवाले प्रवाहको क्रम कहते हैं। क्रममें यह बात नहीं विवक्षित है कि "यह वह नहीं है" और "वह नहीं है" यह विवक्षा व्यतिरेकमें है। इसीलिये क्रम व्यतिरेकके पहले होता है, क्रम व्यतिरेकका कारण है,

* "यथा स्थूलपर्यये सूक्ष्मः" संशोधित पुस्तकमें ऐसा पाठ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यतिरेक उसका कार्य है, इसलिये क्रम और व्यतिरेक एक नहीं हैं किन्तु इन दोनोंमें कार्य कारण भाव है ।

शंकाकार—

ननु तन्न किं प्रमाणं क्रमस्य साध्ये तदन्यथात्वे हि ।
सोऽयं यः प्राक् स तथा यथेति यः प्राक्तु निश्चयादिति चेत् ॥१७६॥

अर्थ—क्रम और व्यतिरेकके सिद्ध करनेमें क्या प्रमाण है, क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि जो पहले था सो ही यह है अथवा जैसा पहले था वैसा ही है ?

उत्तर—

×तन्न यतः प्रत्यक्षादनुभवविषयात्तथानुमानाद्वा ।
स तथेति च नित्यस्य न तथेत्यनित्यस्य प्रतीतत्वात् ॥ १७७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रत्यक्ष प्रमाणसे, अपने अनुभवसे अथवा अनुमान प्रमाणसे वह उसी प्रकार है, इस प्रकार नित्यकी और "वह उस प्रकार नहीं है" इस प्रकार अनित्यकी भी प्रतीति होती है ।

इसीका खुलासा अर्थ—

अयमर्थः परिणामि द्रव्यं नियमाद्यथा स्वतः सिद्धम् ।
प्रतिसमयं परिणमते पुनः पुनर्वा यथा प्रदीपशिखा ॥ १७८ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका यह अर्थ है कि द्रव्य जिस प्रकार स्वतः सिद्ध है, उसी प्रकार नियमसे परिणामी भी है । जिस प्रकार दीपककी शिखा (लौ) बार २ परिणमन करती है, उसी प्रकार प्रतिसमय द्रव्य भी परिणमन करता है ।

इदमस्ति पूर्वपूर्वभावविनाशेन नश्यतोंशस्य ।
यदि वा तदुत्तरोत्तरभावोत्पादेन जायमानस्य ॥ १७९ ॥

अर्थ—पहले पहले भावका विनाश होनेसे किसी अंशका (पर्यायका) नाश होनेसे और नवीन २ भावके उत्पन्न होनेसे किसी अंश (पर्याय) के पैदा होनेसे यह परिणमन होता है ।

दृष्टान्त—

तदिदं यथा स जीवो देवो मनुजाद्भवन्नथाप्यन्यः ।
कथमन्यथात्वभावं न लभेत स गोरसोपि नयात् ॥ १८० ॥

अर्थ—वह पूर्व २ भावका विनाश और उत्तरोत्तर भावका उत्पाद इस प्रकार होता है—जैसे जो जीव पहले मनुष्य पर्यायमें था, वही जीव मरकर देव पर्यायमें चला गया ।

× छपी पुस्तकमें यह श्लोक १७९ वाँ है । परन्तु संशोधित पुस्तकमें १७७ वाँ है । इसी क्रमसे अर्थ भी ठीक २ घटित होता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य-जीवसे देव-जीव कथंचित् भिन्न है। जिस प्रकार दूधसे दही कथंचित् अन्यथाभावको प्राप्त होता है उसी प्रकार यह भी कथंचित् अन्यथा भावको क्यों नहीं प्राप्त होगा? अवश्य ही होगा।

शंकाकार—

ननु चैवं सत्यसदपि किञ्चिद्वा जायते सदेव यथा।
सदपि विनश्यत्यसदिव सदृशासदृशत्वदर्शनादितिचेत् ॥१८१॥
सदृशोत्पादो हि यथा स्यादुष्णः परिणमन् यथा वन्हिः।
स्यादित्यसदृशजन्मा हरितात्पीतं यथा रसालफलम् ॥ १८२ ॥

अर्थ—इस प्रकारकी भिन्नता स्वीकार करनेसे मालूम होता है कि सत्की तरह कुछ असत् भी पैदा हो जाता है और असत्की तरह सत् पदार्थ भी विनष्ट हो जाता है, समानता और असमानताके देखनेसे ऐसा प्रतीत भी होता है। किसी किसीका समान उत्पाद होता है और किसी किसीका असमान उत्पाद होता है। अग्निका जो उष्ण रूप परिणमन होता है, वह उसका समान उत्पाद है और जो कच्चा आम पकनेपर हरेसे पीला हो जाता है वह असमान (विजातीय) उत्पाद है?

भावार्थ—वस्तुके प्रतिसमय होनेवाले परिणमनको देखकर वस्तुको ही उत्पन्न और विनष्ट समझनेवालोंकी यह शंका है।

उत्तर—

नैवं यतः स्वभावादसतो जन्म न सतो विनाशो वा।
उत्पादादित्रयमपि भवति च भावेन भावतया ॥ १८३ ॥

अर्थ—उपर्युक्त जो शङ्का की गई है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि यह एक स्वाभाविक बात है कि न तो असत् पदार्थका जन्म होता है और न सत् पदार्थका विनाश ही होता है। जो उत्पाद, व्यय ध्रौव्य होते हैं वे भी वस्तुके एक भावसे भावान्तर रूप हैं।

भावार्थ—जो पदार्थ है ही नहीं वह तो कहींसे आनहीं सक्ता, और जो उपस्थित है वह कहीं जा नहीं सक्ता, इसलिये न तो नवीन पदार्थकी उत्पत्ति ही होती हैं और न सत् पदार्थका विनाश ही होता है, किन्तु हरएक वस्तुमें प्रतिसमय भावसे भावान्तर होता रहता है। भावसे भावान्तर क्या है? इसीका खुलासा नीचे किया जाता है—

अयमर्थः पूर्वं यो भावः सोप्युत्तरत्र भावश्च।
भूत्वा भवनं भावो नष्टोत्पन्नो न भाव इह कश्चित् ॥ १८४ ॥

अर्थ—इसका यह अर्थ है कि पहले जो भाव था वही उत्तर भाव रूप हो जाता है। होकर होनेका नाम ही भाव है। नष्ट और उत्पन्न कोई भाव नहीं होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ—आकारका नाम ही भाव है । वस्तुका एक आकार बदलकर दूसरे आकार रूप हो जाय, इसीका नाम भावसे भावान्तर कहलाता है । हरएक वस्तुमें प्रतिक्षण इसी प्रकार एक आकारसे आकारान्तर होता रहता है । किसी नवीन पदार्थकी उत्पत्ति नहीं होती है और न किसी सत् पदार्थका विनाश ही होता है ।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तः परिणामी जलप्रवाहो य एव पूर्वस्मिन् ।
उत्तरकालेपि तथा जलप्रवाह स एव परिणामी ॥ १८५ ॥

अर्थ—दृष्टान्तके लिये जलका प्रवाह है । जो जलका प्रवाह पहले समयमें परिणमन करता है वही जलका प्रवाह दूसरे समयमें परिणमन करता है ।

यत्तत्र विसदृशत्वं जातेरनतिक्रमात् क्रमादेव ।
अवगाहनगुणयोगादेशांशानां सतामेव ॥ १८६ ॥

अर्थ—यह जो द्रव्यकी एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें भिन्नता (असमानता) दीखती है वह अपने स्वरूपको नहीं छोड़कर क्रमसे होनेवाले देशांशोंके अवगाहन गुणके निमित्तसे ही दीखती है ।

भावार्थ—द्रव्यके विकारको व्यञ्जनपर्याय कहते हैं । व्यञ्जन पर्याय भी प्रति समय भिन्न २ होती रहती है । एक समयकी व्यञ्जन पर्यायसे दूसरे समयकी व्यञ्जन पर्यायमें समानता और असमानता दोनों ही होती हैं । असमानतामें भी द्रव्यके स्वरूपकी च्युति (नाश) नहीं है किन्तु जो द्रव्यके देशांश (आकार) पहले किसी दूसरे क्षेत्रको घेरे हुए थे, वे ही देशांश अब दूसरे क्षेत्रको घेरने लगे । बस यही विभिन्नता है । और किसी प्रकारकी विभिन्नता नहीं है ।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तो जीवस्य लोकासंख्यातमात्रदेशाः स्युः ।
हानिर्वृद्धिस्तेषामवगाहनविशेषतो न तु द्रव्यात् ॥ १८७ ॥

अर्थ—दृष्टान्त इस प्रकार है । एक जीवके असंख्यात लोक प्रमाण प्रदेश होते हैं । उनकी हानि अथवा वृद्धि केवल अवगाहनकी विशेषतासे होती है द्रव्यकी अपेक्षासे नहीं होती ।

भावार्थ—जीवके जितने भी (असंख्यात) प्रदेश हैं वे सदा उतने ही रहते हैं, न तो उनमेंसे कभी कुछ प्रदेश घटते हैं और न कभी कुछ प्रदेश बढ़ते हैं । किन्तु जिस शरीरमें जितना छोटा या बड़ा क्षेत्र मिलता है, उसीमें संकुचित अथवा विस्तृत रीतिसे समा जाते हैं । चीटींके शरीरमें भी वही असंख्यात प्रदेशवाला आत्मा है और हाथीके शरीरमें भी वही असंख्यात प्रदेशवाला आत्मा है । आत्मा दोनों स्थानोंमें उतना ही है जितना कि वह है, केवल एक क्षेत्रसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्रान्तर रूप हो गया है । क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर ग्रहण करनेकी अपेक्षासे ही आत्माके प्रदेशोंकी हानि वृद्धि समझी जाती है । वास्तवमें उसमें किसी प्रकारकी हानि अथवा वृद्धि नहीं होती है ।

दूसरा दृष्टान्त—

यदि वा प्रदीपरोचिर्यथा प्रमाणादवस्थितं चापि ।
अतिरिक्तं न्यूनं वा गृहभाजनविशेषतोऽवगाहाच्च ॥ १८८ ॥

अर्थ—अथवा दूसरा दृष्टान्त दीपकका है । दीपककी किरणें उतनी ही हैं जितनी कि वे हैं, परन्तु उनमें अधिकता और न्यूनता जो आती है, वह केवल घर आदि आवरककी विशेषतासे आती है और अवगाहनकी विशेषतासे भी आती है ।

भावार्थ—दीपकको जैसा भी छोटा बड़ा आवरक (जिसमें दीपक रक्खा हो वह पात्र) मिलेगा दीपकका प्रकाश उसी क्षेत्रमें पर्याप्त रहेगा ।

गुणोंके अवगाहनमें दृष्टान्त—

अंशानामवगाहे दृष्टान्तः स्वांशसंस्थितं ज्ञानम् ।
अतिरिक्तं न्यूनं वा ज्ञेयाकृति तन्मयान्न तु स्वांशैः ॥१८९॥

अर्थ—अंशोंके अवगाहनमें यह दृष्टान्त है कि ज्ञान-गुण जितना भी है वह अपने अंशों (अविभाग प्रतिच्छेदों) में स्थित है । वह जो कभी कमती कभी बढ़ती होता है, वह केवल ज्ञेय पदार्थका आकार धारण करनेसे होता है । जितना बड़ा ज्ञेय है, उतना ही बड़ा ज्ञानका आकार हो जाता है । वास्तवमें ज्ञान गुणके अंशोंमें न्यूनाधिकता नहीं होती ।

दृष्टान्त—

तदिदं यथा हि संविद्घटं परिच्छिन्दादिहैव घटमात्रम् ।
यदि वा सर्वं लोकं स्वयमवगच्छच्च लोकमात्रं स्यात् ॥१९०॥

अर्थ—दृष्टान्त इस प्रकार है कि जिस समय ज्ञान घटको जान रहा है, उस समय वह घट मात्र है, अथवा जिस समय वह सम्पूर्ण लोकको स्वयं जान रहा है, उस समय वह लोक मात्र है ।

भावार्थ—घटको जानते हुए समग्र ज्ञान घटाकारमें ही परिणत होकर उतना ही हो जाता है, और समग्र लोकको जानते हुए वह लोक प्रमाण हो जाता है ।

वास्तवमें वह घटता बढ़ता नहीं है—

न घटाकारेऽपि चितः शेषांशानां निरन्वयो नाशः ।
लोकाकारेऽपि चितः नियतांशानां न चाऽसदुत्पत्तिः ॥ १९१ ॥

अर्थ—घटाकार होने पर ज्ञानके शेष अंशोंका सर्वथा नाश नहीं होता है और लोकाकार होनेपर नियमित अंशोंके अतिरिक्त उसके नवीन अंशोंकी उत्पत्ति भी नहीं होती है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्त्वस्ति च कोपि गुणोऽनिर्वचनीयः स्वतः सिद्धः ।
नाम्ना चाऽगुरुलघुरिति गुरुलक्ष्यः स्वानुभूतिलक्ष्यो वा ॥ १९२॥

अर्थ–किन्तु उन गुणोंमें एक अगुरुलघु नामक गुण है, वह वचनोंके अगम्य है, स्वतः सिद्ध है, उसका ज्ञान गुरु (सर्वज्ञ अथवा आचार्य) के उपदेशसे होता है अथवा स्वानुभूति-प्रत्यक्षसे होता है ।

भावार्थ–अगुरुलघु गुण हरएक पदार्थमें जुदा२ रहता है, इसके निमित्तसे किसी भी शक्तिका कभी भी नाश नहीं होता है । जो शक्ति जिस स्वरूपको लिये हुए है, वह सदा उसी स्वरूपमें रहती है, इसलिये ज्ञान गुणमें तरतमता होनेपर भी उसके अंशोंका विनाश नहीं होता है ।

शङ्काकार—

ननु चैवं सत्यर्थादुत्पादादित्रयं न संभवति ।
अपि नोपादानं किल करणं न फलं तदनन्यात् ॥ १९३ ॥
अपिच गुणः स्वांशानामपकर्षे दुर्बलः कथं न स्यात् ।
उत्कर्षे बलवानिति दोषोऽयं दुर्जयो महानिति चेत् ॥ १९४ ॥

अर्थ–" किसी शक्तिका कभी नाश भी नहीं होता है और न नवीन कुछ उत्पत्ति ही होती है । यदि ऐसा माना जाये तो गुणोंमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नहीं घट सकते हैं , और न कोई किसीका कारण ही बन सक्ता है, न फल ही कुछ हो सक्ता है, क्योंकि उपर्युक्त कथनसे तुम गुणोंको सदा नित्य ही मान चुके हो ।

दूसरी बात यह है कि हरएक गुणके अंशोंकी कभी न्यूनता भी प्रतीत होती है ऐसी अवस्थामें गुण दुर्बल (सूक्ष्म–पतला) क्यों नहीं हो जाता ? और कभी गुणमें अधिकता भी प्रतीत होती है, ऐसी अवस्थामें वह बलवान (सशक्त–मोटा) क्यों नहीं हो जाता ? यह एक महान् दोष है । इसका निराकरण कुछ कठिन है ?

उत्तर—

तन्न यतः परिणामि द्रव्यं पूर्वं निरूपितं सम्यक् ।
उत्पादादित्रयमपि सुघटं नित्येऽथ नाप्यनित्येर्थे ॥ १९५ ॥

अर्थ—उपर्युक्त जो शंका की गई है वह निर्मूल (ठीक नहीं) है क्योंकि यह पहले अच्छी तरह कहा जा चुका है कि द्रव्य परिणमन शील है, इसलिये नित्य पदार्थमें ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अच्छी तरह घटते हैं, अनित्य पदार्थमें नहीं घटते ।

दृष्टान्त—

जाम्बूनदे यथा सति जायन्ते कुण्डलादयो भावाः ।
अथ सत्सु तेषु नियमादुत्पादादित्रयं भवत्येव ॥ १९६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—सोनेकी सत्ता माननेपर ही उसमें कुण्डलादिक भाव होते हैं और उन कुण्डलादिक भावोंके होनेपर उसमें उत्पादादिक घटते ही हैं।

भावार्थ—जिस समय सोनेको ठोंक पीटकर कुण्डलाकार कर दिया जाता है उस समय सोनेमें पहली पाँसे रूप पर्यायका विनाश होकर कुण्डल रूप पर्यायकी उत्पत्ति होती है, सोना दोनों ही अवस्थामें है इसलिये सोनेमें उत्पादादित्रय तो घट जाते हैं परन्तु सोनेके प्रदेशोंमें वास्तवमें किसी प्रकारकी नवीन उत्पत्ति अथवा नाश नहीं होता है, केवल क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर होता है। यदि सोनेको अनित्य ही मान लिया जाय तो पाँसेके नाश होनेपर कुण्डल किसका बने ? इसलिये नित्य पदार्थमें ही उत्पादादिक तीनों घटते हैं, अनित्यमें नहीं।

अनया प्रक्रियया किल बोद्धव्यं कारणं फलं चैव।
यस्मादेवास्य सतस्तद्द्वयमपि भवत्येतत् ॥ १९७ ॥

अर्थ—इसी ऊपर कही हुई प्रक्रिया (रीति) के अनुसार कारण और फल भी उसी कथंचित् नित्य पदार्थके घटते हैं। क्योंकि ये दोनों ही सत् पदार्थके ही हो सकते हैं।

आस्तामसदुत्पादः सतो विनाशस्तदन्वयादेशात्।
स्थूलत्वं च कृशत्वं न गुणस्य च निजप्रमाणत्वात् ॥ १९८ ॥

अर्थ—अविच्छिन्न सन्तति देखनेसे गुणोंमें असत्की उत्पत्ति और सत्का विनाश तो दूर रहो। परन्तु उनमें अपने प्रमाणसे स्थूलता और कृशता (दुर्बलता) भी नहीं होती।

भावार्थ—ऊपर दो प्रकारकी शंकायें की गई थीं। उन दोनोंका ही उत्तर दिया जा चुका समान अविभाग प्रतिच्छेद होनेपर भी ज्ञान कभी घटाकार होता है, कभी लोकाकार होता है, वहां तो केवल परिणमनमें आकार भेद है, परन्तु जहां पर ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंमें न्यूनता अथवा वृद्धि होती है, वहां भी ज्ञानके अंशोंका नाश अथवा नवीन उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु ज्ञानावरण कर्मके निमित्तसे ज्ञानके अंशोंमें उद्भूति और अनुद्भूति (व्यक्तता और अव्यक्तता) होती रहती है। अधिक अंशोंके दब जानेसे वही ज्ञान दुर्बल कहा जाता है और अधिक अंशोंके प्रगट हो जानेसे वही ज्ञान सबल कहा जाता है। इसके सिवा ज्ञानमें और किसी प्रकारकी सबलता या निर्बलता नहीं आती है।

उत्पादादिके कहनेकी प्रतिज्ञा—

इति पर्यायाणामिह लक्षणमुक्तं यथास्थितं चाथ।
उत्पादादित्रयमपि प्रत्येकं लक्ष्यते यथाशक्ति ॥ १९९ ॥

अर्थ—इस प्रकार पर्यायोंका लक्षण, जैसा कुछ था कहा गया। अब उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका भिन्न २ स्वरूप यथाशक्ति कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पादस्थितिभङ्गाः पर्यायाणां भवन्ति किल न सतः ।
ते पर्याया द्रव्यं तस्माद्द्रव्यं हि *तत्त्रितयम् ॥ २०० ॥

अर्थ—उत्पाद, स्थिति, भङ्ग, ये तीनों ही पर्यायोंके होते हैं, पदार्थके नहीं होते, और उन पर्यायोंका समूह ही द्रव्य कहलाता है । इस लिये वे तीनों मिल कर द्रव्य कहलाते हैं ।

भावार्थ—यदि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य पदार्थके माने जावें तो पदार्थका ही नाश और उत्पाद होने लगेगा, परन्तु यह पहले कहा जा चुका है, कि न तो किसी पदार्थका नाश होता है, और न किसी पदार्थकी नवीन उत्पत्ति ही होती है इसलिये यह तीनों पदार्थकी अवस्थाओंके भेद हैं, और वे अवस्थाएं मिलकर ही द्रव्य कहलाती हैं, इस लिये तीनोंका समुदाय ही द्रव्यका पूर्ण स्वरूप है ।

उत्पादका स्वरूप—

तत्रोत्पादोऽवस्था प्रत्यग्रं परिणतस्य तस्य सतः ।
सदसद्भावनिबद्धं तदतद्भावत्ववन्नयादेशात् ॥ २०१ ॥

अर्थ—उन तीनोंमें परिणमन शील द्रव्यकी नवीन अवस्थाको उत्पाद कहते हैं । यह उत्पाद भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सत् और असत् भावसे विशिष्ट है ।

व्ययका स्वरूप—

अपि च व्ययोपि न सतो व्ययोप्यवस्थाव्ययः सतस्तस्य ।
प्रध्वंसाभावः सच्च परिणामित्वात्सतोप्यवश्यं स्यात् ॥ २०२ ॥

अर्थ—तथा व्यय भी पदार्थका नहीं होता है, किन्तु उसी परिणमन शील द्रव्यकी अवस्थाका व्यय होता है । इसीको ÷प्रध्वंसाभाव कहते हैं । यह प्रध्वंसाभाव परिणमनशील द्रव्यके अवश्य होता है ।

---

* पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् । १॥
अष्टसहस्री

जिसके दूध पीनेका व्रत है वह दही नहीं खाता है, जिसके दही खानेका व्रत है वह दूध नहीं पीता है, जिसके अगोरस व्रत है वह दूध दही, दोनोंको नहीं ग्रहण करता है । इसलिये तत्त्व त्रयात्मक है ।

÷ नैयायिकोंने जिस प्रकार तुच्छाभावको स्वतन्त्र पदार्थ माना है उस प्रकार जैन सिद्धान्त अभावको स्वतन्त्र-तुच्छरूप नहीं मानता । जैन मतमें वर्तमान समय सम्बन्धी पर्यायका वर्तमान समयसे पहले अभावको प्रागभाव कहते हैं । तथा उसीके वर्तमान समयसे पीछे अभावको प्रध्वंसाभाव कहते हैं । द्रव्यकी एक पर्यायके सजातीय अन्य पर्यायमें अभावको अन्योन्याभाव कहते हैं । और उसीके विजातीय पर्यायमें अभावको अत्यन्ताभाव कहते हैं । यह चारों प्रकारका ही अभाव पर्यायरूप है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्रौव्यका स्वरूप—

ध्रौव्यं सतः कथंचित् पर्यायार्थाच्च केवलं न सतः ।
उत्पादव्ययवदिदं तच्चैकांशं न सर्वदेशं स्यात् ॥ २०३ ॥

अर्थ—ध्रौव्य भी कथंचित् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे पदार्थके होता है। पर्यायदृष्टिको छोड़कर केवल पदार्थका ध्रौव्य नहीं होता है, किन्तु उत्पाद और व्ययकी तरह वह भी एक अंश स्वरूप है। सर्वांश रूप नहीं है।

भावार्थ—जिस प्रकार उत्पाद और व्यय द्रव्यदृष्टिसे नहीं होते हैं उस प्रकार ध्रौव्य भी द्रव्य दृष्टिसे नहीं होता है किन्तु वह भी पर्याय दृष्टिसे होता है, इसीलिये उसको भी वस्तुका एक अंशरूप कह गया है। यदि तीनोंको द्रव्यदृष्टिसे ही माना जाय तो वस्तु सर्वथा अनित्य और सर्वथा नित्य ठहरेगी।

ध्रौव्यका ही स्वरूपान्तर—

तद्भावाव्ययमिति वा ध्रौव्यं तत्रापि सम्यगयमर्थः ।
यः पूर्वं परिणामो भवति स पश्चात् स एव परिणामः ॥२०४॥

अर्थ—ध्रौव्यका लक्षण " तद्भावाव्ययम् " यह भी कहा गया है, उसका भी यही उत्तम अर्थ है कि वस्तुके भावका नाश नहीं होता, अर्थात् जो वस्तुका पहले परिणाम है, वही परिणाम पीछे भी होता है।

दृष्टान्त—

पुष्पस्य यथा गन्धः परिणामः परिणमँश्च गन्धगुणः ।
नापरिणामी गन्धो न च निर्गन्धाद्धि गन्धवत्पुष्पम् ॥ २०५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पुष्पका गन्ध परिणाम है, और गन्ध गुण भी परिणामी है, वह भी प्रतिक्षण परिणमन करता है, वह अपरिणामी नहीं है, परन्तु ऐसा नहीं है कि पहले पुष्प गन्ध रहित हो और पीछे गन्ध सहित हुआ हो।

भावार्थ—गन्ध गुण परिणमन शील होनेपर भी वह पुष्पमें सदा पाया जाता है, उसका कभी पुष्पमें अभाव नहीं है, बस इसीका नाम ध्रौव्य है, जो गन्धपरिणाम पहले था वही पीछे रहता है।

नित्य और अनित्यका विचार—

तत्रानित्यनिदानं ध्वंसोत्पादद्वयं सतस्तस्य ।
नित्यनिदानं ध्रुवमिति तत्त्रयमप्यंशभेदः स्यात् ॥२०६॥

अर्थ—उन तीनोंमें उत्पाद और व्यय ये दो तो उस परिणामी द्रव्यमें अनित्यताके कारण हैं और ध्रुव (ध्रौव्य) नित्यताका कारण है, ये तीनों ही एक २ अंशरूपसे भिन्न हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशङ्का—

न च सर्वथा हि नित्यं किञ्चित्सत्त्वं गुणो न कश्चिदिति ।
तस्मादतिरिक्तौ द्वौ परिणतिमात्रौ व्ययोत्पादौ ॥ २०७ ॥

अर्थ—कोई ऐसी आशंका न करै कि द्रव्यमें सत्त्व तो सर्वथा नित्य है बाकी का कोई गुण नित्य नहीं है, और उससे सर्वथा भिन्न परिणतिमात्र उत्पाद, व्यय दोनों हैं । क्योंकि—

उत्तर—

सर्वं विप्रतिपन्नं भवति तथा सति गुणो न परिणामः ।
नापि द्रव्यं न सदिति पृथक्त्वदेशानुषङ्गत्वात् ॥ २०८ ॥

अर्थ—ऊपर कही हुई आशंकाके अनुसार माननेपर सभी विवादकोटिमें आजायगा । प्रदेश भेद माननेसे न गुणकी सिद्धि होगी न पर्यायकी सिद्धि होगी । न द्रव्यकी, और न सत् की ही सिद्धि होगी । क्योंकि भिन्न २ स्वीकार करनेसे एक भी (कुछ भी) सिद्ध नहीं होता ।

दूसरा दोष—

अपि चैतद्दूषणमिह यन्नित्यं तद्धि नित्यमेव तथा ।
यदनित्यं तदनित्यं नैकस्यानेकधर्मत्वम् ॥ २०९ ॥

अर्थ—उत्पाद, व्ययको सर्वथा भिन्न पर्यायमात्र माननेसे और द्रव्यको उससे भिन्न सर्वथा नित्य माननेसे यह भी दूषण आता है कि जो नित्य है वह सदा नित्य ही रहेगा, और जो अनित्य है वह सदा अनित्य ही रहेगा क्योंकि एकके अनेक धर्म नहीं हो सक्ते ।

भावार्थ—द्रव्यको अनेक धर्मात्मक माननेपर तो कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्यकी व्यवस्था बन जाती है और सर्वथा भिन्नतामें वस्तुको एक धर्मात्मक स्वीकार करने पर सम्पूर्ण व्यवस्था विघटित हो जाती है ।

तीसरा दोष—

अपि चैकमिदं द्रव्यं गुणोयमेवेति पर्ययोऽयं स्यात् ।
इति काल्पनिको भेदो न स्याद्द्रव्यान्तरत्ववन्नियमात् ॥२१०॥

अर्थ—भिन्नतामें यह द्रव्य है, यह गुण है यह पर्याय है, ऐसा काल्पनिक भेद जो होता है वह भी उठ जायगा, क्योंकि भिन्नतामें द्रव्यान्तरकी तरह सभी भिन्न २ द्रव्य कहलावेंगे ।

शङ्काकार—

ननु भवतु वस्तु नित्यं गुणाश्च नित्या भवन्तु वार्धिरिव ।
भावाः कल्लोलादिवदुत्पन्नध्वंसिनो भवन्त्विति चेत् ॥ २११ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—द्रव्य और गुण समुद्रकी तरह नित्य हैं और पर्यायें तरंगोंकी तरह उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं ऐसा माननेमें क्या दोष है ?

उत्तर—

तन्न यतो दृष्टान्तः प्रकृतार्थस्यैव बाधको भवति ।
अपि तदनुक्तस्यास्य प्रकृतविपक्षस्य साधकत्वाच्च ॥ २१२ ॥

अर्थ—शङ्काकारकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जो दृष्टान्त समुद्र और तरंगोंका उसने दिया है वह उसके प्रकृत अर्थका बाधक हो जता है और उसके अभिप्रायसे विरुद्ध—(विपक्ष) अर्थका साधक हो जाता है । किस प्रकार ? सो नीचे कहा जाता हैं—

अर्थान्तरं हि न सतः परिणामेभ्यो गुणस्य कस्यापि ।
एकत्वाज्जलधेरिव कलितस्य तरङ्गमालाभ्यः ॥ २१३ ॥

जिस प्रकार तरंग मालाओंसे खचित समुद्र एक ही है ऐसा ही नहीं है कि तरंगें समुद्रसे भिन्न हों और समुद्र उनसे भिन्न हो, किन्तु तरंगोंसे डोलायमान होनेवाला समुद्र अभिन्न है, उसी प्रकार सत् (द्रव्य) से भिन्न गुण और पर्यायें पदार्थान्तर नहीं हैं ।

स्पष्ट अर्थ—

किन्तु य एव समुद्रस्तरङ्गमाला भवन्ति ता एव ।
यस्मात्स्वयं स जलधिस्तरङ्गरूपेण परिणमति ॥ २१४ ॥

अर्थ—किन्तु ऐसा है कि जो समुद्र है वे ही तरङ्गमालायें हैं क्योंकि स्वयं वह समुद्र ही तरंगरूप परिणाम धारण करता है ।

दार्ष्टान्त

तस्मात्स्वयमुत्पादः सदिति ध्रौव्यं व्ययोपि वा सदिति ।
न सतोऽतिरिक्त एव हि व्युत्पादो वा व्ययोपि वा ध्रौव्यम् ॥२१५॥

अर्थ—इसलिये (अथवा इसी प्रकार) स्वयं सत् ही उत्पाद है, स्वयं सत् ही व्यय है, और वही स्वयं ध्रौव्य है । सत्से भिन्न न कोई उत्पाद है, न व्यय है, और न ध्रौव्य है ।

अथवा—

यदि वा शुद्धत्वनयान्नाप्युत्पादो व्ययोपि न ध्रौव्यम् ।
गुणश्च पर्यय इति वा न स्याच्च केवलं सदिति ॥ २१६ ॥

अर्थ—अथवा भेद विकल्प निरपेक्ष-शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे न कोई उत्पाद है, न व्यय है, न ध्रौव्य है, न गुण है और न पर्याय है । केवल सन्मात्र ही वस्तु है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारांश—

अयमर्थो यदि भेदः स्यादुन्मज्जति तदा हि तत्त्रितयम् ।
अपि तत्त्रितयं निमज्जति यदा निमज्जति स मूलतो भेदः ॥ २१७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका यही सारांश है कि यदि भेदबुद्धि रक्खी जाती है तब तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों ही सत् के अंशरूपसे प्रगट हो जाते हैं, और यदि मूलसे भेद बुद्धिको ही दूर कर दिया जाय, तब तीनोंही सन्मात्र वस्तुमें लीन हो जाते हैं ।

भावार्थ—भेद विकल्पसापेक्ष—अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे वही सत् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप परिणमन करता है और भेद विकल्प निरपेक्ष—शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे वही सत् केवल सन्मात्र ही प्रतीत होता है ।

शङ्काकार—

ननु चोत्पादध्वंसौ द्वावप्यंशात्मकौ भवेतां हि ।
ध्रौव्यं त्रिकालविषयं तत्कथमंशात्मकं भवेदिति चेत् ॥ २१८ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि उत्पाद और ध्वंस (व्यय) ये दोनों ही अंशात्मक—अंश स्वरूप रहो, परन्तु ध्रौव्य तो सदा रहता है वह किस प्रकार अंश रूप हो सक्ता है ?

उत्तर—

नैवं यतस्त्रयोंशाः स्वयं सदेवेति वस्तुतो न सतः ।
नैवार्थान्तरवदिदं प्रत्येकमनेकमिह सदिति ॥ २१९ ॥

अर्थ—ऊपर की हुई शंका ठीक नहीं है, क्योंकि ये तीनों ही अंश स्वयं सत् स्वरूप हैं । वास्तवमें सत् के नहीं हैं और न पदार्थान्तरकी तरह ही अंश रूप हैं । किन्तु स्वयं सत् ही प्रत्येक अंश रूप है ।

भावार्थ—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों ही सत्के उसप्रकार अंश नहीं है, जिस प्रकार कि वृक्षके फल, पुष्प पत्ते आदि होते हैं, किन्तु स्वयं सत् ही उत्पादादि स्वरूप है ।

उदाहरण—

तत्रैतदुदाहरणं यदुत्पादेन लक्ष्यमाणं सत् ।
उत्पादेन परिणतं केवलमुत्पादमात्रमिह वस्तु ॥ २२० ॥

अर्थ—इस विषयमें यह उदाहरण है कि यदि सत् उत्पादका लक्ष्य बनाया जाता है अर्थात् वह उत्पाद रूप परिणाम धारण करता है तो वह केवल उत्पाद मात्र है ।

अथवा—

यदि वा व्ययेन नियतं केवलमिह सदिति लक्ष्यमाणं स्यात् ।
व्ययपरिणतं च सदिति व्ययमात्रं किल कथं हि तन्न स्यात् ॥ २२१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—अथवा यदि वह सत् केवल व्ययका लक्ष्य बनाया जाता है, अर्थात् वह व्यय परिणामको धारण करता है तो वह सत् केवल व्यय मात्र ही है ।

अथवा—

ध्रौव्येण परिणतं सद्यदि वा ध्रौव्येण लक्ष्यमाणं स्यात् ।
उत्पादव्ययवदिदं स्यादिति तद् ध्रौव्यमात्रं सत् ॥ २२२ ॥

अर्थ—यदि सत् ध्रौव्य परिणामको धारण करता है अथवा वह ध्रौव्यका लक्ष्य बनाया जाता है, तब उत्पाद व्यय के समान वह सत् ध्रौव्य मात्र है ।

भावार्थ—उपर्युक्त तीनों श्लोकोंमें इस बातका निषेध किया गया है कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सत्से भिन्न हैं अथवा सत्के एक २ भागसे होनेवाले अंश हैं । साथ ही यह बतलाया गया है कि तीनों ही सत् स्वरूप हैं और तीनोंही एक साथ होते हैं । परन्तु जिसकी विवक्षा की जाय अथवा जिसका लक्ष्य बनाया जाय सत् उसी स्वरूप है । सत् ही स्वयं उत्पाद स्वरूप है, सत् ही व्यय स्वरूप है और सत् ही ध्रौव्य स्वरूप है ।

दृष्टान्त—

संदृष्टिर्मृद्द्रव्यं सता घटेनेह लक्ष्यमाणं सत् ।
केवलमिह घटमात्रमसता पिण्डेन पिण्डमात्रं स्यात् ॥ २२३ ॥

अर्थ—दृष्टान्त के लिये मिट्टी द्रव्य है । जिस × समय वह मिट्टी सत् स्वरूप घटका लक्ष्य होती है । उस समय वह केवल घट मात्र है और जिस समय वह असत् स्वरूप पिण्ड का लक्ष्य होती है, तब पिण्ड मात्र है ।

यदि वा तु लक्ष्यमाणं केवलमिह मृच्च मृत्तिकात्त्वेन ।
एवं चैकस्य सतो व्युत्पादादित्रयश्च तत्रांशाः ॥ २२४ ॥

अर्थ—यदि वह मिट्टी मिट्टीपनेका ही केवल लक्ष्य बनाई जाती है तब वह केवल मिट्टी मात्र है । इस प्रकार एक ही सत् (द्रव्य) के उत्पाद व्यय ध्रौव्य, ऐसे तीन अंश होते हैं ।

न पुनः सतो हि सर्गः केनचिदंशैकभागमात्रेण ।
संहारो वा ध्रौव्यं वृक्षे फलपुष्पपत्रवन्न स्यात् ॥ २२५ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि सत् (द्रव्य) का ही किसी एक भागसे उत्पाद हो, और उसीका किसीएक भागसे व्यय हो, और उसीका एक भागसे ध्रौव्य रहता हो। जिस प्रकार कि वृक्षके एक भागमें फल हैं तथा एक भागमें पुष्प हैं और उसके एक भागमें पत्ते हैं । किन्तु ऐसा है कि सत् ही उत्पाद रूप है, सत् ही व्यय रूप है, और सत् ही ध्रौव्य स्वरूप है ।

× यहांपर 'जिस समय' से आशय केवल विवक्षासे है। जैसी विवक्षा होती है मिट्टी उसी स्वरूप समझीजाती है। वास्तवमें तीनोंका समयभेद नहीं है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शङ्काकार—

ननु चोत्पादादित्रयमंशानामथ किमंशिनो वा स्यात् ।
अपि किं सदंशमात्रं किमथांशमसदस्ति पृथगिति चेत् ॥२२६॥

अर्थ—क्या उत्पादादिक तीनों ही अंशोंके होते हैं ? अथवा अंशीके होते हैं ? अथवा सत्के अंश मात्र हैं ? अथवा असत्–अंश रूप भिन्न २ हैं ?

उत्तर—

तन्न यतोऽनेकान्तो बलवानिह खलु न सर्वथैकान्तः ।
सर्वं स्यादविरुद्धं तत्पूर्वं तद्विना विरुद्धं स्यात् ॥ २२७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है । क्योंकि यहां पर (जैन दर्शनमें) नियमसे अनेकान्त ही बलवान् है । सर्वथा एकान्त नहीं । यदि ऊपर किये हुए प्रश्न अनेकान्त दृष्टिसे किये गये हैं तो सभी कथन अविरुद्ध है । किसी दृष्टिसे कुछभी कहा जाय, उसमें विरोध नहीं आसक्ता । और अनेकान्तको छोड़कर केवल एकान्त रूपसे ही उपर्युक्त प्रश्न किये गये हैं तो अवश्य ही एक दूसरेके विरोधी हैं । इसलिये अनेकान्त पूर्वक सभी कथन अविरुद्ध है। और वही कथन उसके विना विरुद्ध है ।

भावार्थ—जैन दर्शन प्रमाणनयात्मक है । जिस किसी पदार्थका किसी रूप विवेचन क्यों न किया जाय, नयदृष्टिसे सभी संगत हो जाता है। वही कथन अपेक्षादृष्टिको छोड़कर किया जाय तो असंगत हो जाता है । यहां पर कोई यह शंका न कर बैठे कि कभी किसी बातको कभी किसी रूप कहनेसे और कभी किसी रूप कहनेसे जैन दर्शन किसी बातका निर्णायक नहीं है किन्तु संशयात्मक है । ऐसा कहनेवालोंको थोड़ा सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करना चाहिये । जैन दर्शन संशयात्मक नहीं किन्तु वस्तुके यथार्थ स्वरूपका कहनेवाला है । वस्तु एक धर्मात्मक नहीं है, किन्तु अनेक धर्मात्मक है । इसलिये वह अनेक रूपसे ही कही जाती है । एक रूपसे कहना उसके स्वरूपको बिगाड़ना है । संशय उभयकोटिमें समान ज्ञान होनेसे होता है । यहां पर उभय कोटिमें समान ज्ञान नहीं है । यद्यपि एक ही पदार्थको अनेक धर्मों द्वारा कहा जाता है परन्तु जिस दृष्टिसे जो धर्म कहा जाता है उस दृष्टिसे वह सदा वैसा ही है । उस दृष्टिसे वह सदा एक धर्मात्मक ही है । दृष्टान्तके लिये पुस्तकको ही ले लीजिये । पुस्तक भाव रूप भी है और अभावरूप भी है । अपने स्वरूपकी अपेक्षासे तो वह भाव रूप है और पर-पदार्थोंकी अपेक्षासे वह अभावरूप है । ऐसा नहीं है कि कभी अपने स्वरूपकी अपेक्षासे भी वह अभावरूप कही जाय । अथवा पर-पदार्थोंकी अपेक्षासे भी कभी भावरूप कही जाय । इसलिये नय समुदाय-प्रमाणसे तो वस्तु भावरूप भी है, अभावरूप भी है । परन्तु नय दृष्टिसे जिस रूपसे भावरूप है उस रूपसे सदा भावरूप ही है और जिस दृष्टिसे अभावरूप है उससे सदा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभावरूप ही है । इसलिये स्याद्वादको वे ही तर्कशास्त्री संशयात्मक कह सकते हैं जिन्होंने न तो संशयका ही स्वरूप समझा है और न स्याद्वादका ही स्वरूप समझा है । इसी प्रकार जो *लोग " नैकस्मिन्नसंभवात् " अर्थात् एक पदार्थमें दो विरोधी धर्म नहीं रह सकते हैं ऐसा कहकर स्याद्वाद स्वरूप जैन दर्शनको असत्यात्मक ठहराते हैं वे भी पदार्थके यथार्थ बोधसे कोसों दूर हैं अस्तु। क्या हमें वे यह समझा देंगे कि पुस्तकको पुस्तक ही क्यों कहते हैं ? पुस्तकको दावात क्यों नहीं कहते ? कलम क्यों नहीं कहते ? चौकी क्यों नहीं कहते ? दीपक क्यों नहीं कहते ? यदि वे इस प्रश्नके उत्तरमें यह कहें कि पुस्तकमें पुस्तकत्व ही धर्म रहता है इसलिये वह पुस्तक ही कही जाती है । उसमें दावातत्व धर्म नहीं है, कलमत्व धर्म नहीं है, चौकीत्व धर्म नहीं है दीपकत्व धर्म नहीं है इसलिये वह पुस्तक दावात, कलम, चौकी, दीपक नहीं कही जाती है, अर्थात् पुस्तकमें पुस्तकत्व धर्मके सिवा इतर जितने भी उससे भिन्न पदार्थ हैं, सबोंका पुस्तकमें अभाव है । इसीप्रकार हरएक पदार्थमें अपने स्वरूपको छोड़कर बाकी सब पदार्थोंके स्वरूपका अभाव रहता है । यदि अन्य पदार्थोंके स्वरूपका भी सद्भाव हो तो एक पदार्थमें सभी पदार्थोंकी सङ्करताका दोष आता है और यदि पदार्थमें स्व–स्वरूपका भी अभाव हो तो पदार्थके अभावका ही प्रसंग आता है । इसलिये स्व–स्वरूपकी अपेक्षासे भाव और पर–स्वरूपकी अपेक्षासे अभाव ऐसे हरएक पदार्थमें दो धर्म रहते हैं । बस इसी उत्तरसे दो विरोधी धर्मोंका एक पदार्थमें अभाव बतलानेवाले तर्कशास्त्री स्वयं समझ गये होंगे कि एक पदार्थमें भाव-धर्म और अभाव धर्म दोनों ही रहते हैं । इनके स्वीकार किये विना तो पदार्थका स्वरूप ही नहीं बनता । इसलिये अनेकान्त पूर्वक सभी कथन अविरुद्ध और उसके विना विरुद्ध है । यहांपर यह शंका करना भी व्यर्थ है कि भाव और अभाव दोनों विरोधी हैं फिर एक पदार्थमें दोनों कैसे रह सक्ते हैं ? इसका उत्तर ऊपर कहा भी जाचुका है । दूसरे–जिसको विरोध× बतलाया जाता है वह वास्तवमें विरोध ही नहीं है । पदार्थका स्वरूप ही ऐसा है । " स्वभावोऽतर्कगोचरः " अर्थात् किसीके स्वभावमें तर्क काम नहीं करता है । अग्निका स्वभाव उष्ण है । वहां अग्नि उष्ण क्यों है ? " यह प्रश्न व्यर्थ है, प्रत्यक्ष बाधित है ।

---

* शङ्कराचार्य मतके अनुयायी ।

× विरोध तीन प्रकार होता है । १ सहानवस्थान २ प्रतिबन्ध्य प्रतिबन्धक ३ बध्यघातक । इन तीनोंमेंसे भावाभावमें एक भी नहीं है । विशेष बोधके लिये इस कारिकाको देखो–

कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत् ।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥ १ ॥

तत्र सत्त्वं वस्तुधर्मः तदनुपगमे वस्तुनो वस्तुत्वायोगात् खरविषाणादिवत् । तथा **कथञ्चिदसत्त्वं वस्तुधर्मः** । स्वरूपादिभिरिव पररूपादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ प्रतिनियतस्वरूपाभावाद्वस्तुप्रतिनियमविरोधात् । एतेन क्रमार्पितोभयत्वादीनां वस्तुधर्मत्वं प्रतिपादितम् । **अष्टसहस्री**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊपर की हुई शङ्काका खुलासा उत्तर—

केवलमंशानामिह नाप्युत्पादो व्ययोपि न ध्रौव्यम् ।
नाप्यंशिनस्त्रयं स्यात् किमुतांशेनांऽशिनो हि तत्त्रितयम् ॥ २२८ ॥

अर्थ—केवल अंशोंके ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नहीं होते हैं और न केवल अंशीके ही तीनों होते हैं । किन्तु अंशी के अंश रूपसे उत्पादादिक तीनों होते हैं ।

शङ्काकार—

ननु चोत्पादध्वंसौ स्यातामन्वर्थतोऽथ वाङ्मात्रात ।
दृष्टविरुद्धत्वादिह ध्रुवत्वमपि चैकस्य कथमिति चेत् ॥ २२९ ॥

अर्थ—एक पदार्थ के उत्पाद और ध्वंस भले ही हों; परन्तु उसी पदार्थ के ध्रौव्य भी होता है, यह बात वचन मात्र है, और प्रत्यक्ष बाधित है । एक ही पदार्थ के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनों किस प्रकार हो सक्ते हैं ?

उत्तर—

सत्यं भवति विरुद्धं क्षणभेदो यदि भवेत्त्रयाणां हि ।
अथवा स्वयं सदेव हि नश्यत्युत्पद्यते स्वयं सदिति ॥ २३० ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना तभी ठीक हो सक्ता है अथवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीनोंका एक पदार्थमें तभी विरोध आसक्ता है जब कि इन तीनोंका क्षण भेद हो । अथवा यदि स्वयं सत् ही नष्ट होता हो, और सत् ही उत्पन्न होता हो तब भी इन तीनोमें विरोध आ सक्ता है ।

क्वापि कुतश्चित् किञ्चित् कस्यापि कथञ्चनापि तन्न स्यात् ।
तत्साधकप्रमाणाभावादिह सोप्यदृष्टान्तात् ॥ २३१ ॥

अर्थ—परन्तु ऐसा कहीं किसी कारणसे किसीके किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी नहीं होता है । उत्पाद भिन्न समयमें होता हो, व्यय भिन्न समयमें होता हो, और ध्रौव्य भिन्न समयमें होता हो इस प्रकार तीनोंके क्षण भेदको सिद्ध करनेवाला न तो कोई प्रमाण ही है, और न कोई उसका साधक दृष्टान्त ही है ।

शङ्काकार—

ननु च स्वावसरे किल सर्गः सर्गैकलक्षणत्वात् स्यात् ।
संहारः स्वावसरे स्यादिति संहारलक्षणत्वाद्वा ॥ २३२ ॥
ध्रौव्यं चात्मावसरे भवति ध्रौव्यैकलक्षणात्तस्य ।
एवं क्षणभेदः स्याद्बीजाङ्कुरपादपत्ववत्क्वचित्तिचेत् ॥ २३३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—उत्पाद अपने समयमें होता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति होना ही एक लक्षण है। व्यय अपने समयमें होता है, क्योंकि संहार होना ही उसका लक्षण है। इसी प्रकार ध्रौव्य भी अपने समयमें होता है, क्योंकि उसका ध्रुव रहना ही स्वरूप है। जिस प्रकार बीज अङ्कुर और वृक्ष, इनका भिन्न २ लक्षण है उसी प्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका भी भिन्न २ लक्षण है।

भावार्थ—भिन्न २ लक्षण होनेसे तीनोंका भिन्न २ समय है ?

उत्तर—

तन्न यतः क्षणभेदो न स्यादेकसमयमात्रं तत् ।
उत्पादादित्रयमपि हेतोः संदृष्टितोपि सिद्धत्वात् ॥ २३४ ॥

अर्थ—लक्षणभेद होनेसे तीनोंको भिन्न २ समयमें मानना ठीक नहीं है क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनोंका समयभेद नहीं है। तीनों एक ही समयमें होते हैं। यह बात हेतु और दृष्टान्तसे भली भाँति सिद्ध है। इसीका खुलासा नीचे किया जाता है—

अथ तद्यथा हि बीजं बीजावसरे सदेव नासदिति ।
तत्र व्ययो न सत्वाद्व्ययश्च तस्मात्सदङ्कुरावसरे ॥ २३५ ॥

अर्थ—बीज अपनी पर्यायके समयमें है। बीज पर्यायके समय बीजका अभाव नहीं कहा जा सक्ता। बीज पर्यायके समय बीज पर्यायका व्यय भी नहीं कहा जा सक्ता किन्तु अङ्कुरपर्यायके उत्पाद-समयमें बीज पर्यायका व्यय कहा जा सक्ता है।

बीजावस्थायामपि न स्यादङ्कुरभवोस्ति वाऽसदिति ।
तस्मादुत्पादः स्यात्स्वावसरे चाङ्कुरस्य नान्यत्र ॥ २३६ ॥

अर्थ—जो समय बीज पर्यायका है, वह अङ्कुरकी उत्पत्तिका नहीं कहा जासक्ता। बीज पर्यायके समय अङ्कुरके उत्पादका अभाव ही हैं। इस लिये अङ्कुरका उत्पाद भी अपने ही समयमें होगा, अन्य समयमें नहीं।

यदि वाबीजाङ्कुरयोरविशेषात् पादपत्वमिति वाच्यम् ।
नष्टोत्पन्नं न तदिति नष्टोत्पन्नं च पर्यायाभ्यां हि ॥ २३७ ॥

अर्थ—अथवा बीज और अङ्कुर इन दोनों को सामान्य रीतिसे यदि वृक्ष कहा जाय तो वृक्ष न तो उत्पन्न हुआ, और न वह नष्ट हुआ, किन्तु बीज पर्यायसे नष्ट हुआ है, और अङ्कुर पर्यायसे उत्पन्न हुआ है।

सारांश—

आयातं न्यायबलादेतद्यत्त्रितयमेककालं स्यात् ।
उत्पन्नमङ्कुरेण च नष्टं बीजेन पादपत्वं तत् ॥२३८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ——यह बात न्यायबलसे सिद्ध हो चुकी कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनोंका एक ही* काल है । वृक्षका अङ्कुर रूपसे जिस समय उत्पाद हुआ है, उसी समय उसका बीज रूपसे व्यय हुआ है, और वृक्षपना दोनों अवस्थाओंमें मौजूद है ।

भावार्थ——ऊपरके तीनों श्लोकोंका सारांश इस प्रकार है—जो बीज पर्यायका समय है वह उसके व्ययका समय नहीं है । क्योंकि उसीका सद्भाव और उसीका अभाव दोनों एक ही समयमें नहीं हो सक्ते हैं । किन्तु जोअङ्कुरके उत्पादका समय है वही बीज पर्यायके नाशका समय है। ऐसा भी नहीं है कि बीज पर्याय और अङ्कुरोत्पाद, इन दोनोंके बीचमें बीज पर्यायका नाश होता हो । ऐसा माननेसे पर्याय रहित द्रव्य ठहरेगा । क्योंकि बीजका तो नाश होगया, अभी अङ्कुर पैदा नहीं हुआ है । उस समय कौनसी पर्याय मानी जावेगी ? कोई नहीं । तो अवश्य ही पर्याय शून्य द्रव्य ठहरेगा । पर्यायके अभावमें पर्यायीका अभाव स्वयं सिद्ध है । इसलिये जिस समय अङ्कुरका उत्पाद होता है उसी समय बीजपर्यायका नाश होता है । दूसरे शब्दोंमें यों भी कहा जा सक्ता है कि जो बीजपर्यायका नाश है वही अङ्कुरका उत्पाद है । इसका यह अर्थ नहीं है कि नाश और उत्पाद दोनोंका एक ही अर्थ है, यदि दोनोंका एक ही अर्थ हो तो जिसका नाश है उसीका उत्पाद कहना चाहिये । परन्तु ऐसा नहीं है नाश तो बीजका होता है और उत्पाद अङ्कुरका होता है परन्तु नाश और उत्पाद, दोनोंकी फलित पर्याय एक ही है । ऐसा भी नहीं है कि जो बीजपर्यायका समय है वही अङ्कुरके उत्पादका समय है । ऐसा माननेसे एक ही समयमें दो पर्यायोंकी सत्ता माननी पड़ेगी। और एक समयमें दो पर्यायोंका होना प्रमाणबाधित है । इसलिये बीजपर्यायके समय अङ्कुरका उत्पाद नहीं होता है । किन्तु जो बीजपर्यायके नाशका समय है वही अंकुरके उत्पादका समय है । और बीजनाश तथा अंकुरोत्पाद दोनों ही अवस्थाओंमें वृक्षपनेका सद्भाव है । वृक्षका जिस समय बीजपर्यायसे नाश हुआ है, उसी समय उसका अंकुरपर्यायसे उत्पाद हुआ है । वृक्षका सद्भाव दोनों ही अवस्थाओंमें है । इसलिये यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो गई कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनोंका एक ही समय है । भिन्न समय नहीं है ।

---

* घटमौलिसुवर्णार्थीनाशोत्पादस्थितिष्वयम्, शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनोयाति सहेतुकम् ।
अष्टसहस्री

अर्थात् एक पुरुषको सोनेके घड़ेकी आवश्यकता थी दूसरेको कपालों (घड़ेके टुकड़े) की आवश्यकता थी तीसरेको सोनेकी ही आवश्यकता थी, तीनों एक सेठके यहां पहुंचे, सेठके यहां एक सोनेका घड़ा रक्खा था, परन्तु जिस समय ये तीनों ही पहुंचे, उसी समय वह घड़ा ऊपरसे गिरकर फूट गया । घड़ेके फूटते ही तीनोंके एक ही क्षणमें तीन प्रकारके परिणाम हो गये । घटार्थीको शोक, कपालार्थीको हर्ष और सामान्य स्वर्णार्थीको मध्यस्थता । इसी प्रकार उत्पादादि तीनों एक ही क्षणमें होते हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर भी खुलासा—

अपि चाङ्कुरसृष्टेरिह य एव समयः स बीजनाशस्य ।
उभयोरप्यात्मत्वात् स एव कालश्च पादपत्वस्य ॥ २३९ ॥

अर्थ—जो अंकुरकी उत्पत्तिका समय है । वही समय बीजके नाशका है, और अंकुरका उत्पाद तथा बीजका नाश दोनों ही वृक्ष स्वरूप हैं । इस लिये जो समय बीजके नाश और अंकुरके उत्पादका है वही समय वृक्षके ध्रौव्यका है ।

सारांश—

तस्मादनवद्यमिदं प्रकृतं तत्त्वस्य चैकसमये स्यात् ।
उत्पादादित्रयमपि पर्यायार्थान्न सर्वथापि सतः ॥ २४० ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सर्वथा निर्दोष सिद्ध हो गई कि सत् (पदार्थ)के एक समयमें ही उत्पादादिक तीनों होते हैं वे भी पदार्थके पर्यायदृष्टिसे होते हैं, पर्यायनिरपेक्ष पदार्थके नहीं होते ।

विरोध संभावना—

भवति विरुद्धं हि तदा यदा सतः केवलस्य तत्त्रितयम् ।
पर्ययनिरपेक्षत्वात् क्षणभेदोपि च तदैव सम्भवति ॥ २४१ ॥

अर्थ—जिस सम उत्पाद आदि तीनों, पर्यायनिरपेक्ष केवल पदार्थके ही माने जांयगे उस समय अवश्य ही तीनोंका एक साथ विरोध होगा, और उसी समय उनके समय भेदकी संभावना भी है ।

अथवा—

यदि वा भवति विरुद्धं तदा यदाप्येकपर्ययस्य पुनः ।
अस्त्युत्पादो यस्य व्ययोपि तस्यैव तस्य वै ध्रौव्यम् ॥ २४२ ॥

अर्थ—अथवा तब भी विरोध होगा जब कि जिस एक पर्यायका उत्पाद है, उसीका व्यय भी माना जाय, और उसी एक पर्यायका ध्रौव्य भी माना जाय ।

उत्पादादिकका अविरुद्ध स्वरूप—

प्रकृतं सतो विनाशः केनचिदन्येन पर्ययेण पुनः ।
केनचिदन्येन पुनः स्यादुत्पादो ध्रुवं तदन्येन ॥ २४३ ॥

अर्थ—प्रकृतमें ऐसा है कि किसी अन्य पर्यायसे सत्का विनाश होता है, तथा किसी अन्य पर्यायसे उसका उत्पाद होता है, और किसी अन्य पर्यायसे ही उसका ध्रौव्य होता है ।

दृष्टान्त—

संदृष्टिः पादपवत् स्वयमुत्पन्नः सदङ्कुरेण यथा ।
नष्टो बीजेन पुनर्ध्रुवमित्युभयत्र पादपत्वेन ॥ २४४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—वृक्षका दृष्टान्त स्पष्ट है । जिस प्रकार वृक्ष सत् रूप अंकुर से स्वयं उत्पन्न होता है, बीज रूपसे नष्ट होता है और वह वृक्षपनेसे दोनों जगह ध्रुव है ।

न हि बीजेन विनष्टः स्यादुत्पन्नश्च तेन बीजेन ।
ध्रौव्यं बीजेन पुनः स्यादित्यध्यक्षपक्षवाध्यत्वात् ॥ २४५ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि वृक्ष बीजरूपसे ही तो नष्ट होता हो, उसी बीज रूपसे वह उत्पन्न होता हो और उसी बीज रूपसे वह ध्रुवभी रहता हो क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष बाधित है ।

सत् ही उत्पाद व्यय स्वरूप है—

उत्पादव्ययययोरपि भवति यदात्मा स्वयं सदेवेति ।
तस्मादेतद्द्वयमपि वस्तु सदेवेति नान्यदस्ति सतः ॥ २४६ ॥

अर्थ—उत्पाद और व्यय दोनोंका आत्मा (जीव भूत) स्वयं सत् ही है—इसलिये ये दोनों ही सद्वस्तुस्वरूप हैं । सत्से भिन्न ये दोनों कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है ।

उत्पादादिक पर्यायदृष्टि से ही हैं—

पर्यायादेशत्वादस्त्युत्पादो व्ययोस्ति च ध्रौव्यम् ।
द्रव्यार्थादेशत्वान्नाप्युत्पादो व्ययोपि न ध्रौव्यम् ॥ २४७ ॥

अर्थ—पर्यायार्थिक नयसे उत्पाद भी है, व्यय भी है, और ध्रौव्य भी है । द्रव्यार्थिक नय से न उत्पाद है, न व्यय है, और न ध्रौव्य है ।

शङ्काकार—

ननु चोत्पादेन सता कृतमसतैकेन वा व्ययेनाऽथ ।
यदि व ध्रौव्येण पुनर्यदवश्यं तत्त्रयेण कथमिति चेत् ॥ २४८ ॥

अर्थ—यातो सद्रूप उत्पाद स्वरूप ही वस्तु मानो, या असद्रूप व्यय स्वरूप ही वस्तु मानो, अथवा ध्रौव्य स्वरूप ही वस्तु मानो, तीनों स्वरूप उसे कैसे मानते हो ?

उत्तर—

तन्न यदविनाभावः प्रादुर्भावध्रुवव्ययानां हि ।
यस्मादेकेन विना न स्यादितरद्द्वयं तु तन्नियमात् ॥२४९॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य, इन तीनोंका नियमसे अविनाभाव है क्योंकि एकको छोड़कर दूसरे दोनों भी नहीं रह सक्ते ।

अपि च द्वाभ्यां ताभ्यामन्यतमाभ्यां विना न चान्यतरत् ।
एकं वा तदवश्यं तत्त्रयमिह वस्तु संसिध्यै ॥ २५० ॥

अर्थ—अथवा विना किन्ही भी दोके कोई एक भी नहीं रह सकता है इसलिये यह आवश्यक है कि वस्तुकी भले प्रकार सिद्धिके लिये उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों एक साथ हों।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसीका खुलासा —

अथ तद्यथा विनाशः प्रादुर्भावं विना न भावीति ।
नियतमभावस्य पुनर्भावेन पुरस्सरत्वाच्च ॥ २५१ ॥

अर्थ—तीनोंका परस्पर अविनाभाव है, इसी बातको स्पष्ट किया जाता है कि विनाश (व्यय) विना उत्पादके नहीं हो सक्ता । क्योंकि किसी पर्यायका अभाव नियमसे भाव पूर्वक ही होता है ।

उत्पादोपि न भावी व्ययं विना वा तथा प्रतीतत्वात् ।
प्रत्यग्रजन्मनः किल भावस्याभावतः कृतार्थत्वात् ॥२५२॥

अर्थ—उत्पाद भी विना व्ययके नहीं हो सक्ता, क्योंकि ऐसी प्रतीति हैं कि नवीन जन्म लेनेवाला भाव अभावसे ही कृतार्थ होता है ।

भावार्थ—किसी पर्यायका नाश होने पर ही तो दूसरी पर्याय हो सकती है । पदार्थ तो किसी न किसी अवस्थामें सदा रहता ही है । इस लिये यह आवश्यक है कि पहली अवस्थाका नाश होने पर ही कोई नवीन अवस्था हो ।

उत्पादध्वंसौ वा द्वावपि न स्तो विनापि तद्ध्रौव्यम् ।
भावस्याऽभावस्य च वस्तुत्वे सति तदाश्रयत्वाद्वा ॥ २५३ ॥

अर्थ—अथवा विना ध्रौव्यके उत्पाद, व्यय भी नहीं होसक्ते, क्योंकि वस्तुकी सत्ता होने पर ही उसके आश्रयसे भाव और अभाव (उत्पाद और व्यय) रह सक्ते है ।

अपि च ध्रौव्यं न स्यादुत्पादव्ययद्वयं विना नियमात् ।
यदिह विशेषाभावे सामान्यस्य च सतोप्यभावत्वात् ॥२५४॥

अर्थ—अथवा विना उत्पाद और व्यय दोनोंके ध्रौव्य भी नियमसे नहीं रह सकता है, क्योंकि विशेषके अभावमें सामान्य सत्का भी अभाव ही है ।

भावार्थ—वस्तु *सामान्य विशेषात्मक है । विना ÷सामान्यके विशेष नहीं हो सक्ता, और विना विशेषके सामान्य भी नहीं हो सक्ता । उत्पाद, व्यय विशेष हैं, ध्रौव्य सामान्य है । इस लिये विना उत्पाद, व्यय विशेषके ध्रौव्य सामान्य नहीं बन सक्ता है और इसी प्रकार विना ध्रौव्य सामान्यके उत्पाद व्यय विशेष भी नहीं बन सक्ते हैं ।

सारांश—

एवं चोत्पादादित्रयस्य साधीयसी व्यवस्थेह ।
नैवान्यथाऽन्यनिन्हववदतः स्वस्यापि घातकत्वाच्च ॥ २५५ ॥

---

* सामान्य विशेषात्मा तदर्थोविषयः ।

÷ निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् । निस्सामान्यं विशेषश्च भवेच्छशविषाणवत् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—इस प्रकार वस्तुमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी व्यवस्था घटित करना चाहिये। अन्य किसी प्रकार उनकी व्यवस्था नहीं घटित की जा सक्ती है। क्योंकि दूसरेका विघात करनेसे अपना ही विघात हो जाता है।

भावार्थ—ऊपर कही हुई व्यवस्था ही ठीक व्यवस्था है और तीनोंको एक साथ माननेसे ही यह व्यवस्था बन सक्ती है तीनोंमेंसे किसी एकका अथवा दोका अभाव माननेसे बाकीके दो अथवा एक भी नहीं ठहर सक्ता है।

केवल उत्पादके माननेमें दोष—

अथ तद्यथा हि सर्गं केवलमेकं हि मृगयमाणस्य।
असदुत्पादो वा स्यादुत्पादो वा न कारणाभावात् ॥ २५६ ॥

अर्थ—जो केवल एक उत्पादको ही मानता है उसके मतमें असत्का उत्पाद होने लगेगा, अथवा कारणका अभाव होनेसे उत्पाद ही न होगा।

केवल व्ययके माननेमें दोष—

अप्यथ लोकयतः किल संहारं सर्गपक्षनिरपेक्षम्।
भवति निरन्वयनाशः सतो न नाशोऽथवाप्यहेतुत्वात् ॥२५७॥

अर्थ—उत्पादपक्षनिरपेक्ष केवल व्ययको ही जो मानता है, उसके यहां सत्का निरन्वय सर्वथा नाश हो जायगा। अथवा विना कारण उसका नाश भी नहीं हो सक्ता।

केवल ध्रौव्यके माननेमें दोष—

अथ च ध्रौव्यं केवलमेकं किल पक्षमध्यवसतश्च।
द्रव्यमपरिणामि स्यात्तदपरिणामाच्च नापि तद्ध्रौव्यम् ॥२५८॥

अर्थ—इसी प्रकार जो उत्पादव्ययनिरपेक्ष केवल ध्रौव्य पक्षको ही स्वीकार करते हैं, उनके मतमें द्रव्य अपरिणामी ठहरेगा और द्रव्यके अपरिणामी होनेसे उसके ध्रौव्य भी नहीं बन सक्ता है।

ध्रौव्य निरपेक्ष उत्पाद व्ययके माननेमें दोष—

अथ च ध्रौव्योपेक्षितमुत्पादादिद्वयं प्रमाणयतः।
सर्वं क्षणिकमिवैतत् सदभावे वा व्ययो न सर्गश्च ॥ २५९ ॥

अर्थ—ध्रौव्य निरपेक्ष केवल उत्पाद और व्यय इन दोको ही जो प्रमाणभूत मानता है, उसके यहां सभी क्षणिककी तरह हो जायगा। अथवा सत् पदार्थके अभावमें न तो व्यय ही बन सक्ता है और न उत्पाद ही बन सक्ता है।

सारांश—

एतद्दोषभयादिह प्रकृतं चास्तिक्यमिच्छता पुंसा।
उत्पादादीनामयमविनाभावोऽवगन्तव्यः ॥ २६० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—ऊपर कहे हुए दोषोंके भयसे आस्तिक्यके चाहनेवाले पुरुषको प्रकृतमें उत्पाद आदिक तीनोंका ही अविनाभाव मानना चाहिये ।

भावार्थ—तीनों एक साथ परस्पर सापेक्ष हैं, यही निर्दोष सिद्ध है ।

नयी प्रतिज्ञा—

उक्तं गुणपर्ययवद्द्रव्यं यत्तद्व्ययादियुक्तं सत् ।
अथ वस्तुस्थितिरिह किल वाच्याऽनेकान्तबोधशुद्ध्यर्थम् ॥२६१॥

अर्थ—द्रव्य गुणपर्यायका समूह है और वह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यवाला है, यह बात तो कही जा चुकी । अब अनेकान्त (स्याद्वाद)का बोध होनेके लिये वस्तुका विचार करते हैं—

अनेकान्त चतुष्टय—

स्यादस्तिं च नास्तीति च नित्यमनित्यं त्वनेकमेकं च ।
तदतच्चेति चतुष्टययुग्मैरिव गुम्फितं वस्तु ॥ २६२ ॥

अर्थ—स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् एक, स्यात् अनेक, स्यात् तत्, स्यात् अतत्, इस प्रकार इन चार युगलोंकी तरह वस्तु अनेक धर्मोंसे गुंथी हुई है ।

चतुष्टय होनेमें कारण—

अथ तद्यथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्कं च ।
द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेन तथाथ वाऽपि भावेन ॥ २६३ ॥

अर्थ—उसीका खुलासा करते हैं कि जो कथंचित् (किसी स्वरूपसे) है वही कथंचित नहीं भी है । इसी प्रकार जो कथंचित् नित्य है वही कथंचित् अनित्य भी है । जो कथंचित एक है वही कथंचित् अनेक भी है । जो कथंचित् वही है, वह कथंचित् वह नहीं भी है । इस प्रकार ये चारों ही कथंचित् वाद (स्याद्वाद) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे होते हैं ।

द्रव्यकी अपेक्षासे कथन ।

एका हि महासत्ता सत्ता वा स्यादवान्तराख्या च ।
न पृथक्प्रदेशवत्त्वं स्वरूपभेदोपि नानयोरेव ॥ २६४ ॥

अर्थ—एक तो महासत्ता है । दूसरी अवान्तर सत्ता है । इन* दोनों सत्ताओंके वस्तुसे भिन्न प्रदेश नहीं हैं अर्थात् सत्ता स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है तथा दोनोंमें स्वरूप भेद भी नहीं है । दोनोंका एक ही स्वरूप है केवल अपेक्षा—कथन भेद है ।

* इन दोनों सत्ताओंका स्वरूप विशद रीतिसे पहले भी कहा जा चुकी है । और उत्तरार्धके प्रारंभमें भी कहा गया है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महासत्ताका स्वरूप—

किन्तु सदित्यभिधानं यत्स्यात्सर्वार्थसार्थसंस्पर्शि ।
सामान्यग्राहकत्वात् प्रोक्ता सन्मात्रतो महासत्ता ॥ २६५ ॥

अर्थ—किन्तु जो सत् सम्पूर्ण पदार्थोंके समूहको स्पर्श करनेवाला है उसे ही महासत्ताके नामसे कहते हैं । वह सामान्यका ग्रहण करनेवाला है और उसहीकी अपेक्षासे वस्तु सन्मात्र है ।

भावार्थ—हरएक पदार्थका अस्तित्व गुण जुदा जुदा है, उसी अस्तित्व गुणको 'सत्' इस नामसे भी कहते हैं, क्योंकि उसीसे वस्तुकी सत्ता कायम रहती है । वह सत्गुण समान रीतिसे सब वस्तुओंमें एक सरीखा है । एक सरीखा होनेसे ही उसे एक भी कह देते हैं और उसीका नाम महासत्ता रखते हैं । वास्तवमें ' महासत्ता ' नामक कोई एक पदार्थ नहीं है । केवल समानताकी अपेक्षासे इसको एकत्व संज्ञा मिली है ।

अवान्तर सत्ताका स्वरूप—

अपिचावान्तरसत्ता सद्द्रव्यं सद्गुणश्च पर्यायः ।
सच्चोत्पादध्वंसः सदिति ध्रौव्यं किलेति विस्तारः ॥ २६६ ॥

अर्थ—अवान्तर सत्ता हरएककी जुदी जुदी है । वह भिन्न २ रीतिसे ही कही जाती है । जैसे—सत्द्रव्य, सत्गुण, सत्पर्याय, सत्उत्पाद, सत्ध्वंस, सत्ध्रौव्य इस प्रकार और भी लगा लेना चाहिये ।

भावार्थ—सब जगह व्याप कर रहनेवाली सत्ताको महासत्ता कहते हैं और उस महासत्ताकी अपेक्षा जो थोड़ी जगहमें रहती है उसे अवान्तर सत्ता कहते हैं महासत्ता सामान्य रीतिसे सब पदार्थोंमें रहती है इसलिये उसकी अपेक्षासे पदार्थोंमें भेद नहीं है, किन्तु सभी एक कहलाते हैं । परन्तु अवान्तर सत्ता सब पदार्थोंमें भेद करती है । जैसे—महासत्ताकी अपेक्षा द्रव्य, गुण, पर्याय आदि सभी सत्रूप कहलाते हैं, वैसे ही अवान्तर सत्ताकी अपेक्षा भिन्न २ कहलाते हैं । अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे द्रव्यका सत् जुदा है, गुणका जुदा है और पर्यायका जुदा है । द्रव्यमें भी घड़ीका सत् जुदा है, टेबिलका जुदा है तथा कुर्सीका जुदा है । गुणोंमें भी ज्ञानका जुदा है दर्शनका जुदा है और सुखका जुदा है । पर्यायोंमें भी वर्तमान पर्यायका जुदा है भूत पर्यायका जुदा है और भविष्यत्का जुदा है । इस प्रकार अवान्तर सत्ताके अनेक भेद होते हैं ।

अस्ति नास्ति कथन

अयमर्थो वस्तु यदा सदिति महासत्तयावधार्येत ।
स्यात्तदवान्तरसत्तारूपेणाभाव एव नतु मूलात् ॥ २६७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—द्रव्यकी अपेक्षा स्यात् अस्ति और स्यात् नास्तिका अर्थ यह है कि वस्तु जिस समय महासत्ताकी अपेक्षासे कथंचित् है, उस समय अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे वह कथंचित् नहीं भी है। वस्तुमें अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे ही अभाव आता है। वास्तवमें वह अभावात्मक नहीं है।

अपि चाऽवान्तरसत्तारूपेण यदावधार्यते वस्तु।
अपरेण महासत्तारूपेणाभाव एव भवति तदा ॥ २६८ ॥

अर्थ—इसी प्रकार जिस समय अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे वस्तु कही जाती है, उस समय उसकी अपेक्षासे तो वह कथंचित् है। परन्तु प्रतिपक्षी महासत्ता की अपेक्षासे कथंचित नहीं भी है।

भावार्थ—वास्तवमें वस्तु तो जैसी है, वह वैसी ही है। उसमेंसे नतो कुछ कभी जाता है और न उसमें कुछ कभी आता है। केवल कथन शैलीसे उसमें भेद हो जाता है। जिस समय वस्तुको महासत्ताकी दृष्टिसे देखते हैं, उस समय वह सत्‌रूप ही दीखती है। उस समय वह द्रव्य नहीं कही जा सक्ती, गुण भी नहीं कही जा सक्ती, और पर्यायभी नहीं कही जासक्ती। इस लिये उस समय यह कहा जा सक्ता है कि वस्तु सत् रूपसे तो है, परन्तु वह द्रव्य, गुण, पर्याय आदि रूपसे नहीं है। इसी प्रकार जिस समय अवान्तर सत्ताकी दृष्टिसे वस्तु देखी जाती है उस समय वह द्रव्य अथवा पर्याय आदि विशेष सत् रूपसे तो है, परन्तु सामान्य सत् रूपसे नहीं हैं। इस प्रकार वस्तुमें कथंचित् अस्तित्व और कथंचित् नास्तित्व सुघटित होता है। वस्तुमें नास्तित्व केवल अपेक्षा दृष्टिसे ही आता है। वास्तवमें वस्तु अभाव स्वरूप नहीं हैं।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तः स्पष्टोऽयं यथा पटो द्रव्यमस्ति नास्तीति।
पटशुक्लत्वादीनामन्यतमस्याविवक्षितत्वाच्च ॥ २६९ ॥

अर्थ—कथंचित् अस्तित्व और कथंचित् नास्तित्वका दृष्टान्त भी स्पष्ट ही है कि जिस प्रकार पट (वस्त्र) द्रव्य पटकी अपेक्षासे तो है परन्तु वही पट द्रव्य पटके शुक्लादि गुणोंकी अविवाक्षाकी अपेक्षासे नहीं है।

भावार्थ—शुक्लादि गुणोंका समूह ही पट कहलाता है। जिस समय पटको मुख्य रीतिसे कहते हैं उस समय उसके गुण नहींके बराबर समझे जाते हैं और जिस समय शुक्लादि गुणोंको मुख्य रीतिसे कहते हैं, उस समय पट भी नहीं के बराबर समझा जाता है। कहनेकी अपेक्षासे ही वस्तुमें मुख्य और गौणकी व्यवस्था होती है, तथा उसी व्यवस्थासे वस्तुमें कथंचित अस्तिवाद और कथंचित नास्तिवाद आता है इसीका नाम स्याद्वाद है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्रकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति कथन—

क्षेत्रं द्विधावधानात् सामान्यमथ च विशेषमात्रं स्यात् ।
तत्र प्रदेशमात्रं प्रथमं प्रथमेतरं तदंशमयम् ॥ २७० ॥

अर्थ—वस्तुका क्षेत्र भी दो प्रकारसे कहा जाता है । एक सामान्य, दूसरा विशेष । वस्तुके जितने प्रदेश हैं उन प्रदेशोंके समुदायात्मक देशको तो सामान्य क्षेत्र कहते हैं और उसके अंशोंको विशेष क्षेत्र कहते हैं ।

अथ केवलं प्रदेशात् प्रदेशमात्रं यदेष्यते वस्तु ।
अस्ति स्वक्षेत्रतया तदंशमात्राऽविवक्षितत्वान्न ॥ २७१ ॥

अर्थ—जिस समय केवल प्रदेशोंके समुदायकी अपेक्षासे देश रूप वस्तु कही जाती है उस समय वह देश रूप स्वक्षेत्रकी अपेक्षासे तो है परन्तु उस देशके अंशोंकी अविवक्षा होनेसे अंशोंकी अपेक्षासे नहीं है ।

अथ केवलं तदंशात्तावन्मात्राद्यदेष्यते वस्तु ।
अस्त्यंशविवक्षितया नास्ति च देशाविवक्षितत्वाच्च ॥ २७२ ॥

अर्थ—अथवा जिस समय केवल देशके अंशोंकी अपेक्षासे वस्तु कही जाती है उस समय वह अंशोंकी अपेक्षासे तो है, परन्तु देशकी विवक्षा न होनेसे देशकी अपेक्षासे नहीं है।

दृष्टान्त—

संदृष्टिःपटदेशः क्षेत्रस्थानीय एव नास्त्यस्ति ।
शुक्लादितन्तुमात्रादन्यतरस्याविवक्षितत्त्वाद्वा ॥ २७३ ॥

अर्थ—क्षेत्रके लिये दृष्टान्त पट रूप देश है । वह शुक्लादिस्वभाव–तन्तु समुदायकी अपेक्षासे तथा भिन्न भिन्न अंशोंकी अपेक्षासे कथंचित् अस्ति नास्ति रूप है । जिस समय जिसकी विवक्षा (कहनेकी इच्छा) की जाती है वह तो उस समय मुख्य होनेसे अस्ति रूप है और इतर अविवक्षित होनेसे उस समय गौण है इसलिये वह नास्ति रूप है । इस प्रकार क्षेत्रकी अपेक्षासे कथंचित् अस्तित्व और नास्तित्व समझना चाहिये ।

कालकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति कथन—

कालो वर्तनमिति वा परिणमनं वस्तुनः स्वभावेन ।
सोपि पूर्ववद्द्वयमिह सामान्यविशेषरूपत्वात् ॥ २७४ ॥

अर्थ—काल नाम वर्तनका है । अथवा वस्तुका स्वभावसे *परिणमन होनेका है । वह काल भी पहलेकी तरह सामान्य और विशेष रूपसे दो प्रकार है ।

---

*आत्मना वर्तमानानां द्रव्याणां निजपर्ययैः
वर्तनाकरणात्कालो भजते हेतुकर्तृताम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालका सामान्य और विशेष रूप—

सामान्यं विधिरूपं प्रतिषेधात्मा भवति विशेषश्च ।
उभयोरन्यतरस्यावमग्नोन्मग्नत्वादस्ति नास्तीति ॥ २७५ ॥

अर्थ—सामान्य विधिरूप है, विशेष प्रतिषेधरूप है । उन दोनोंमेंसे किसी एकके विवक्षित और अविवक्षित होनेसे अस्तित्व और नास्तित्व आता है ।

विधि और प्रतिषेधका स्वरूप—

तत्र निरंशो विधिरिति स यथा स्वयं सदेवेति ।
तदिह विभज्य विभागैः प्रतिषेधश्चांशकल्पनं तस्य ॥ २७६ ॥

अर्थ—अंश कल्पना रहित-निरंश परिणमनको विधि कहते हैं । जैसे—स्वयं सत्का परिणमन । सत् सामान्यमें अंश कल्पना नहीं है किन्तु उसका सामान्य परिणमन है । और उसी सत्की भिन्न २ विभाजित-अंश-कल्पनाको प्रतिषेध कहते हैं ।

भावार्थ—सामान्य परिणमनकी अपेक्षासे वस्तुमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता है परन्तु विशेष २ परिणमनकी अपेक्षासे वही एक निरंशरूप वस्तु अनेक भेदवाली हो जाती है । और वस्तुमें होनेवाले अंशरूप भेद ही प्रतिषेध रूप हैं ।

उदाहरण—

तदुदाहरणं सम्प्रति परिणमनं सत्तयावधार्येत ।
अस्ति विवक्षितत्त्वादिह नास्त्यंशस्याऽविवक्षया तदिह ॥२७७॥

अर्थ—प्रकृतमें उदाहरण इस प्रकार है कि जिस समय वस्तुमें भेद विवक्षा रहित सत्ता सामान्यके परिणमनकी विवक्षा की जाती है, उस समय वह सामान्य रूप-स्व-कालकी अपेक्षासे तो है, परन्तु अंशोंकी विवक्षा न होनेसे विशेषरूप-परकालकी अपेक्षासे वह नहीं है ।

एकैकवृत्त्या प्रत्येकमणवस्तस्य निःक्रियाः ।
लोकाकाशप्रदेशेषु रत्नराशिरिवस्थिताः ॥ २ ॥
व्यावहारिककालस्य परिणामस्तथा क्रिया ।
परत्वं चाऽपरत्वञ्च लिङ्गान्याहुर्महर्षयः ॥ ३ ॥

तत्त्वार्थ सार ।

अर्थात्—अपनी निज पर्यायों द्वारा परिणमन करनेवाले सम्पूर्ण द्रव्योंमें काल उदासीन कारण है इसीलिये उसे द्रव्योंके परिवर्तनमें हेतु रूप कर्ता कहा गया है । काल द्रव्यके दो भेद हैं एक निश्चय, दूसरा व्यवहार । निश्चय यथार्थ काल है, वह असंख्यात है और एक एक काल द्रव्य प्रत्येक लोकके प्रदेशमें रत्नोंकी राशिकी तरह निष्क्रय रूपसे ठहरा हुआ है । व्यवहार काल काल्पनिक है और परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि उसके चिन्ह हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टान्त—

संदृष्टिः पटपरिणतिमात्रं कालायतस्वकालतया ।
अस्ति च तावन्मात्रान्नास्ति पटस्तन्तुशुक्लरूपतया ॥ २७८ ॥

अर्थ—दृष्टान्तके लिये पट है । सामान्य परिणमनको धारण करनेवाला पट, सामान्य-स्वकालकी अपेक्षासे तो है, परन्तु वही पट तन्तु और शुक्लरूप विशेष परिणमन (परकाल) की अपेक्षासे नहीं है ।

भावकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति कथन—

भावः परिणामः किल स चैव तत्त्वस्वरूपनिष्पत्तिः ।
अथवा शक्तिसमूहो यदि वा सर्वस्वसारः स्यात् ॥ २७९ ॥

अर्थ—भाव नाम परिणामका है और वही तत्त्वके स्वरूपकी प्राप्ति है, अथवा शक्तियोंके समूहका नाम भी भाव है, अथवा वस्तुके सारका नाम ही भाव है ।

स विभक्तो द्विविधः स्यात्सामान्यात्मा विशेषरूपश्च ।
तत्र विवक्ष्यो मुख्यः स्यात्स्वभावोऽथ गुणोहि परभावः ॥२८०॥

अर्थ—वह भाव भी सामान्यात्मक और विशेषात्मक ऐसे दो भेदवाला है । उन दोनोंमें जो भाव विवक्षित होता है वह मुख्य होजाता है और जो अविवक्षित भाव है वह गौण होजाता है

भावका सामान्य और विशेष रूप—

सामान्यं विधिरेव हि शुद्धः प्रतिषेधकश्च निरपेक्षः ।
प्रतिषेधो हि विशेषः प्रतिषेध्यः सांशकश्च सापेक्षः ॥ २८१ ॥

अर्थ—सामान्य विधिरूप ही है । वह शुद्ध है, प्रतिषेधक है और निरपेक्ष है । विशेष प्रतिषेध रूप है, प्रतिषेध्य है अंश सहित है और सापेक्ष है ।

इसीका स्पष्ट अर्थ—

अयमर्थो वस्तुतया सत्सामान्यं निरंशकं यावत् ।
भक्तं तदिह विकल्पैर्द्रव्याद्यैरुच्यते विशेषश्च ॥ २८२ ॥

अर्थ—ऊपरके श्लोकका खुलासा अर्थ यह है कि सत् (पदार्थ) जब तक अपनी वस्तुतामें सामान्यरीतिसे स्थिर है, और जब तक उसमें भेद कल्पना नहीं की जाती है तब तक तो वह सत् शुद्ध अखण्ड है, और जब वह द्रव्य, गुण, पर्याय आदि भेदोंसे विभाजित किया जाता है, तब वही सत् विशेष-खण्डरूप कहलाता है ।

भावार्थ—वस्तुमें जब तक भेद बुद्धि नहीं होती है तब तक वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे शुद्ध है, और उसी अवस्थामें वह निरपेक्ष है । परन्तु जब उसमें अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे भेद कल्पना की जाती है, तब वह वस्तु परस्पर सापेक्ष हो जाती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और उसी अवस्थामें वह प्रतिषेध्य भी है । जो सतत अन्वय रूपसे रहने वाली हो उसे विधि कहते हैं और जो व्यतिरेक रूपसे रहे उसे प्रतिषेध्य कहते हैं । वस्तु सामान्य अवस्थामें ही सतत अन्वय रूपसे रह सक्ती है, परन्तु भेद विवक्षामें वह व्यतिरेकरूप धारण करती है । इसी लिये सत् सामान्यको विधि रूप और सत् विशेषको प्रतिषेध रूप कहा गया है । वस्तुकी विशेष अवस्थामें ही प्रतिषेध कल्पना की जाती है ।

सारांश—

तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सामान्यतो यदाप्यस्ति ।
शेषविशेषविवक्षाभावादिह तदैव तन्नास्ति ॥ २८३ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात निर्दोष रीतिसे सिद्ध हो चुकी कि सम्पूर्ण पदार्थ जिस समय सामान्यतासे विवक्षित किये जाते हैं उस समय वे सामान्यतासे तो हैं, परन्तु शेष-विशेष विवक्षाका अभाव होनेसे वे नहीं भी हैं ।

अथवा—

यदि वा सर्वमिदं यद्विवक्षितत्वाद्विशेषतोऽस्ति यदा ।
अविवक्षितसामान्यात्तदैव तन्नास्ति नययोगात् ॥ २८४ ॥

अर्थ—अथवा सम्पूर्ण पदार्थ जिस समय विशेषतासे विवक्षित किये जाते हैं, उस समय वे उसकी अपेक्षासे तो हैं, परन्तु उस समय सामान्य विवक्षाका उनमें अभाव होनेसे सामान्य दृष्टिसे वे नहीं भी हैं ।

स्वभाव और परभावका कथन—

तत्र विवक्ष्यो भावः केवलमस्ति स्वभावमात्रतया ।
अविवक्षितपरभावाभावतया नास्ति सममेव ॥ २८५ ॥

अर्थ—वस्तुके सामान्य और विशेष भावोंमें जो भाव विवक्षित होता है, वही केवल वस्तुका स्व-भाव समझा जाता है, और उसी स्वभावकी अपेक्षासे वस्तुमें अस्तित्व आता है। परन्तु जो भाव अविवक्षित होता है, वही पर-भाव कहलाता है । जिस समय स्वभावकी विवक्षा की जाती है, उस समय परभावकी विवक्षा न होनेसे उसका वस्तुमें अभाव समझा जाता है । इसलिये परभाव की अपेक्षासे वस्तुमें नास्तित्व आता है । अस्तित्व और नास्तित्व दोनों एक कालमें ही वस्तुमें घटित होते हैं ।

सर्वत्र होनेवाला नियम—

सर्वत्र क्रम एष द्रव्ये क्षेत्रे तथाऽथ काले च ।
अनुलोमप्रतिलोमैरस्तीति विवक्षितो मुख्यः ॥ २८६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—सर्वत्र यही (ऊपर कहा हुआ) क्रम लगा लेना चाहिये अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, चारों ही जगह अनुकूलता और प्रतिकूलताके अनुसार विवक्षित भाव है वही मुख्य समझा जाता है । यहां पर "च" से भावका ग्रहण किया गया है ।

दृष्टान्त—

संदृष्टिः पटभावः पटसारो वा पटस्य निष्पत्तिः ।
अस्त्यात्मना च तदितरघटादिभावाऽविवक्षया नास्ति ॥२८७॥

अर्थ—पटका भाव, पटका सार, पटके स्वरूपकी प्राप्ति, ये तीनों ही बातें एक अर्थवाली हैं । पटका भाव अपने स्वरूपकी अपेक्षासे है परन्तु उसके इतर घट आदि भावोंकी अविवक्षा होनेसे वह नहीं है । क्योंकि विवक्षित भावको छोड़कर बाकी सभी भाव अविवक्षित हैं ।

बाकीके पांच भंगोंके लानेका सङ्केत—

अपि चैवं प्रक्रियया नेतव्याः पञ्चशेषभङ्गाश्च ।
वर्णवदुक्तद्वयमिह पटवच्छेषास्तु तद्योगात् ॥ २८८ ॥

अर्थ—इसी प्रक्रियाके अनुसार बाकीके पांच भङ्ग भी वस्तुमें घटित कर लेना चाहिये । 'स्यात् अस्ति' और 'स्यात् नास्ति' ये दो भंग वर्णकी तरह कह दिये गये हैं । बाकीके भंग पटकी तरह उन्हीं दो भंगोंके योगसे घटित करना चाहिये ।

भावार्थ—जिस प्रकार पकार और टकार इन दो अक्षरोंके योगसे पट शब्द बन जाता है, इसी प्रकार और भी अक्षरोंके योगसे वाक्य तथा पद्य बन जाते हैं । उसी प्रकार 'स्यात् अस्ति' और स्यान्नास्ति इन दो भङ्गोंके योगसे बाकीके पांच भंग भी बन जाते हैं । वस्तुमें, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, और स्वभावकी अपेक्षासे अस्तित्व और परद्रव्य, परक्षेत्र परकाल और परभावकी अपेक्षासे नास्तित्व अथवा विवक्षित भावकी अपेक्षासे अस्तित्व और अविवक्षित भावकी अपेक्षासे नास्तित्व, ऐसे दो भंग तो ऊपर स्पष्टतासे कहे ही गये हैं । वे दोनों तो स्वरूप और पररूपकी अपेक्षासे स्वतन्त्र कहे गये हैं । यदि इन्ही दोनोंको स्वरूप और पररूपकी अपेक्षासे एकवार ही क्रमसे कहा जाय तो तीसरा भंग 'स्यात् अस्ति नास्ति' होजाता है । परन्तु यदि इन्हीं दोनोंको स्वरूप, पररूप की विवक्षा रखते हुए क्रमको छोड़कर एक साथ ही कहा जाय तो 'स्यात् अस्ति नास्ति' का मिला हुआ चौथा 'अवक्तव्य' भंग होजाता है । तीसरे भंगमें तो एकवार कहते हुए भी क्रम रक्खा गया था । इसलिये वचन द्वारा क्रमसे 'स्यात् अस्ति नास्ति' कहा जाता है परन्तु यदि एकवार कहते हुए क्रम न रखकर दोनोंका एक साथ ही कथन किया जाय तो वह कथन वचनमें नहीं आसक्ता है, क्योंकि वचन द्वारा एकवार एक ही बात कही जासक्ती है, दो नहीं, इसलिये दोनोंका मिला हुआ चौथा 'अवक्तव्य' भंग कहलाता है । और यदि स्वरूप, पररूप दोनोंको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक साथ विवक्षित किये हुए उस अवक्तव्य भङ्गमें फिर स्वभाव की मुख्य विवक्षा की जाय तो पांचवां " स्यात् अस्ति अवक्तव्य " भङ्ग हो जाता है। और उसी अवक्तव्यमें यदि स्वभावको गौण और परभावको मुख्य रीतिसे विवक्षित किया जाय तो छठा ' स्यान्नास्ति अवक्तव्य ' भङ्ग हो जाता है। इसी प्रकार उस अवक्तव्यमें स्वभाव और परभाव दोनोंकी क्रमसे एकवार ही मुख्य विवक्षा रक्खी जाय तो सातवाँ ' स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य ' भङ्ग होजाता है।×

ये सातों ही भङ्ग स्वभाव, परभावकी मुख्यता और गौणतासे होने वाले स्यात् अस्ति, और स्यान्नास्ति इन्हीं दोनोंके विशेष हैं, इस लिये ग्रन्थकारने इन्ही दोनोंका स्वरूप दिखला कर बाकीके भङ्गोंको निकालनेके लिये सङ्केत कर दिया है।

शङ्काकार—

ननु चान्यतरेण कृतं किमथ प्रायः प्रयासभारेण।
अपि गौरवप्रसंगादनुपादेयाच्च वाग्विलसितत्वात् ॥ २८९ ॥
अस्तीति च वक्तव्यं यदि वा नास्तीति तत्त्वसंसिध्यै।
नोपादानं पृथगिह युक्तं तदनर्थकादिति चेत् ॥ २९० ॥

अर्थ—अस्ति नास्ति दोनोंमेंसे एक ही कहना चाहिये उसीसे काम चल जायगा, व्यर्थके प्रयास (कष्ट) से क्या प्रयोजन है। इसके सिवाय दोनों कहनेसे उल्टा गौरव होता है, तथा वचनोंका आधिक्य होनेसे उसमें ग्राह्यता भी नहीं रहती है। इसलिये तत्त्वकी भले प्रकार सिद्धिके लिये या तो केवल 'अस्ति' ही कहना ठीक है, अथवा केवल 'नास्ति' कहना

× यदि यहांपर कोई यह शङ्का करै कि जिस प्रकार अस्ति नास्ति को एकवार ही क्रमसे रखनेपर तीसरा और अक्रमसे रखनेपर चौथा भंग होजाता है, उसी प्रकार अवक्तव्यके साथ भी एकवार ही अस्ति नास्तिको क्रमसे विवक्षित रखनेपर सातवाँ और अक्रमसे विवक्षित रखनेपर आठवाँ भंग क्यों नहीं हो जाता ? इसका उत्तर यही है ऐसा करनेसे आठवाँ भंग ' अवक्तव्य-अवक्तव्य ' होगा, और वह अवक्तव्य सामान्यमें गर्भित होनेसे अवक्तव्य मात्र रहता है। इसलिये कुल सात ही भंग होसक्ते हैं। अधिक नहीं होसक्ते। क्योंकि वचनद्वारा कथन शैली सात ही प्रकार होसक्ती है क्योंकि वस्तुधर्मके सात भेद होनेसे संशय भी सात ही होसक्ते हैं और उनको दूर करनेकी जिज्ञासा भी सात ही प्रकार होसक्ती है। इसी प्रकार प्रथम द्वितीय चतुर्थ भंगोंके परस्परमें दो दो तीन तीन के संयोगसे और तृतीय पञ्चम षष्ठ सप्तम भंगोंके परस्पर दो २ तीन २ चार २ के संयोगसे जो भंग होते है वे सब इन्हीं सातोंमें गर्भित हैं। " प्रश्नवशादेकत्रवस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी', यह सप्तभंगीका लक्षण है। अष्टसहस्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही ठीक है । दोनोंका अलग २ ग्रहण करना युक्ति संगत नहीं है, दोनोंका ग्रहण व्यर्थ ही पड़ता है ?

उत्तर—

तन्न यतः सर्वं स्वं तदुभयभावाध्यवसितमेवेति ।
अन्यतरस्य विलोपे तदितरभावस्य निह्नवापत्तेः ॥ २९१ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ ' अस्ति नास्ति ' स्वरूप उभय (दोनों) भावोंको लिये हुए हैं । यदि इन दोनों भावोंमेंसे किसी एकका भी लोप कर दिया जाय, तो बाकीका दूसरा भाव भी लुप्त हो जायगा ।

स यथा केवलमन्वयमात्रं वस्तु प्रतीयमानोपि ।
व्यतिरेकाभावे किल कथमन्वयसाधकश्च स्यात् ॥ २९२ ॥

अर्थ—यदि केवल ' अस्ति ' रूप वस्तुको माना जावे तो वह सदा अन्वयमात्र ही प्रतीत होगी, व्यतिरेक रूप नहीं होगी और विना व्यतिरेकभावके स्वीकार किये वह अन्वयकी साधक भी नहीं रहेगी ।

भावार्थ—वस्तुमें एक अनुगत प्रतीति होती है, और दूसरी व्यावृत्त प्रतीति होती है । जो वस्तुमें सदा एकसा ही भाव जताती रहे उसे अनुगत प्रतीति अथवा अन्वयभाव कहते हैं और जो वस्तुमें अवस्था भेदको प्रगट करै उसे व्यावृत्त प्रतीति अथवा व्यतिरेक कहते हैं । वस्तुका पूर्ण स्वरूप दोनों *भावोंको मिलकर ही होता है । इसी लिये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं । यदि इन दोनोंमेंसे एकको भी न माना जाय तो दूसरा भी नहीं ठहर सक्ता है । फिर

---

* सामान्यविशेषाकारोल्लेख्यनुवृत्तप्रत्ययगोचरश्चाखिलो बाह्याध्यात्मिकप्रमेयोऽर्थः, न केवलमतो हेतो अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् स तदात्मा; अपि तु पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्ति स्थितिलक्षणपरिणामेनाऽर्थक्रियोपपत्तेश्च । सामान्यविशेषयोर्बुद्धिभेदस्य प्रतीतिसिद्धत्वात् रूपरसादस्तुल्यकालस्याऽभिन्नाश्रयवर्तिनोप्यतएव भेदप्रसिद्धेः । एकेन्द्रियाध्यवसेयत्वाज्जातिव्यक्त्योरभेदे वातातपादावप्यभेदप्रसङ्गः । सामान्यप्रतिभासो ह्यनुगताकारो विशेषप्रतिभासस्तु व्यावृत्ताकारोऽनुभूयते ।

प्रमेयकमलमार्तण्ड

अर्थात् पदार्थ पूर्वाकारको छोड़ता है उत्तराकारको ग्रहण करता है और स्व—स्वरूपकी स्थिति रखता है, इसी त्रितयात्मकपरिणामसे पदार्थमें सामान्यविशेषात्मक अर्थक्रिया होती है । सामान्य, विशेषकी प्रतीति भी पदार्थमें होती है—रूप रसादिक यद्यपि अभिन्न काल तथा अभिन्न क्षेत्रवर्ती हैं तथापि उनकी भिन्न २ प्रतीति होती ही है । एकेन्द्रियादिक जीवोंमें जाति और व्यक्तिमें सर्वथा अभेद ही मान लिया जाय तो वात आतप आदिमें भी अभेदका प्रसंग होगा । सामान्यका प्रतिभास अनुगतरूपसे होता है जैसे कि जातिका । विशेषका प्रतिभास व्यावृत्तरूपसे होता है जैसे कि व्यक्तिका ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसी अवस्थामें वस्तु भी, अपनी सत्ता नहीं रख सक्ती है। इसलिये अस्ति नास्तिरूप, अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही वस्तुमें एक साथ मानना ठीक है।

शङ्काकार—

ननु का नो हानिः स्यादस्तु व्यतिरेक एव तद्वदपि।
किन्त्वन्वयो यथाऽस्ति व्यतिरेकोप्यस्ति चिदचिदिव ॥२९३॥

यदि वा स्यान्मतं ते व्यतिरेके नान्वयः कदाप्यस्ति।
न तथा पक्षच्युतिरिह व्यतिरेकोप्यन्वये यतो न स्यात् ॥२९४॥

तस्मादिदमनवद्यं केवलमयमन्वयो यथास्ति तथा।
व्यतिरेकोस्त्यविशेषादेकोक्त्या चैकशः समानतया ॥ २९५ ॥

दृष्टान्तोप्यस्ति घटो यथा तथा स्वस्वरूपतोस्ति पटः।
न घटः पटेऽथ न पटो घटेपि भवतोऽथ घटपटाविह हि ॥२९६॥

न पटाभावो हि घटो न पटाभावे घटस्य निष्पत्तिः।
न घटाभावो हि पटः पटसर्गो वा घटव्ययादिति चेत् ॥२९७॥

तत्किं व्यतिरेकस्याभावेन विनाऽन्वयोपि नास्तीति।
अस्त्यन्वयः स्वरूपादिति वक्तुं शक्यते यतस्त्विति चेत् ॥२९८॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि यदि व्यतिरेकके अभावमें अन्वय भी नहीं बनता, तो व्यतिरेक भी उसी तरह मानो, इसमें हमारी कौनसी हानि है? किन्तु इतना अवश्य मानना चाहिये कि अन्वय स्वतन्त्र है, और व्यतिरेक स्वतंत्र है। वे दोनों ऐसे ही स्वतन्त्र हैं जैसे कि जीव और अजीव। यदि कदाचित् तुम्हारा ऐसा सिद्धान्त हो कि व्यतिरेकमें अन्वय कभी नहीं रहता है तो भी हमारे पक्षका खण्डन नहीं होता है, क्योंकि जिस प्रकार व्यतिरेकमें अन्वय नहीं रहता है, उसी प्रकार अन्वयमें व्यतिरेक भी नहीं रहता है। इसलिये यह बात निर्दोष सिद्ध है कि जिस प्रकार केवल अन्वय है, उसी प्रकार व्यतिरेक भी है सामान्य दृष्टिसे दोनों ही समान हैं। जैसे अन्वय कहा जाता है, वैसे ही व्यतिरेक भी कहा जाता है। दृष्टान्त भी इस विषयमें घट पटका ले लीजिये। जिस प्रकार घट अपने स्वरूपको लिये हुए जुदा है, उसी प्रकार अपने स्वरूपको लिये हुए पट भी जुदा है। पटमें घट नहीं रहता है, और न घटमें पट ही रहता है, किन्तु घट और पट दोनों जुदे२ हैं। जिसप्रकार पटका अभाव घट नहीं है, और न पटके अभावमें घटकी उत्पत्ति ही होती है। उसी प्रकार पटभी घटका अभाव नहीं है, और न घटके अभावसे पटकी उत्पत्ति ही होती है। ऐसी अवस्थामें आपका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ग्रन्थकारका) यह कहना कि व्यतिरेकके अभावमें अन्वय भी नहीं होता है, ठीक नहीं है, क्योंकि घट पटकी तरह हम यह कह सकते हैं कि अन्वय अपने स्वरूपसे जुदा है और व्यतिरेक अपने स्वरूपसे जुदा है, ऐसी अवस्थामें विना व्यतिरेकके भी अन्वय हो सकता है ? **भावार्थ**—ऊपर कहे हुए कथनके अनुसार शङ्काकार अन्वयको स्वतन्त्र मानता है और व्यतिरेकको स्वतन्त्र मानता है । वस्तुको वह सापेक्ष उभय धर्मात्मक नहीं मानता है ।

उत्तर—

तन्न यतः सदिति स्यादद्वैतं द्वैतभावभागपि च ।
तत्र विधौ विधिमात्रं तदिह निषेधे निषेधमात्रं स्यात् ॥२९९॥

अर्थः—शङ्काकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है । क्योंकि सत् (द्रव्य) कथंचित् अद्वैत भी है, और कथंचित् द्वैत भी है । उन दोनोंमें विधिके विवक्षित होनेपर वह सत् विधि मात्र है, और वही सत् निषेधके विवक्षित होनेपर निषेध मात्र है । **भावार्थ**—पदार्थ सामान्य विशेषात्मक अथवा विधि निषेधात्मक है, जिस समय जो भाव विवक्षित किया जाता है, उस समय वह पदार्थ उसी भाव स्वरूप है ।

वस्तुमें अन्वय और व्यतिरेक स्वतन्त्र नहीं हैं—

नहिं किंचिद्विधिरूपं किञ्चित्तच्छेषतो निषेधांशम् ।
आस्तां साधनमस्मिन्नास द्वैतं न निर्विशेषत्वात् ॥ ३०० ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि द्रव्यका कुछ भाग तो विधिरूप है, और कुछ भाग निषेधरूप है । इसमें द्वैत-हेतु भी नहीं हो सकता है, क्योंकि द्रव्य केवल विशेषात्मक ही नहीं है । **भावार्थ**-शङ्काकारने अन्वय और व्यतिरेक अथवा विधि और निषेधको स्वतन्त्र बतलाया था, इस श्लोक द्वारा उसीका खण्डन किया गया है । यदि विधि और निषेधको स्वतन्त्र ही वस्तुमें माना जाय तो अवश्य ही उन दोनोंमें विरोध आवेगा । "नैकस्मिन्नसंभवात्" अर्थात् एक पदार्थमें दो विरोधी धर्म नहीं रह सक्ते हैं, यह दोष वस्तुमें तभी आता है जब कि उसमें दोनों धर्मोंको स्वतन्त्र माना जाता है, परस्पर सापेक्षतामें दोनों ही धर्म अविरुद्ध हैं । इस लिये जो विधि निषेधको स्वतन्त्र कहते हैं वे उपर्युक्त दोषसे अपनेको अलग नहीं कर सक्ते हैं और वे स्याद्वादके परिज्ञानसे सर्वथा वञ्चित हैं ।

विधि, निषेधमें सर्वथा नाममेद भी नहीं है—

न पुनर्द्रव्यादस्तत्संज्ञा भेदोप्यवधितो भवति ।
तत्र विधौ विधिमात्राच्छेषविशेषादिलक्षणाभावात् ॥ ३०१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपि च निषिद्धत्वे सति नहि वस्तुत्वं विधेरभावत्वात्।
उभयात्मकं × यदि खलु प्रकृतं न कथं प्रमीयेत ॥३०२॥

अर्थः—ऐसा भी नहीं है कि द्रव्यान्तर (घट, पट) की तरह विधि, निषेध, दोनों ही सर्वथा भिन्न हों, सर्वथा नाम भेद भी इनमें बाधित ही है, क्योंकि सर्वथा विधिको कहनेसे वस्तु सर्वथा विधिमात्र ही हो जाती है, बाकीके विशेष लक्षणोंका उसमें अभाव ही हो जाता है। उसी प्रकार सर्वथा निषेधको कहनेसे उसमें विधिका अभाव होजाता है। इन दोनोंके सर्वथा भेदमें वस्तुकी वस्तुता ही चली जाती है। यदि वस्तुको उभयात्मक माना जाय तो प्रकृतकी सिद्धि होजाती है।

सारांश—

तस्माद्विधिरूपं वा निर्दिष्टं सन्निषेधरूपं वा।
संहृत्यान्यतरत्वादन्यतरे सन्निरूप्यते तदिह ॥ ३०३ ॥

अर्थ—जब यह बात सिद्ध होचुकी कि पदार्थ विधि निषेधात्मक है, तब वह कभी विधिरूप कहा जाता है, और कभी निषेधरूप कहा जाता है।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तोऽत्र पटत्वं यावन्निर्दिष्टमेव तन्तुतया।
तावन्न पटो नियमाद् दृश्यन्ते तन्तवस्तथाऽध्यक्षात् ॥ ३०४ ॥
यदि पुनरेव पटत्वं तदिह तथा दृश्यते न तन्तुतया।
अपि संगृह्य समन्तात् पटोयमिति दृश्यते सद्भिः ॥ ३०५ ॥

अर्थ—दृष्टान्तके लिये पट है। जिस समय पट तन्तुकी दृष्टिसे देखा जाता है, उस समय वह पट प्रतीत नहीं होता, किन्तु तन्तु ही दृष्टिगत होते हैं। यदि वही पट पटबुद्धिसे देखा जाता है, तो वह पट ही प्रतीत होता है, उस समय वह तन्तुरूप नहीं दीखता।

इत्यादिकाश्च बहवो विद्यन्ते पाक्षिका हि दृष्टान्ताः।
तेषामुभयाङ्कत्वान्नहि कोपि कदा विपक्षः स्यात् ॥ ३०६ ॥

अर्थ—पटकी तरह और भी अनेक ऐसे दृष्टान्त हैं, जो कि हमारे पक्षको पुष्ट करते हैं, वे सभी दृष्टान्त उभयपनेको सिद्ध करते हैं, इसलिये उनमेंसे कोई भी दृष्टान्त कभी हमारा (जैन दर्शनका) विपक्ष नहीं होने पाता है।

उपर्युक्त कथनका स्पष्ट अर्थ—

अयमर्थो विधिरेव हि युक्तिवशात्स्यात्स्वयं निषेधात्मा।
अपि च निषेधस्तद्वद्विधिरूपः स्यात्स्वयं हि युक्तिवशात् ॥३०७॥

× यहां पर किसी एक अक्षरके छूट जानेसे छन्दका भंग हो गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—ऊपर कहे हुए कथनका खुलासा अर्थ यह है कि विधि ही युक्तिके वशसे स्वयं निषेधरूप होजाती है। और जो निषेध है, वह भी युक्तिके वशसे स्वयं विधिरूप होजाता है। भावार्थ–जिस समय पदार्थ सामान्य रीतिसे विवक्षित किया जाता है, उस समय वह समग्र पदार्थ सामान्यरूप ही प्रतीत होता है, ऐसा नहीं है कि उस समय पदार्थका कोई अंश विशेषरूप भी प्रतीत होता हो। इसी प्रकार विशेष विवक्षाके समय समग्र पदार्थ विशेषरूप ही प्रतीत होता है। जो दर्शनकार सामान्य और विशेषको पदार्थके जुदे जुदे अंश मानते हैं उनका इस कथनसे खण्डन होजाता है। क्योंकि पदार्थ एक समयमें दो रूपसे विवक्षित नहीं होसक्ता, और जिस समय जिस रूपसे विवक्षित किया जाता है, वह उस समय उसी रूपसे प्रतीत होता है। स्याद्वादका जितना भी स्वरूप है सब विवक्षाधीन है। इसीलिये जो नयदृष्टिको नहीं समझते हैं, वे स्याद्वाद तक नहीं पहुंच पाते।

जैन–स्याद्वादीका स्वरूप—

इति विन्दन्निह तत्त्वं जैनः स्यात्कोऽपि तत्त्ववेदीति।
अर्थात्स्यात्स्याद्वादी तदपरथा नाम सिंहमाणवकः॥ ३०८॥

अर्थ—ऊपर कही हुई रीतिके अनुसार जो कोई तत्त्वका ज्ञाता तत्त्वको जानता है, वही जैन है, और वही वास्तविक स्याद्वादी है। यदि ऊपर कही हुई रीतिसे तत्त्वका स्वरूप नहीं जानता है, तो वह स्याद्वादी नहीं है किन्तु उसका नाम सिंहमाणवक है। किसी बालकको यदि सिंह कह दिया जाय तो उसे सिंह माणवक कहते हैं। बालक वास्तवमें सिंह नहीं है।

शङ्काकार—

ननु सदिति स्थायि यथा सदिति तथा सर्वकालसमयेषु।
तत्र विवक्षितसमये तत्स्यादथवा न तदिदमिति चेत् ॥३०९॥

अर्थ—सत् ध्रुवरूपसे रहता हैं, इसलिये वह सम्पूर्ण कालके सभी समयोमें रहता है, फिर आप (जैन) यह क्यों कहते है कि वह सत् विवक्षित समयमें ही है, अविवक्षित समयमें वह नहीं है?

उत्तर—

सत्यं तत्रोत्तरमिति सन्मात्रापेक्षया तदेवेदम्।
न तदेवेदं नियमात् सदवस्थापेक्षया पुनः सदिति ॥ ३१० ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि ठीक है, तुम्हारी शंकाका उत्तर यह है कि सत्ता मात्रकी अपेक्षासे तो सत् वही है, और सत्की अवस्थाओंकी अपेक्षासे सत् वह नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शङ्काकार--

ननु तदतदोर्द्वयोरपि नित्यानित्यत्वयोर्द्वयोरेव ।
को भेदो भवति मिथो लक्षणलक्ष्यैकभेदभिन्नत्वात् ॥ ३११ ॥

अर्थ—तत् और अतत् इन दोनोंमें तथा नित्य और अनित्य इन दोनोंमें परस्पर क्या भेद है, क्योंकि दोनोंका एक ही लक्षण है, और एक ही लक्ष्य है ? **भावार्थ**–तत्का अर्थ है–वह, और अतत्का अर्थ है–वह नहीं, जो तत् और अतत्का अर्थ है वही नित्य और अनित्यका अर्थ है, फिर दोनोंके कहनेकी क्या आवश्यक्ता है ?

उत्तर--

नैवं यतो विशेषः समयात्परिणमति वा न नित्यादौ ।
तदतद्भावविचारे परिणामो विसदृशोऽथ सदृशो वा ॥ ३१२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि नित्य अनित्यमें और तद्भाव अतद्भावमें अवश्य भेद है । भेद भी यह है कि नित्य, अनित्य पक्षमें तो वस्तुके समय समयमें होनेवाले परिणमनका ही विचार होता है, वहां पर 'समान परिणाम हैं या असमान हैं, इसका विचार नहीं होता है, परन्तु तद्भाव, अतद्भाव पक्षमें यह विचार होता है कि जो वस्तुमें परिणमन हो रहा है, वह सदृश है अथवा विसदृश है ।

शङ्काकार--

ननु सन्नित्यमनित्यं कथंचिदेतावतैव तत्सिद्धिः ।
तत्किं तदतद्भावाभावविचारेण गौरवादिति चेत् ॥ ३१३ ॥

अर्थ—सत् कथंचित नित्य है, कथंचित् अनित्य है, इतना ही कहनेसे वस्तुकी सिद्धि हो जाती है, फिर तत्, अतत्के भाव और अभावके विचारसे क्या प्रयोजन ? इससे उल्टा गौरव ही होता है ?

उत्तर--

नैवं तदतद्भावाभावविचारस्य निन्हवे दोषात् ।
नित्यानित्यात्मनि सति सत्यपि न स्यात् क्रियाफलं तत्त्वम् ॥ ३१४ ॥

अर्थ—ऊपर की हुई शंका ठीक नहीं है, क्योंकि तत्, अतत्के भाव और अभावका विचार यदि न किया जाय तो वस्तु सदोष ठहरती है । तत् अतत्के विना वस्तुको नित्य और अनित्य स्वरूप मानने पर भी उसमें क्रिया और फल नहीं बन सकते ।

सर्वथा नित्य पक्षमें दोष—

अयमर्थो यदि नित्यं सर्वं सत् सर्वथेति किल पक्षः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न तथा कारणकार्ये, कारकसिद्धिस्तु विक्रियाभावात् । ३१५॥

अर्थ—स्पष्ट अर्थ यह है कि " सर्व सत् नित्य ही है " यदि सर्वथा ऐसा ही पक्ष मान लिया जाय, तो कारण और कार्य, दोनों ही नहीं बनते । विक्रियाका अभाव होनेसे कार्य-सिद्धि ही नहीं होती ।

सर्वथा अनित्य पक्षमें दोष—

यदि वा सदनित्यं स्यात्सर्वस्वं सर्वथेति किल पक्षः ।
न तथा क्षणिकत्वादिह क्रियाफलं कारकाणि तत्त्वं च ॥३१६॥

अर्थ—अथवा सत्को यदि सर्वथा अनित्य ही स्वीकार किया जाय तो वह क्षणिक ठहरेगा । और क्षणिक होनेसे उसमें न तो क्रियाका फल ही हो सकता है, और न कारणता ही आ सकती है ।

केवल नित्यानित्यात्मक पक्षमें दोष—

अपि नित्यानित्यात्मनि सत्यपि सति वा न साध्यसंसिद्धिः ।
तदतद्भावाभावैर्विना न यस्माद्विशेषनिष्पत्तिः ॥ ३१७ ॥

अर्थ—यदि तत् अतत्के भाव, अभावका विचार न करके केवल नित्यानित्यात्मक ही पदार्थ माना जाय, तो भी साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि विना तत् अतत्का विचार किये पदार्थमें विशेष बुद्धि ही नहीं हो सकती है ।

अथ तद्यथा यथा सत्परिणममानं यदुक्तमस्तु तथा ।
भवति समीहितसिद्धिर्विना न तदतद्विवक्षया हि यथा ॥३१८॥

अर्थ—यदि सत् (पदार्थ) परिणमन करता हुआ भी नित्य अनित्य स्वरूप ही माना जाय, और उसमें तत् अतत्की विवक्षा न की जाय तो इच्छित अर्थकी सिद्धि नहीं होसक्ती है । उसे ही नीचे दिखलाते हैं—

अपि परिणमनमानं सन्नतदेतत् सर्वथाऽन्यदेवेति ।
इति पूर्वपक्षः किल विना तदेवेति दुर्निवारः स्यात् ॥ ३१९ ॥

अपि परिणतं यथा सद्दीपशिखा सर्वथा तदेव यथा ।
इति पूर्वपक्षः किल दुर्वारः स्याद्विना न तदिति नयात् ॥३२०॥

अर्थ—" परिणमन करता हुआ सत् वही नहीं है जो पहले था किन्तु उससे सर्वथा भिन्न ही है " इस प्रकारका किया हुआ पूर्व पक्ष (आशंका) विना ततपक्षके स्वीकार किये दूर नहीं किया जा सक्ता है । इसी प्रकार उस परिणमनशील सत्में दूसरा पूर्वपक्ष ऐसा भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होसक्ता है कि " यह दीप--शिखा सर्वथा वही है जो पहले थी " इसका समाधान भी विना अतत् पक्षके स्वीकार किये नहीं होसक्ता है। भावार्थ–तत् और अतत्में यह विचार किया जाता है कि यह वस्तु किसी दृष्टिसे वही है और किसी दृष्टिसे वह नहीं है किन्तु दूसरी है। परन्तु नित्य, अनित्यमें यह विचार नहीं होता है, वहां तो केवल नित्य, अनित्य रूपसे परिणमन होनेका ही विचार है, वही है या दूसरा है, इसका कुछ विचार नहीं होता है। यदि वस्तुमें तत्, अतत् पक्षको न माना जाय, केवल नित्य अनित्य पक्षको ही माना जाय तो अवश्य ही उसमें ऊपर की हुई आशंकायें आसक्ती हैं, उनका समाधान विना तत् अतत् पक्षके स्वीकार किये नहीं होसक्ता।

सारांश—

तस्मादवसेयं सन्नित्यानित्यत्ववत्तदतद्वत्।
यस्मादेकेन विना न समीहितसिद्धिरध्यक्षात्॥ ३२१॥

अर्थ—इसलिये यह बात निश्चित समझना चाहिये कि नित्य अनित्य पक्षकी तरह तत अतत् पक्ष भी वस्तुमें मानना योग्य है। क्योंकि जिस प्रकार नित्य अनित्य पक्षके विना स्वीकार किये इच्छित अर्थकी सिद्धि नहीं होती है, उसी प्रकार विना तत् अतत् पक्षके स्वीकार किये भी इच्छित अर्थकी सिद्धि नहीं हो सक्ती है। इसलिये दोनोंका मानना ही परम आवश्यक है।

शङ्काकार—

ननु भवति सर्वथैव हि परिणामो विसदृशोऽथ सदृशो वा।
ईहितसिद्धिस्तु सतः परिणामित्वाद्यथाकथञ्चिद्वै॥ ३२२॥

अर्थ—शंङ्काकार कहता है कि परिणाम चाहे सर्वथा समान हो अथवा चाहे सर्वथा असमान हो, तुम्हारे इच्छित अर्थकी सिद्धि तो पदार्थको परिणामी माननेसे ही यथा कथञ्चित् बन ही जायगी? भावार्थ–पदार्थको केवल परिणामी ही मानना चाहिये उसमें सदृश अथवा असदृशके विचारकी कोई आवश्यकता नहीं है।

उत्तर—

तन्न यतः परिणामः सन्नपि सदृशैकपक्षतो न तथा।
न समर्थश्चार्थकृते नित्यैकान्तादिपक्षवत् सदृशात्॥ ३२३॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि सत्में दो प्रकारका ही परिणमन होगा, सदृशरूप अथवा विसदृशरूप। यदि सदृशरूप ही सत्में परिणमन माना जाय तो भी इष्ट अर्थकी सिद्धि नहीं होती है। जिस प्रकार नित्यैकान्त पक्षमें दोष आते हैं उसी प्रकार सदृश परिणाममें भी दोष आते हैं उससे भी अभीष्टकी सिद्धि नहीं होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नापीष्टः संसिध्यै परिणामो विसदृशैकपक्षात्मो ।
क्षणिकैकान्तवदसतः प्रादुर्भावात् सतो विनाशाद्वा ॥ ३२४ ॥

अर्थ—यदि विसदृश रूप एक पक्षात्मक ही परिणमन माना जाय तो भी अभीष्टकी सिद्धि नहीं होती हैं। केवल विसदृश पक्ष माननेमें क्षणिकैकान्तकी तरह असत्की उत्पत्ति और सत्का विनाश होने लगेगा ।

एतेन निरस्तोऽभूत् क्लीवत्वादात्मनोऽपराद्धतया ।
तदतद्भावाभावापन्हववादी विबोध्यते त्वधुना ॥ ३२५ ॥

अर्थ—सदृश, असदृश पक्षमें नित्यैकान्त और अनित्यैकान्तके समान दोष आनेसे तत् अतत् पक्षका लोप करनेवाला शंकाकार खण्डित हो चुका । क्योंकि वह आत्मापराधी होनेसे स्वयं शक्ति हीन होचुका । अस्तु, अब हम (आचार्य) उसे समझाते हैं ।

तत् अतत् भावके स्वरूपके कहनेकी प्रतिज्ञा—

तदतद्भावनिबद्धो यः परिणामः सतः स्वभावतया ।
तद्दर्शनमधुना किल दृष्टान्तपुरस्सरं वक्ष्ये ॥ ३२६ ॥

अर्थ—तद्भाव और अतद्भावके निमित्तसे जो वस्तुका स्वभावसे परिणमन होता है, उसका स्वरूप अब दृष्टान्त पूर्वक कहा जाता है ।

सदृश परिणमनका उदाहरण—

जीवस्य यथा ज्ञानं परिणामः परिणमँस्तदेवेति ।
सदृशस्योदाहृतिरिति जातेरनतिक्रमत्वतो वाच्या ॥ ३२७ ॥

अर्थ—जैसे जीवका ज्ञान परिणाम, परिणमन करता हुआ सदा वही (ज्ञान रूप ही) रहता है । ज्ञानके परिणमनमें ज्ञानत्व जाति (ज्ञानगुण) का कभी उल्लंघन नहीं होता है । यही सदृश परिणमनका उदाहरण है ।

असदृश परिणमनका उदाहरण—

यदि वा तदिह ज्ञानं परिणामः परिणमन्न तदिति यतः ।
स्वावसरे यत्सत्त्वं तदसत्त्वं परत्र नययोगात् ॥ ३२८ ॥

अर्थ—अथवा वही जीवका ज्ञान परिणाम परिणमन करता हुआ वह नहीं भी रहता है, क्योंकि उसका एक समयमें जो सत्त्व है, वह नय दृष्टिसे दूसरे समयमें नहीं है ।

इस विषयमें भी दृष्टान्त—

अत्रापि च संदृष्टिः सन्ति च परिणामतोपि कालांशाः ।
जातेरनतिक्रमतः सदृशत्वनिबन्धना एव ॥ ३२९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—यहां पर दूसरा यह भी दृष्टान्त है कि यद्यपि कालके अंश परिणमनशील हैं तथापि स्वजातिका उल्लंघन नहीं होनेसे वे पदार्थमें सदृशबुद्धिके ही उत्पादक हैं।

अपि नययोगाद्विसदृशसाधनसिध्यै त एव कालांशाः।
समयः समयः समयः सोपीति बहुप्रतीतित्वात् ॥ ३३० ॥

अर्थ—अथवा नयदृष्टिसे वे ही कालके अंश विसदृश बुद्धिके उत्पादक हो जाते हैं। क्योंकि उनमें एक समय, दो समय, तीन समय, चार समय आदि अनेक रूपसे भिन्न २ प्रतीति होती है, वही क्षणभेद—प्रतीति पदार्थ भेदका कारण है।

अभिन्न प्रतीतिमें हेतु—

अतदिदमिहप्रतीतौ क्रियाफलं कारकाणि हेतुरिति।
तदिदं स्यादिह संविदि हि हेतुस्तत्त्वं हि चेन्मिथः प्रेम ॥३३१॥

अर्थ—'अतत्' अर्थात् यह वह नहीं है इस प्रतीतिमें क्रिया, फल, कारण ये सब हेतु हैं। 'तत्' अर्थात् यह वही है इस प्रतीतिमें परस्पर प्रेमभाव (ऐक्यभाव) को लिये हुए तत्त्व ही नियमसे हेतु है। भावार्थ-किसी वस्तुमें अथवा किसी गुणमें पूर्व पर्याय कारणरूप पड़ती है और उत्तर पर्याय कार्यरूप पड़ती है। तथा उस वस्तुकी अथवा गुणकी पर्यायका पलटना क्रिया कहलाती है। यदि भेद बुद्धिसे विचार किया जाय, तब तो तीनों बातें जुदी २ हैं, क्रिया, भिन्न पदार्थ है, कारणरूप पर्याय भिन्न पदार्थ है, तथा कार्य-फलरूप पर्याय भिन्न पदार्थ है। क्योंकि पूर्व पर्याय और उत्तर पर्यायका समय जुदा २ है, परन्तु द्रव्यदृष्टिसे—अभेद बुद्धिसे यदि विचार किया जाय तो द्रव्य अथवा गुण—अभिन्नरूप ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि पर्याय वस्तुसे जुदी नहीं है, अथवा सब पर्यायोंका समूह ही वस्तु है। इसलिये अभिन्न अवस्थामें क्रिया, कारण, फल सब एकरूप ही प्रतीत होते हैं।

इसीका स्पष्टीकरण—

अयमर्थः सदसद्वत्तदतदपि च विधिनिषेधरूपं स्यात्।
न पुनर्निरपेक्षतया तद्द्वयमपि तत्त्वमुभयतया ॥ ३३२ ॥

अर्थ—तात्पर्य यह है कि सत् और असत्के समान तत् और अतत् भी विधि, निषेधरूप है, परन्तु निरपेक्ष दृष्टिसे वे ऐसे नहीं है, क्योंकि एक दूसरेकी सापेक्षतामें दोनों रूप ही वस्तु है। भावार्थ-जिस प्रकार सत्की विवक्षामें विवक्षित पदार्थ विधिरूप पड़ता है और अविवक्षित असत्—निषेधरूप पड़ता है उसी प्रकार तत् अतत् विवक्षामें भी क्रमसे विवक्षित पदार्थ विधिरूप और अविवक्षित पदार्थ निषेधरूप पड़ता है। इतना विशेष है कि विधि, निषेधकी अपेक्षा रखता है और निषेध विधिकी अपेक्षा रखता है, सर्वथा स्वतन्त्र एक भी नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वथा स्वतन्त्र माननेसे पदार्थ व्यवस्था ही नहीं बनती है, क्योंकि पदार्थका स्वरूप कथञ्चित् विधि निषेधात्मक उभय रूप है।

विशेष—

रूपनिदर्शनमेतत्तदिति यदा केवलं विधिर्मुख्यः।
अतदिति गुणो पृथक्त्वात्तन्मात्रं निरवशेषतया ॥ ३३॥
अतदिति विधिर्विवक्षो मुख्यःस्यात् केवलं यदादेशात्।
तदिति स्वतो गुणत्वादविवक्षितमित्यतन्मात्रम् ॥ ३३४ ॥

अर्थ—विधि निषेधकी परस्पर सापेक्षतामें इतना विशेष है कि जिस समय केवल विधिको मुख्यतासे कहा जाता है उस समय अतत् अर्थात् निषेध कथन गौण हो जाता है, क्योंकि वह विधिसे जुदा है। विधिकी विवक्षामें वस्तु केवल विधि रूप ही प्रतीत होती है। उसी प्रकार जब 'अतत्' यह विधि कथन विवक्षित होता है, तब आदेशानुसार केवल वही मुख्य होजाता है, उस समय तत् कथन अविवक्षित होनेसे गौण होजाता है, अतत् विवक्षामें वस्तु तन्मात्र नहीं समझी जाती किन्तु अतन्मात्र ही समझी जाती है। यही विधिनिषेधका स्वरूप निदर्शन है। भावार्थ—भेद विवक्षामें वस्तु भिन्न भिन्न रूपसे प्रतीत होती है अभेद विवक्षामें एक रूपसे प्रतीत होती है। और प्रमाण विवक्षामें एक रूपसे अर्थात् उभयात्मक प्रतीत होती है।

शेषविशेषाख्यानं ज्ञातव्यं चोक्तवक्ष्यमाणतया।
सूत्रे पदानुवृत्तिर्ग्राह्या सूत्रान्तरादिति न्यायात् ॥ ३३५ ॥

अर्थ—इस विषयमें विशेष व्याख्यान पहले कहा जा चुका है तथा आगे भी कहा गया है, वहांसे जान लेना चाहिये। ऐसा न्याय भी प्रसिद्ध है कि कोई बात किसी सूत्रमें यदि न हो तो वह दूसरे सूत्रसे लेली जाती है। जैसे कि व्याकरणादिमें पूर्व सूत्रसे पदोंकी अनुवृत्ति करली जाती है।

शङ्काकार—

ननु किं नित्यमनित्यं किमथोभयमनुभयञ्च तत्त्वं स्यात्।
व्यस्तं किमथ समस्तं क्रमतः किमथाक्रमादेतत् ॥३३६॥

अर्थ—क्या वस्तु नित्य है, अथवा अनित्य है ? क्या उभयरूप है, अथवा अनुभय (दोनोंरूप नहीं) रूप है ? क्या जुदी २ है, अथवा एकरूप है? क्या क्रम पूर्वक है, अथवा अक्रम पूर्वक है ?

उत्तर—

सत्त्वं स्वपरनिहत्यै सर्वं किल सर्वथेति पदपूर्वं।
स्वपरोपकृतिनिमित्तं सर्वं स्यात्स्यात्पदाङ्कितं तु पदम् ॥३३७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—यदि वस्तुके पहले सर्वथा पद जोड़ दिया जाय तब तो वह स्वपर दोनोंकी विघातक हैं। यदि उसके पहले स्यात् पद जोड़ दिया जाय तब वही स्वपर दोनोंकी उपकारक है। भावार्थः—वस्तु अनन्त धर्मात्मक है इसलिये विवक्षावश उसमें एक धर्म मुख्य इतर गौण हो जाता है। इस गौण और मुख्यकी विवक्षामें ही पदार्थ कभी किसीरूप और कभी किसी रूप कहा जासकता है परन्तु मुख्य गौणकी विवक्षाको छोड़कर सर्वथा एकान्तरूप ही पदार्थको माननेसे किसी पदार्थकी सिद्धि नहींहो पाती, इसलिये पदार्थ कथञ्चित् द्रव्य दृष्टिसे नित्यरूप भी है कथंचित् पर्याय दृष्टिसे अनित्यरूप भी है कथंचित् प्रमाण दृष्टिसे उभयरूप भी है, कथंचित् नय दृष्टिसे अनुभयरूप भी है, अथवा बचनागो, चर होनेसे भी अनुभयरूप है। कथंचित् भेद विवक्षासे व्यस्तरूप भी है, कथंचित अभेद विवक्षासे समस्तरूप भी है कथञ्चित् वचन विवक्षासे क्रमरूप भी है और कथंचित् वचनकी अविवक्षासे अक्रमरूप भी है इस प्रकार वस्तुके साथ स्यात् पद, लगा देनेसे सभी बातें बन जाती हैं। विवक्षानुसार कुछ भी कहा जा सकता है परन्तु स्यात् पदको वस्तुसे हटाकर उसके साथ सर्वथा पद लगा देनेसे पदार्थ ही स्वरूप लाभ नहीं कर सक्ता है। सारांश अनेकान्त दृष्टिसे सब ठीक है, एकान्त दृष्टिसे एक भी ठीक नहीं है।

उसीका खुलासा—

अथ तद्यथा यथा सत्स्वतोस्ति सिद्धं तथा च परिणामि।
इति नित्यमथानित्यं सच्चैकं द्विस्वभावतया ॥ ३३८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पदार्थ स्वयं सिद्ध है, उसी प्रकार उसका परिणमन भी स्वतः सिद्ध है। अर्थात् परिणमनशील ही पदार्थ अनादि निधन है। वह सदा रहता है अर्थात् वह अपने स्वरूपको कभी नहीं छोड़ता है इस दृष्टिसे वह नित्य भी है, और प्रतिक्षण वह बदलता भी रहता है अर्थात् एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें आया करता है इस दृष्टिसे अनित्य भी है। इस प्रकार एक ही पदार्थ दो स्वभाव वाला है।

नित्य दृष्टि—

अयमर्थो वस्तु यदा केवलमिह दृश्यते न परिणामः।
नित्यं तदव्ययादिह सर्वं स्यादन्वयार्थनययोगात् ॥ ३३९ ॥

अर्थ—जिस समय निरन्तर एक रूपसे चले आये हुए पदार्थ पर दृष्टि रक्खी जाती है और उसके परिणामपर दृष्टि नहीं रक्खी जाती उस समय पदार्थ नित्य रूप प्रतीत होता है। क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता।

अनित्य दृष्टि—

अपि च यदा परिणामः केवलमिह दृश्यते न किल वस्तु।
अभिनवभावानभिनवभावाभावादनित्यमंशनयात् ॥३४०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—तथा जिस समय पदार्थपर दृष्टि नहीं रक्खी जाती केवल उसके परिणामपर ही दृष्टि रक्खी जाती है उस समय वस्तुमें नवीन भाव और पुराने भावकी प्राप्ति अप्राप्ति होनेसे वस्तु अनित्यरूप प्रतीत होती है। यहांपर केवल वस्तुके परिणाम अंशको ग्रहण किया गया है, ऊपर उसके द्रव्य अंशको ग्रहण किया गया है। वस्तुके एक देशको ग्रहण करने वाला ही नय है। यहां पर शङ्काकार १८ श्लोकों द्वारा सत् और परिणामके विषयमें अपनी नाना कल्पनाओं द्वारा शङ्का करता है।

ननु चैकं सदिति यथा तथा च परिणाम एव तद् द्वैतम्।
वक्तुं क्षममन्यतरं क्रमतो हि समं न तदिति कुतः ॥ ३४१॥

अर्थ—जिस प्रकार एक सत् है उसी प्रकार एक परिणाम भी है, इन दोनोंमें स्वतन्त्र रीतिसे द्वैत भाव है। फिर क्या कारण है कि उन दोनोंमेंसे एकका क्रमसे ही कथन किया जाय, दोनोंका कथन समानतासे एक साथ क्यों नहीं किया जाता। भावार्थ—जब सत् और परिणाम दोनों ही समान हैं तो फिर वे क्रमसे क्यों कहे जाते हैं, स्वतन्त्र रीतिसे एक साथ क्यों नही ?

क्या सत् और परिणाम वर्णोंकी ध्वनिके समान हैं—

अथ किं कखादिवर्णाः सन्ति यथा युगवदेव तुल्यतया।
वक्ष्यन्ते क्रमतस्ते क्रमवर्तित्वाद्ध्वनेरिति न्यायात् ॥ ४४२ ॥

अर्थ—सत् और परिणाम क्या क, ख आदि वर्णोंके समान दोनों बराबर हैं। जिस प्रकार क, ख आदि सभी वर्ण एक समान हैं परन्तु वे क्रमसे बोले जाते हैं, क्योंकि ध्वनि-उच्चारण क्रमसे ही होता है अर्थात् एक साथ दो वर्णोंका उच्चारण हो नहीं सक्ता। क्या इस न्यायसे सत् और परिणाम भी समानता रखते हैं और वे क्रमसे बोले जाते हैं ?

क्या विन्ध्य हिमाचलके समान हैं—

अथ किं खरतरदृष्ट्या विन्ध्यहिमाचलयुगं यथास्ति तथा
भवतु विवक्ष्यो मुख्यो विवक्तुरिच्छावशाद्गुणोऽन्यतरः ॥४४३॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार विन्ध्य पर्वत और हिमालय पर्वत दोनों ही स्वतन्त्र हैं परन्तु दोनोंमें वक्ता की इच्छासे जो तीक्ष्णदृष्टिसे विवक्षित होता है वह मुख्य समझा जाता है और दूसरा अविवक्षित गौण समझा जाता है। क्या सत् और परिणाम भी इसी प्रकार स्वतन्त्र हैं, और उन दोनोंमें जो विवक्षित होता है वह मुख्य समझा जाता है तथा दूसरा गौण समझा जाता है ?

क्या सिंह साधु विशेषणोंके समान हैं—

अथ चैकः कोपि यथा सिंहः साधुर्विवक्षितो द्वेधा।
सत्परिणामोपि तथा भवति विशेषणविशेष्यवत् किमिति ॥३४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—अथवा जिस प्रकार कोई पुरुष शूरता, पराक्रम आदि गुणोंके धारण करनेसे कभी सिंह कहलाता है और सज्जनता, नम्रता आदि गुणोंके धारण करनेसे कभी साधु कहलाता है। एक ही पुरुष विवक्षाके अनुसार दो विशेषणोंवाला हो जाता है, अथवा उन दोनोंमें विवक्षित विशेषण कोटिमें आजाता है और अविवक्षित विशेष्य कोटिमें चला जाता है। क्या उसी प्रकार सत् और परिणाम भी विवक्षाके अनुसार कहे हुए किसी पदार्थके विशेषण हैं? अर्थात् क्या इनका भी कोई विशेष्य और है?

क्या दो नाम और सव्येतर गोविषाणके समान हैं—

अथ किमनेकार्थत्वादेकं नामद्वयाङ्कितं किञ्चित्।
अग्निर्वैश्वानर इव सव्येतरगोविषाणवत् किमथ ॥ ३४५ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार एक ही पदार्थ अनेक नामोंकी अपेक्षा रखनेसे अग्निर्वैश्वानरके समान दो नामोंसे कहा जाता है अर्थात् अग्निर्वैश्वानर आदि भेदोंसे एक ही अग्निके दो नाम (अनेक) हो जाते हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम एक ही पदार्थके दो नाम हैं? अथवा जिस प्रकार गौके दाँये बाँये (एक साथ) दो सींग होते हैं, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी किसी वस्तुके समान कालमें होनेवाले दो धर्म हैं?

क्या कच्ची और पकी हुई पृथ्वीके समान हैं—

अथ किं काल विशेषादेकः पूर्वं ततोऽपरः पश्चात्।
आमानामविशिष्टं पृथिवीत्वं तद्यथा तथा किमिति ॥३४६ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार कच्ची पृथ्वी (कच्चा घड़ा) पहले होती है, पीछे अग्निमें देनेसे वह पकी हुई हो जाती है। उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी काल विशेषसे आगे पीछे होनेवाले हैं? अर्थात् क्या इन दोनोंमेंसे कोई एक पहले होता है और दूसरा पीछे?

क्या दो सपत्नियोंके समान हैं—

अथ किं कालक्रमतोप्युत्पन्नं वर्त्तमानमिव चास्ति।
भवति सपत्नीद्वयमिह यथा मिथः प्रत्यनीकतया ॥ ३४७ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार किसी पुरुषकी आगे पीछे परणी हुई दो स्त्रियां (सौतें) एक कालमें परस्पर विरुद्धरूपसे रहती हैं। उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम काल क्रमसे आगे पीछे उत्पन्न होते हुए भी एक कालमें—वर्तमानकालमें परस्पर विरुद्धरूपसे रहते हैं? अर्थात् भिन्न कालमें उत्पन्न होकर भी दोनों एक कालमें समान अधिकारी बनकर परस्पर विरुद्धता धारण करते हैं?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या छोटे बड़े भाइयों तथा मल्लोंके समान हैं—

अथ किं ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातृद्वयमिव मिथः सपक्षतया ।
किमथोपसुन्दसुन्दमल्लन्यायात्किलेतरेतरस्मात् ॥ ३४८ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार बड़े छोटे दो भाई परस्पर प्रेमसे रहते हैं, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम आगे पीछे उत्पन्न होकर वर्त्तमानकालमें परस्पर अविरुद्ध रीतिसे रहते हैं ? अथवा जिस प्रकार * उपसन्द और सुन्द नामके दो मल्ल परस्पर एक दूसरेसे जय अपजय प्राप्त करते हुए अन्तमें मर गये उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी परस्पर प्रतिद्वन्द्विता रखते हुए अन्तमें नष्ट हो जाते हैं ?

क्या परत्वापरत्व तथा पूर्वापर दिशाओंके समान हैं—

केवल मुपचारादिह भवति परत्वापरत्ववत्क्रमथ ।
पूर्वापरदिग्द्वैतं यथा तथा द्वैतमिदमपेक्षतया ॥ ३४९ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार दो छोटे बड़े पुरुषोंमें परापर व्यवहार केवल उपचारसे होता है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी उपचारसे कहे जाते हैं। अथवा जिस प्रकार पूर्व दिशा, पश्चिम दिशा आदि व्यवहार होता है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी केवल अपेक्षा मात्रसे कहे जाते हैं। भावार्थ—बड़े की अपेक्षा छोटा, छोटेकी अपेक्षा बड़ा, यह केवल आपेक्षिक व्यवहार है। यदि छोटाबड़ापन वास्तविक हो तो छोटा छोटा रहना चाहिये और बड़ा बड़ा ही रहना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है, जो छोटा कहलाता है वह भी अपनेसे छोटेकी अपेक्षासे बड़ा कहलाता है, अथवा जो बड़ा कहलाता है वह भी अपनेसे बड़ेकी अपेक्षासे छोटा कहलाता है। इसलिये वास्तवमें छोटापन अथवा बड़ापन कोई वस्तु नहीं है केवल व्यवहार कालकृत अपेक्षासे होनेवाला व्यवहार है। इसी प्रकार क्षेत्रकृत परापर व्यवहार होता है। जैसे—यह निकट है, यह दूर है इत्यादि। यह निकट और दूरका व्यवहार भी केवल परस्परकी अपेक्षासे होता है। वास्तवमें निकटता और दूरता कोई वस्तुभूत नहीं है। परत्वा परत्वके समान दिशायें भी काल्पनिक हैं। सूर्योदयकी अपेक्षासे पूर्व दिशा और सूर्यके छिपनेकी अपेक्षासे पश्चिम दिशाका व्यवहार होता है। इसी प्रकार सूर्यको दाहिनी भुजाकी

---

* हितोपदेशमें ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि सुन्द उपसुन्द नामके दो मल्लोंने महादेवकी आराधना की, महादेव उनपर प्रसन्न हो गये, दोनोंने महादेवसे उनकी स्त्री पार्वतीको वरमें मांगा। महादेवने क्रोधपूर्वक उसे उनको दे दिया। फिर दोनों ही पार्वतीके लिये लड़ने लगे। महादेवने वृद्ध ब्राह्मणका रूप रखकर उनसे कहा कि जो युद्धमें तुममेंसे विजय प्राप्त करै उसकी पार्वती होगी। दोनों ही ने इस बातको पसंद किया और क्षत्रिय पुत्र होनेसे दोनों ही लड़ने लगे। दोनों समान बलवाले थे इस लिये लड़तेर दोनों ही मर गये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओर रखकर खड़े होनेसे सामने उत्तर और पीठ पीछे दक्षिणका व्यवहार होता है, तथा ऊपर ऊर्ध्व और नीचे अधोदिशाका व्यवहार होता है। यह व्यवहार केवल आकाशमें किया जाता है। क्योंकि सूर्योदयकी ओरके आकाशको ही पूर्व दिशा कहा जाता है, उस ओरके आकाशको छोड़कर पूर्व दिशा और कोई पदार्थ नहीं है। इसलिये दिशा कोई पदार्थ नहीं है * केवल काल्पनिक व्यवहार है* उसी प्रकार सत् और परिणाम भी क्या काल्पनिक हैं।

क्या कारक द्वैतके समान हैं—

किमथाधाराधेयन्यायादिह कारकादि द्वैतमिव।
स यथा घटे जलं स्यान्न स्यादिह जले घटः कश्चित् ॥ ३५० ॥

अर्थ—अथवा यह कहा जाय कि घड़ेमें जल है, तो यह कथन दो कारकोंको प्रकट करता है। घड़ेमें, यह वाक्य अधिकरण कारक रूप है, और जल है, यह वाक्य कर्त्ता कारक-रूप है। क्योंकि घड़ा जलका आधार है, और जल स्वतन्त्र है इसलिये कर्त्ता कारक है। दूसरे वाक्योंमें ऐसा भी कहा जा सकता है कि सप्तमी विभक्त्यन्त पद अधिकरण कारक होता है, और प्रथमा विभक्त्यन्त पद कर्त्ता कारक होता है। अधिकरण आधाररूप होता है और उसमें रहनेवाला आधेय होता है ऐसा विपरीत नहीं होता है कि आधेय तो आधार होजाय और आधार आधेय होजाय, क्योंकि घटमें जल रहता है परन्तु जलमें घट नहीं रहता जिस प्रकार घट और जलमें आधार आधेय भावरूप दो कारक हैं, क्या उसी प्रकार सत् और परिणाम भी हैं? अर्थात् उनमें भी जलके समान एक आधेय रूप और दूसरा घड़ेके समान आधार रूप है?

क्या बीजाङ्कुरके समान हैं—

अथ किं बीजाङ्कुरवत्कारणकार्यद्वयं यथास्ति तथा।
स यथा योनीभूतं तत्रैकं योनिजं तदन्यतरम् ॥ ३५१ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार बीज और अङ्कुरमें कार्यकारण भाव है। बीज अङ्कुरकी उत्पत्तिका स्थान—योनि है, और अङ्कुर उससे उत्पन्न—योनिज है। उसी प्रकार सत् और परिणाममें भी क्या कार्य कारण भाव है?

क्या कनकोपलके समान हैं—

अथ किं कनकोपलवत् किञ्चित्स्वं किञ्चिदस्वमेव यतः।
ग्राह्यं स्वं सारतया तदितरमस्वं तु हेयमसारतया ॥ ३५२ ॥

---

* दिशोप्याकाशेन्तर्भावः आदित्योदयाद्यपेक्षया आकाशप्रदेशपंक्तिषु इतः इदमिति व्यवहारोपपत्तेः। **सर्वार्थ सिद्धि**—

*नैयायिक, दार्शनिक द्रव्योंके नौ भेद करते हैं और उन्हीं नौ भेदोंमें दिशा भी एक द्रव्य मानते हैं। ऐसा उनका मानना ऊपरके कथनसे खण्डित होजाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—अथवा जिस प्रकार एक कनक पाषाण नामका पत्थर होता है उसमें कुछ तो सोनेका अंश रहता है, और कुछ पाषाणका अंश रहता है। उन दोनोंमें स्वर्णांश सारभूत होनेसे ग्रहण करने योग्य होता है ? और दूसरा पाषाणांश असारभूत होनेसे छोड़ने योग्य होता है। उसी प्रकार क्या सत् और परिणाममें भी एक ग्रहण करने योग्य है और दूसरा छोड़ने योग्य है ?

क्या वाच्य वाचकके समान हैं—

अथ किं वागर्थद्वयमिव सम्पृक्तं सदर्थसंसिद्ध्यै ।
पानकवत्तन्नियमाद्र्थाभिव्यञ्जकं ह्येतात् ॥ ३५३ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार वचन और अर्थ दोनों मिले हुए ही पानकके समान पदार्थके साधक हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी मिले हुए पदार्थके सूचक हैं ? भावार्थ—घड़ी शब्दके कहनेसे उस गोल पदार्थका बोध होता है जो कि समयको बतलाता है, इसलिये घड़ी शब्द उस गोल घड़ीरूप अर्थका वाचक है, तथा वह गोल पदार्थ उस शब्दका वाच्य है। इसी प्रकार जितने भी शब्द हैं वे पदार्थोंके संकेतरूप हैं। इसीको वाच्य वाचक सम्बन्ध कहते हैं। वाच्य वाचकका सम्बन्ध होनेसे ही पानकके समान पदार्थका बोध होता हैं। लवंग, इलाइची, सोंठ, कालीमिरच इन मिली हुई वस्तुओंसे जो स्वादु रस विशेष तैयार होता है उसीको पानक कहते हैं। जिस प्रकार पानकके समान वाच्य वाचकका सम्बन्ध होनेसे वाचक अपने सांकेतिक वाच्यका बोध कराता है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी पदार्थके बोधक हैं ? अर्थात् जिस प्रकार वाच्यसे वाचक भिन्न है उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी पदार्थसे भिन्न हैं ?

क्या भेरी दण्डके समान हैं—

अथ किमवश्यतया तद्वक्तव्यं स्यादनन्यथासिद्धेः ।
भेरी दण्डवदुभयोः संयोगादिव विवक्षितः सिद्ध्येत् । ३५४ ।

अर्थ—अथवा जिस प्रकार भेरी और दण्डके संयोगसे ही शब्द होता है। केवल भेरी (नगाड़ा) से भी शब्द नहीं हो सक्ता और न केवल दण्डसे ही हो सकता है किंतु दोनोंके संयोगसे ही होता है इसलिये दोनोंका होना ही आवश्यक है। उसी प्रकार क्या सत् और परिणामके संयोगसे पदार्थकीसिद्धि होती है ? क्या दोनोंका कहना इसीलिये आवश्यक है ? अर्थात् जिस प्रकार भेरी और दण्ड दोनों ही भिन्न २ पदार्थ हैं परन्तु दोनोंके मेलसे वाद्य होता है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी भिन्न२ हैं, तथा उनके मेलसे पदार्थकी सिद्धि होती है ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या अपूर्ण न्यायके समान हैं–

अथ किमुदासीनतया वक्तव्यं वा यथारुचित्वान्न ।
यदपूर्णन्यायादप्यन्यतरेणेह साध्यसंसिद्धेः । ३५५ ।

अर्थ—अथवा जिस प्रकार अपूर्ण न्यायसे एकका मुख्यतासे ग्रहण होता है और दूसरेका गौणरीतिसे ग्रहण होता है। गौणरीतिसे ग्रहण होनेवालेका विवेचन रुचिपूर्वक नहीं होता है किन्तु उदासीनतासे होता है। उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम हैं ? अथवा जिस प्रकार अपूर्ण न्यायसे पुकारे हुए दो नामोंमेंसे किसी एकसे ही साध्यकी सिद्धि हो जाती है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाममेंसे किसी एकसे ही साध्यकी (पदार्थकी) सिद्धि होती है ?

क्या मित्रोंके समान हैं—

अथ किमुपादानतया स्वार्थं सृजति कश्चिदन्यतमः ।
अपरः सहकारितया प्रकृतं पुष्णाति मित्रवत्तदिति ॥ ३५६ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार एक पुरुष किसी कार्यको स्वयं करता है, उसका मित्र उसे उसके कार्यमें सहायता पहुंचाता है, मित्रकी सहायतासे वह पुरुष अपने कार्यमें सफलता कर लेता है* उसी प्रकार क्या सत् और परिणाममें एक उपादान होकर कार्य करता है, दूसरा उसका सहायक बनकर पदार्थ सिद्धि कराता है ?

क्या आदेशके समान हैं—

शत्रु वदादेशः स्यात्तद्वत्तद्द्वैतमेव किमिति यथा ।
एकं विनाश्य मूलादन्यतमः स्वयमुदेति निरपेक्षः ॥ ३५७ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार शत्रुके समान आदेश होता है जो कि पहलेको सर्वथा हटाकर उसके स्थानमें स्वयं ठहरता है * उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी हैं ? सत्-को सर्वथा नष्ट कर कभी स्वयं परिणाम होता है और परिणामको सर्वथा नष्ट कर कभी स्वयं सत् उदित होता है ?

क्या दो रज्जुओंके समान हैं—

अथ किं वैमुख्यतया विसन्धिरूपं द्वयं तदर्थकृते ।
वामेतरकरवर्त्तितरज्जूयुग्मं यथास्वमिदमिति चेत् ॥ ३५८ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार छाछ विलोते समय दाँये बाँये हाथमें रहनेवाली दो रस्सियां परस्पर विमुखतासे अनमिल रहती हुई कार्यको करती हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी परस्पर विमुख रहकर ही पदार्थकी सिद्धि कराते हैं ?

---

* जैसे व्याकरणमें बतलाया जाता है कि छ को तुक् हो तो यदि तुक आदेशरूपसे होगा तब तो छ के स्थानमें होगा। यदि आगमरूपसे होगा तो छ के स्वासन्न (पासमें) होगा। इसलिये आदेश शत्रुके समान और आगम मित्रके समान होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब आचार्य प्रत्येक शंकाका उत्तर देते हैं–

नैवमदृष्टान्तत्त्वात् स्वेतरपक्षोभयस्य घातित्वात् ।
नाचरते मन्दोपि च स्वस्य विनाशाय कश्चिदेव यतः ॥३५९॥

अर्थ—शंकाकारने ऊपरके श्लोकों द्वारा जो जो शंकाएँ की हैं, तथा जो जो दृष्टान्त दिये हैं वे ठीक नहीं हैं। जो दृष्टान्त दिये हैं वे दृष्टान्त नहीं किन्तु दृष्टान्ताभास हैं। क्योंकि उन दृष्टान्तोंसे एक पक्षकी भी सिद्धि नहीं होती है। न तो उन दृष्टान्तोंसे शंकाकारका ही अभिप्राय सिद्ध होता है। और न जैन सिद्धान्त ही सिद्ध होता है। इसलिये दोनों पक्षोंके घातक होनेसे वे दृष्टान्त, दृष्टान्त कोटिमें ही नहीं आ सक्ते हैं। कोई मन्दबुद्धिवाला पुरुष भी तो ऐसा प्रयोग नहीं करता है जिससे कि स्वयं उसका ही विघात होता हो।

सत् परिणामके विषयमें वर्ण पंक्तिका दृष्टान्त ठीक नहीं है–

तत्र मिथस्सापेक्षधर्मद्वयदेशितप्रमाणस्य ।
माभूदभाव इति नहि दृष्टान्तो वर्णपंक्तिरित्यत्र ॥३६०॥

अर्थ—सत् और परिणाम इन परस्पर सापेक्ष दोनों धर्मोंको विषय करनेवाला प्रमाण होता है। उस प्रमाणका अभाव न हो इसलिये इस विषयमें वर्णपंक्तिका दृष्टान्त ठीक नहीं है। भावार्थ—वर्णपंक्ति स्वतन्त्र है। क, ख, ग, घ आदि वर्ण परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हुए सिद्ध नहीं है किन्तु पृथक् २ सिद्ध हैं। परन्तु सत् और परिणाम परस्पर सापेक्ष हैं इसलिये वर्णपंक्तिका दृष्टान्त इस विषयमें विषम पड़ता है, इन्हीं परस्पर सापेक्ष दोनों धर्मोंको प्रमाण निरूपण करता है। प्रमाणका अभाव हो नहीं सक्ता, कारण वस्तुका स्वरूप ही उभय धर्मात्मक है। उसीको विषय करनेवाला प्रमाण है इसलिये प्रमाण व्यवस्था अनिवार्य है।

प्रमाणाभावमें नय भी नहीं ठहरता—

अपि च प्रमाणाभावे नहि नयपक्षः क्षमः स्वरक्षायै ।
वाक्यविवक्षाभावे पदपक्षः कारकोपि नार्थकृते ॥३६१॥

अर्थ—पहले तो प्रमाणका अभाव किसी दृष्टांतसे सिद्ध ही नहीं होता, दूसरे प्रमाणके अभावमें नय पक्ष भी अपनी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं रह सकता है तथा वाक्य विवक्षाके विना पदपक्ष और कारकसे भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। भावार्थ—यदि 'घीका घड़ा लाओ' इस वाक्यकी विवक्षा न रक्खी जाय, और केवल घीका, घड़ा, इन भिन्न २ पदोंका विना सम्बन्धके स्वतन्त्र प्रयोग किया जाय तो इन पदोंसे तथा षष्ठी और कर्म कारकसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, वे निरर्थक ही हैं। इसी प्रकार यदि परस्पर सापेक्ष उभय धर्मको विषय करनेवाले प्रमाणको न माना जाय तो पदार्थके एक अंशको विषय करनेवाला नय भी नहीं ठहर सक्ता है। क्योंकि सम्पूर्ण धर्मोंको विषय करनेवाले ज्ञानके रहते हुए ही एक २ धर्मको विषय करनेवाला ज्ञान ठीक होसक्ता है, अन्यथा नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशङ्का—

संस्कारस्य वशादिह पदेषु वाक्यप्रतीतिरिति चेद्वै ।
वाच्यं प्रमाणमात्रं न नया युक्तस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ३९२ ॥
अथ चैवं सति नियमाद् दुर्वारं दूषणद्वयं भवति ।
नयपक्षच्युतिरिति वा क्रमवर्तित्वाद्ध्वनेरहेतुत्वम् ॥ ३९३ ॥

अर्थ—ऊपर यह कहा गया है कि विना प्रमाणके स्वीकार किये नय पक्ष भी नहीं ठहर सक्ता है जैसे—विना वाक्य विवक्षाके पदपक्ष अर्थकारी नहीं ठहरता है। इसके उत्तरमें यदि यह आशंका उठाई जाय कि संस्कारके वशसे पदोंमें ही वाक्यकी प्रतीति मानली जाय तो अर्थात् नयोंमें ही प्रमाणकी कल्पना करली जाय तो ? उत्तरमें कहा जाता है कि यदि नयोंमें ही वाक्य प्रतीति स्वीकार की जायगी तो प्रमाण मात्र ही कहना चाहिये फिर नय सिद्ध नहीं होते हैं। वही दूषण—नय पक्षका अभाव होना बना रहता है। अथवा पदोंमें वाक्य विवक्षाके समान नयोंमें ही प्रमाण पक्ष स्वीकार करनेसे दो दूषण आते हैं। (१) नय-पक्षका अभाव होजायगा। क्योंकि नयोंके स्थानमें तो उन्हें प्रमाणरूप माना गया है। क्रमसे होने वाली जो ध्वनि है उसे शाब्दबोधमें कारणता नहीं रहेगी। (२) क्योंकि जब पदोंमें ही वाक्यकी प्रतीति हो जायगी तो एक पदसे ही अथवा एक अक्षरसे ही समस्त वाक्योंका बोध होजायगा, ऐसी अवस्थामें ध्वनिको अर्थ प्रतीतिमें हेतुता नहीं आसकेगी।

विन्ध्य हिमाचल भी दृष्टान्ताभास है—

विन्ध्यहिमाचलयुग्मं दृष्टान्तो नेष्टसाधनायालम् ।
तदनेकत्वे नियमादिच्छानर्थक्यताऽविवक्षश्च ॥ ३९४ ॥

अर्थ—विन्ध्याचल और हिमाचल दोनों ही स्वतन्त्र सिद्ध हैं इसलिये एकमें मुख्य विवक्षा दूसरेमें गौण—अविवक्षा हो नहीं सक्ती है। दूसरी बात यह है कि जब दोनों ही स्वतन्त्र सिद्ध हैं तो एकमें मुख्य और दूसरेमें गौण विवक्षाकी इच्छाका होना ही निरर्थक है, इसलिये विन्ध्याचल और हिमाचल पर्वतोंका दृष्टान्त भी इष्ट पदार्थको सिद्ध करनेके लिये समर्थ नहीं है। भावार्थ—विन्ध्याचल और हिमाचल दोनों ही जब स्वतन्त्र हैं तो एकमें प्रधानता दूसरेमें अप्रधानता कैसे आसक्ती है ? क्योंकि मुख्य गौण विवक्षाका कारण अभिन्न पदार्थमें दृष्टिभेद है, तथा जहांपर एक धर्म दूसरे धर्मकी अपेक्षा रखता हो, अथवा विना अपेक्षाके वह भी सिद्ध न हो सक्ता हो, वहां पर विवक्षित धर्म मुख्य और अविवक्षित धर्म गौण होता है, विन्ध हिमाचलमें कोई किसीकी अपेक्षा नहीं रखता है, और न विना अपेक्षाके किसीकी असिद्धि ही होती है। यदि विन्ध्याचल विना हिमाचलके न होसके अथवा हिमाचल विना विन्ध्याचलके न हो सके तब तो परस्पर अपेक्षा मानी जाय और इच्छानुसार एकको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवक्षित दूसरेको अविवक्षित बनाया जाय, परन्तु ऐसा नहीं है। दोनों ही सर्वथा स्वतन्त्र हैं इसलिये बिना एक दूसरेकी अपेक्षाके सिद्ध नहीं होनेवाले सत् और परिणामके विषयमें उक्त दोनों पर्वतोंका दृष्टान्त ठीक नहीं है।

सिंह साधु भी दृष्टान्ताभास है—

नालमसौ दृष्टान्तः सिंहः साधुर्यथेह कोपि नरः ।
दोषादपि स्वरूपासिद्धत्वात्किल यथा जलं सुरभि ॥ ३६५ ॥
नासिद्धं हि स्वरूपासिद्धत्वं तस्य साध्यशून्यत्वात् ।
केवलमिहरूढिवशादुपेक्ष्य धर्मद्वयं यथेच्छत्वात् ॥ ३६६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी पुरुषके सिंह, साधु विशेषण बना दिये जाते हैं, उसी प्रकार सत् और परिणाम भी पदार्थके विशेषण हैं ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहांपर सत् परिणामात्मक पदार्थ साध्य है, उस साध्यकी सिद्धि इस दृष्टान्तसे नहीं होती है, इसलिये सिंह साधुका दृष्टान्त दृष्टान्ताभास है। इस दृष्टान्त में स्वरूपासिद्ध दोष आता है यहांपर स्वरूपासिद्ध दोष असिद्ध नहीं है किन्तु साध्यशून्य होनेसे सुघटित ही है। जैसे—किसी पुरुषके रूढिमात्रसे इच्छानुसार सिंह और साधु ऐसे दो नाम रख दिये जाते हैं, उनमें सिंहत्व साधुत्व धर्मोंकी कुछ भी अपेक्षा नहीं की जाती है। केवल दो नामोंकी कल्पना कर दी जाती है, परन्तु सत्परिणाम काल्पनिक नहीं है किन्तु वास्तविक है, इसलिये यह दृष्टान्त उभयधर्मात्मक साध्यसे शून्य है। जिस प्रकार नैयायिकोंके यहां जलमें सुगन्धि सिद्ध करना असिद्ध है क्योंकि *जलमें सुगन्धि स्वरूपसे ही असिद्ध है इसी प्रकार इस दृष्टान्तमें साध्य स्वरूपसे ही असिद्ध है। भावार्थ—स्वरूपासिद्ध दोषमें कहींपर हेतुका स्वरूप असिद्ध होता है कहीं पर साध्यका स्वरूप असिद्ध होता है। उपर्युक्त दृष्टान्तसे आश्रयासिद्ध दोष भी आता है, क्योंकि सत्परिणामका कोई आश्रय नहीं है।

अग्नि वैश्वानर भी दृष्टान्ताभास है—

अग्निर्वैश्वानर इव नामद्वैतं च नेष्टसिद्ध्यर्थम् ।
साध्यविरुद्धत्वादिह संदृष्टेरथ च साध्यशून्यत्वात् ॥ ३६७ ॥
नामद्वयं किमर्थादुपेक्ष्य धर्मद्वयं च किमपेक्ष्य ।
प्रथमे धर्मिभावेप्यलं विचारेण धर्मिणोऽभावात् ॥ ३६८ ॥
प्रथमेतरपक्षेऽपि च भिन्नमभिन्नं किमन्वयात्तादिति ।
भिन्नं चेद्विशेषादुक्तवदसतो हि किं विचारतया ॥ ३६९ ॥

* नैयायिकमत जलमें गन्ध नहीं मानता है। इसलिये उसके मतानुसार 'जलं सुरभि' दृष्टान्त देकर यहां खण्डन किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथचेद्युतसिद्धत्वात्तन्निष्पत्तिर्द्वयोः पृथक्त्वेपि ।
सर्वस्य सर्वयोगात् सर्वः सर्वोपि दुर्निवारः स्यात् ॥ ३७० ॥
चेदन्वयादभिन्नं धर्मद्वैतं किलेति नयपक्षः ।
रूपपटादिवदिति किं किमथ क्षारद्रव्यवच्चेति ॥ ३७१ ॥
क्षारद्रव्यवदिदं चेदनुपादेयं मिथोनपेक्षत्वात् ।
वर्णततेरविशेषन्यायान्न नयाः प्रमाणं वा ॥ ३७२ ॥
रूपपटादिवदिति चेत्सत्यं प्रकृतस्य सानुकूलत्वात् ।
एकं नामद्वयाङ्कमिति पक्षस्य स्वयं विपक्षत्वात् ॥ ३७३ ॥

अर्थ—अग्नि और वैश्वानरके समान सत् और परिणाम ये दो नाम ही माने जाय तो भी इष्ट सिद्धि नहीं होती है । क्योंकि वे साध्यसे विरुद्ध पड़ते हैं । दृष्टान्त भी साध्य शून्य है, अर्थात् हमारा साध्य—परस्पर सापेक्ष उभय धर्मात्मक पदार्थरूप है उस उभय धर्मात्मक पदार्थरूप साध्यकी सिद्धि दो नामोंसे नहीं होती है । तथा अग्नि और वैश्वानर ये दो नाम भिन्न रहकर एक अग्निके वाचक हैं, इसलिये यह दृष्टांत भी साध्य रहित है । यदि नाम द्वयका दृष्टान्त साध्य विरुद्ध नहीं है तो हम पूंछते हैं कि नाम दो धर्मोंकी उपेक्षा रखते हैं अथवा अपेक्षा रखते हैं ? यदि पहला पक्ष स्वीकार किया जाय, अर्थात् दो नाम दो धर्मोंकी अपेक्षा नहीं रखते केवल एक पदार्थके दो नाम हैं तो धर्मोंका अभाव ही हुआ जाता है, धर्मोंके अभावमें धर्मी भी नहीं ठहर सक्ता है, फिर तो विचार करना ही व्यर्थ है । यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार किया जाय अर्थात् दो नाम दो धर्मोंकी उपेक्षा नहीं करते किन्तु अपेक्षा रखते हैं तो वे दोनों धर्म द्रव्यसे भिन्न हैं अथवा अभिन्न हैं ? यदि द्रव्यसे भिन्न हैं तो भी वे नहींके समान हैं, फिर भी कुछ विशेषता नहीं हुई, जो धर्म द्रव्यसे सर्वथा जुदे हैं तो वे उसके नहीं कहे जा सकते हैं, इसलिये उनका विचार करना ही निरर्थक है । यदि यह कहा जाय कि दोनों धर्म द्रव्यसे यद्यपि जुदे हैं क्योंकि वे युतसिद्ध हैं । *तथापि उन धर्मोंका द्रव्यके साथ सम्बन्ध मान लेनेसे कोई दोष नहीं आता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, यदि भिन्न पदार्थोंका इस प्रकार सम्बन्ध मानलिया जाय तो सब पदार्थोंका सब पदार्थोंके साथ सम्बन्ध हो जायगा ऐसी अवस्थामें सभी पदार्थ संकर हो जायगें अर्थात् जैसे सर्वथा भिन्न धर्मोंका एक द्रव्यके साथ सम्बन्ध माना जाता है वैसे उनका हरएक द्रव्यके साथ सम्बन्ध होसक्ता है, क्योंकि जब वे धर्म द्रव्यसे सर्वथा जुदे ही हैं तो जैसे उनका एक द्रव्यसे सम्बन्ध होसक्ता है वैसे सब द्रव्योंसे होसक्ता है फिर सभी द्रव्य परस्पर मिल जांयगे । द्रव्योंमें परस्पर भेद ही

* जो एक दूसरेसे आश्रित न होकर स्वतन्त्र हों उन्हें युतसिद्ध कहते हैं । जैसे चौकी पर रक्खी हुई पुस्तक ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न हो सकेगा। इसलिये द्रव्यसे धर्मोंको जुदा मानना ठीक नहीं है। यदि यह कहा जाय कि दोनों धर्म द्रव्यसे अभिन्न हैं तो प्रश्न होता है कि वे वस्त्र और वस्त्रमें रहनेवाले रूप (रंग) की तरह अभिन्न हैं अथवा आटेमें मिले हुए खारेपनकी तरह अभिन्न हैं ? यदि कहा जाय कि खारे द्रव्यके समान वे धर्म द्रव्यसे अभिन्न हैं तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि लवणकी रोटीमें जो खारापन है वह लवणका है, रोटीका नहीं है। रोटीसे खारापन जुदा ही है। इसीके समान धर्म द्वय भी द्रव्यसे जुदे पड़ेंगे। जुदे होनेसे उनमें परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा भी + नहीं रहेगी। परंतु सत् और परिणाम परस्पर सापेक्ष हैं इसलिये क्षार द्रव्यके समान उनकी अभिन्नता उपादेय (ग्राह्य) नहीं है। क्षार द्रव्यके समान जो अभिन्नता है वह वैसी ही है जैसी कि क, ख, ग, घ आदि वर्णोंकी पंक्ति सर्वथा स्वतन्त्र होती है। * इस प्रकारकी स्वतन्त्रता माननेसे न तो नय ही सिद्ध होते हैं और न प्रमाण ही सिद्ध होता है। विना परस्परकी अपेक्षाके एक भी सिद्ध नहीं हो सक्ता है। इसलिये क्षार द्रव्यके समान न मानकर रूप और पटके समान उन धर्मोंकी अभिन्नता यदि मानी जाय तो यह प्रकृतके अनुकूल ही है। अर्थात् जिस प्रकार वस्त्र और उसका रंग अभिन्न है, विना वस्त्रकी अपेक्षा लिये उसके रंगकी सिद्धि नहीं, और विना उसके रंगकी अपेक्षा लिये वस्त्रकी सिद्धि नहीं, उसी प्रकार यदि परस्पर सापेक्ष सत् और परिणामकी अभिन्नता भी मानी जाय तब तो हमारा कथन ही (जैन सिद्धान्त) सिद्ध होता है, फिर शङ्काकारका एक पदार्थके ही सत् और परिणाम, दो नाम कहना तथा अग्नि और वैश्वानरका दृष्टान्त देना निरर्थक ही नहीं किन्तु उसके पक्षका स्वयं विघातक है।

सव्येतर गोविषाण भी दृष्टान्ताभास है।

अपि चाकिञ्चित्कर इव सव्येतरगोविषाणदृष्टान्तः।
सुरभि गगनारविन्दमिवाश्रयासिद्धदृष्टान्तात् ॥ ३७४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार गौके दाँये बाँये दो सींग एक साथ उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार सत् और परिणाम भी एक साथ होनेवाले वस्तुके धर्म हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, सत् और परिणामके विषयमें गौके सींगोंका दृष्टान्त अकिञ्चित्कर है अर्थात् इस दृष्टान्तसे कुछ भी सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि इस दृष्टान्तमें आश्रयासिद्ध दोष आता है। जहां पर

+ आटे और लवणमें यद्यपि स्वादकी अपेक्षासे परस्पर अपेक्षा है परन्तु ऐसी अपेक्षा नहीं है कि विना आटेके लवणकी सिद्धि न हो, अथवा विना लवणके आटेकी सिद्धि न हो। परन्तु सत् और परिणाममें वैसी ही अपेक्षा अभीष्ट है विना सत्के परिणाम नहीं ठहरता और विना परिणामके सत् नहीं ठहरता। दोनोंकी एक दूसरेकी अपेक्षामें ही सिद्धि है।

* भिन्न २ रक्खे हुए सभी वर्ण स्वतन्त्र हैं, ऐसी अवस्थामें उनसे किसी कार्यकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हेतुका आश्रय ही असिद्ध होता है वहां आश्रयासिद्ध दोष आता है। जैसे–"गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्" अर्थात् यदि कोई पुरुष ऐसा अनुमान बनावे कि आकाशका कमल सुगंधित है, क्योंकि वह कमल है, जो जो कमल होता है वह वह सुगंधित होता है जैसे तालावका कमल, तालावमें कमल होता है वह सुगंधित ही होता है। इसी प्रकार जो आकाशमें कमल है वह भी कमल है इसलिये वह भी सुगंधित है। यहां पर आकाशका कमल यह पक्ष* है, सुगंधिवाला है, यह साध्य है× क्योंकि वह कमल है यह हेतु+ है। यह अनुमान नहीं है किन्तु अनुमानाभास है। क्योंकि हेतुका आश्रय ही असिद्ध है। आकाशमें कमलकी यदि संभावना हो तब तो वहां सुगंधि भी रह सक्ती है। परन्तु आकाशमें तो कमलका होना ही असंभव है फिर उसकी सुगन्धिका होना तो नितान्त ही असंभव है। जब कमलरूप हेतु ही आकाशमें नहीं रहता है तब सुगन्धिरूप साध्य भी वहां कैसे रह सक्ता है? इसलिये जिस प्रकार यहांपर आश्रय न होनेसे आश्रयासिद्ध दोष आता है उसी प्रकार गौके दाँये बाँये सींगोंके दृष्टान्तमें भी आश्रयासिद्ध दोष आता है। क्योंकि सींगोंका दृष्टान्त दियागया है, सींग विना आश्रयके रह नहीं सक्ते हैं अथवा जिस प्रकार दोनों सीगोंका आश्रय गौ है उसी प्रकार यदि सत् और परिणामका आश्रयभूत कोई पदार्थ हो, तब तो दोनोंकी एक कालमें सत्ता मानी जा सक्ती है, परन्तु सत् परिणामसे अतिरिक्त उनका आश्रय ही असिद्ध है, क्योंकि सत् परिणामके सिवाय पदार्थका स्वरूप ही कुछ नहीं है। सत् परिणाम उभय धर्मात्मक ही तो पदार्थ है। इसलिये गौके सीगोंका दृष्टांत ठीक नहीं है। * भावार्थ—दूसरी बात इस दृष्टान्तकी विरुद्धतामें यह भी है कि जिस प्रकार गौके सींग किसी काल विशेषसे उत्पन्न होते हैं उस प्रकार सत् परिणाम किसी काल विशेषसे उत्पन्न नहीं होते हैं। न तो सत् परिणामसे भिन्न इनका कोई आधार ही है, और न इनकी किसी कालविशेषसे उत्पत्ति ही है।

---

* जिस आधार पर साध्यसिद्ध किया जाय उस आधारको पक्ष कहते हैं। उसका दूसरा नाम आश्रय भी है।

× जो सिद्ध किया जाय उसे साध्य कहते हैं।

+ जिसके द्वारा साध्य सिद्ध किया जाय उसे हेतु कहते हैं।

* यहांपर अनुमान वाक्य यह है–एकपदार्थोपादानकारणकौ सत्परिणामौ, समकालाविर्भावकौ, एकपदार्थोपादानकारणकत्वात्, सव्येतरगोविषाणवत्। जिस प्रकार गौके सींगोंका उपादान कारण गौ है इसलिये दोनों सींगोंकी एक साथ उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार सत् परिणामका भी एक पदार्थ उपादान कारण है इसलिये वे भी समानकालमें उत्पन्न होते हैं। यह अनुमान ठीक नहीं है। यहांपर आश्रयासिद्ध दोष आता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पष्टीकरण—

न यतः पृथगिति किञ्चित् सत्परिणामातिरिक्तमिह वस्तु ।
दीपप्रकाशयोरिह गुम्फितमिव तद्द्वयोरैक्यात् ॥ ३७५ ॥

अर्थ—गौके सीगोंका दृष्टान्त इसलिये ठीक नहीं है कि उसमें सीगोंका आश्रय गौ पदार्थ जुदा पड़ता है, परन्तु सत् परिणामसे अतिरिक्त वस्तु पड़ती ही नहीं है । क्योंकि सत् परिणाम स्वरूप ही पदार्थ है, उस उभयात्मक भावसे अतिरिक्त वस्तु कोई जुदा पदार्थ नहीं है । उन दोनोंका ऐक्यभाव ही वस्तु है, वह दीप और प्रकाशके समान है । दीपसे प्रकाश भिन्न नहीं है और प्रकाशसे दीप भिन्न नहीं है ।

कच्ची पक्की पृथ्वी भी दृष्टान्ताभास है—

आमानामविशिष्टं पृथिवीत्वं नेह भवति दृष्टान्तः ।
क्रमवर्त्तित्वादुभयोः स्वेतरपक्षद्वयस्य घातित्वात् ॥ ३७६ ॥
परपक्षवधस्तावत् क्रमवर्तित्वाच्च स्वतः प्रतिज्ञायाः ।
असमर्थसाधनत्वात् स्वयमपि वा बाधकः स्वपक्षस्य ॥ ३७७ ॥
तत्साध्यमनित्यं वा यदि वा नित्यं निसर्गतो वस्तु ।
स्यादिह पृथिवीत्वतया नित्यमनित्यं स्वपक्वपक्वतया ॥३७८॥

अर्थ—कच्ची पक्की पृथ्वी भी सत् परिणामके विषयमें दृष्टान्त नहीं हो सक्ती है, क्योंकि कच्ची पृथ्वी (कच्चा घड़ा) पहले होती है पक्की पृथ्वी (पक्का घड़ा) पीछे होती है, दोनों क्रमसे होते हैं, इसलिये यह दृष्टान्त उभयपक्ष (जैन सिद्धान्त और शंङ्काकार)का घातक है । अर्थात् इस दृष्टान्तसे दोनों ओरकी सिद्धि नहीं होती । जैन सिद्धान्तकी तो यों नहीं होती कि वह कच्चे पक्के घड़ेके समान सत् परिणामको आगे पीछे नहीं मानता है और इस दृष्टान्तसे तुम क्रमवर्त्तित्व, सिद्ध करनेकी प्रतिज्ञा ही कर चुके हो । परन्तु तुम्हारा यह हेतु कि क्रमसे सत् परिणाम होते हैं, असमर्थ है, क्योंकि सत् परिणामको छोड़कर नहीं रह सक्ता है और परिणाम सत्को छोड़कर नहीं रह सक्ता है । तथा इस दृष्टान्तसे शंकाकारका पक्षभी सिद्ध नहीं होता । शंकाकार एक समयमें वस्तुको स्वभावसे नित्य ही सिद्ध करता है अथवा अनित्य ही सिद्ध करता है, परन्तु एक समयमें एक सिद्ध करना बाधित है, क्योंकि दोनों धर्म एक समयमें वस्तुमें सिद्ध होते हैं, जिस समय पृथिवीत्व धर्मकी अपेक्षासे पृथिवीमें नित्यता सिद्ध है उसी समय पक्व अपक्वरूपकी अपेक्षासे उसमें अनित्यता भी सिद्ध हैं । दोनों ही धर्म परस्पर सापेक्ष हैं, इसलिये दोनों एक साथ ही रह सक्ते हैं अन्यथा एककी भी सिद्धि नहीं हो सक्ती ।

सपत्नीयुग्म भी दृष्टान्ताभास है—

अपि च सपत्नीयुग्मं स्यादिति हास्यास्पदोपमा दृष्टिः ।
इह यदसिद्धविरुद्धानैकान्तिकदोषदुष्टत्वात् ॥ ३७९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माता मे वन्ध्या स्यादित्यादिवदपि विरुद्धवाक्यत्वात् ।
कृतकत्वादिति हेतोः क्षणिकैकान्तात्कृतं कृतं विचारतया । ३८०

अर्थ—दो सपत्नियों (सौतों) का दृष्टान्त तो हास्य पैदा करता है, यह दृष्टान्त तो सभी दोषोंसे दूषित है, इस दृष्टान्तसे असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक आदि सभी दोष आते हैं। जिस प्रकार किसीका यह कहना कि मेरी माता बाँझ है, सर्वथा विरुद्ध है, उसी प्रकार सत् परिणामको दो सपत्नियोंके समान क्रमसे उत्पन्न मानकर एक कालमें परस्पर विरुद्ध रीतिसे उनकी सत्ताका कथन करना भी विरुद्ध है। क्योंकि सत् परिणाम न तो किसी काल विशेषमें क्रमसे उत्पन्न ही होते हैं, और न वे एक स्थानमें विरुद्ध रीतिसे ही रहते हैं, किन्तु अनादि अनन्त उनका परस्पर सापेक्ष प्रवाह युगपत चला जाता है। इसलिये सपत्नीयुग्मका दृष्टान्त विरुद्ध ही है। तथा जिस प्रकार कृतकत्वहेतुसे घट शरावेके समान पदार्थोंमें भिन्नता सिद्ध करना अनैकांतिक है क्योंकि पट और तन्तुओंमें कृतक होनेपर भी अभिन्नता पाई जाती है। इसलिये कृतकत्व हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास दोषसे दूषित है। इसी प्रकार सत् परिणामके विषयमें दो सपत्नियोंका दृष्टान्त भी अनैकान्तिक दोषसे दूषित है। क्योंकि दो सपत्नियां कहीं पर परस्पर विरुद्ध होकर रहती हैं और कहीं पर परस्पर एक दूसरेकी सहायता चाहती हुई प्रेमपूर्वक अविरुद्ध भी रहती हैं यह नियम नहीं है कि दो सौतें परस्पर विरुद्ध रीतिसे ही रहें। इसलिये यह दृष्टान्त अनैकान्तिक दोषसे दूषित है। अथवा सपत्नी युग्ममें विरोधिता पाई जाती है कहींनहीं भी पाई जाती है इसलिये अनैकान्तिक है तथा जिस प्रकार बौद्धका यह सिद्धान्त कि सब पदार्थ अनित्य हैं क्योंकि वे सर्वथा क्षणिक हैं, सर्वथा असिद्ध हैं* असिद्धताका हेतु भी यही है कि जो क्षणिकैकान्त हेतु दिया जाता है वह सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पदार्थोंमें नित्यता भी प्रतीत होती है, यदि नित्यता पदार्थोंमें न हो तो यह वही पुरुष है जिसे दो वर्ष पहले देखा था, ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं होना चाहिये परन्तु ऐसा यथार्थ प्रत्यभिज्ञान होता है, तथा यदि नित्यता पदार्थोंमें न मानी जाय तो स्मरण पूर्वक जो लोकमें लैन दैनका व्यवहार होता है वह भी न हो सके, परन्तु वह भी यथार्थ होता है इत्यादि अनेक हेतुओंसे सर्वथा क्षणिकता पदार्थोंमें सिद्ध नहीं होती उसी प्रकार दो सपत्नियोंका दृष्टांत भी सर्वथा असिद्ध है क्योंकि दो सपत्नियां दो पदार्थ हैं। यहां पर सत् परिणाम उभयात्मक एक ही पदार्थ है। दूसरे सपत्नीयुग्म विरोधी बनकर आगे पीछे क्रमसे होता है। सत् परिणाम एककालमें अविरुद्ध रहते हैं। इसलिये यह दृष्टांत हास्यकारक है, इस पर अधिक विचार करना ही व्यर्थ है।

* यहां पर समझानेकी दृष्टि रख कर निरूपण किया गया है, इसलिये हेतुवाद और अनुमान वाक्यका प्रयोग नहीं किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बड़े छोटे भाईका दृष्टान्त भी दृष्टान्ताभास है—

तद्वज्ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातृद्वैतं विरुद्धदृष्टान्तः ।
×सति चाऽधर्मिणि तत्त्वे तथाऽऽश्रयासिद्धदोषत्वात् ॥ ३८१ ॥
अपि कोपि परायत्तः सोपि परः सर्वथा परायत्तात् ।
सोपि परायत्तः स्यादित्यनवस्था प्रसङ्गदोषश्च ॥ ३८२ ॥

अर्थः—छोटे बड़े भाईका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह साध्यसे विरुद्ध पड़ता है । हमारा साध्य उभय धर्मात्मक पदार्थ है, परन्तु दृष्टान्त तृतीय पदार्थकी सत्ता सिद्ध करता है । छोटे बड़े भाई विना मातापिताके नहीं हो सक्ते हैं, मातापिताके होते हुए ही वे किसीकाल विशेषसे क्रमसे उत्पन्न हुए हैं । परन्तु यह बात सत् परिणाममें नहीं है, न तो सत् परिणामका उन दोनोंसे अतिरिक्त कोई आश्रय ही है और न उनकी काल विशेषसे क्रमसे उत्पत्ति ही है, इसलिये धर्मीका अभाव होनेसे आश्रयासिद्ध दोष आता है * दूसरी बात यह भी है कि इस दृष्टान्तसे अनवस्था दोष भी आता है क्योंकि भाई उनके माता पिताके पराधीन होते हैं । ऐसा पराधीनताका सिद्धान्त माननेमें जो कोई भी पर होगा उसे पराधीन ही मानना पड़ेगा, जिस प्रकार पुत्र पिताके आधीन है, पिता अपने पिताके अधीन है, वह अपने पिताके अधीन है, इसी प्रकार सत् और परिणामको पराधीन माननेपर अनवस्था दोष आता है ÷ क्योंकि पराधीनतारूपी शृंखलाका कहीं अन्त नहीं आवेगा ।

कारकद्वय भी दृष्टान्ताभास है—

नार्थक्रियासमर्थो दृष्टान्तः कारकादिवद्धि यतः ।
सव्यभिचारित्वादिह सपक्षवृत्तिर्विपक्षवृत्तिश्च ॥ ३८३ ॥
वृक्षे शाखा हि यथा स्यादेकात्मनि तथैव नानात्वे
स्यात्यां दृष्टीतिहेतोर्व्यभिचारी कारकः कथं न स्यात् ॥३८४॥
अपि सव्यभिचारित्वे यथाकथञ्चित्सपक्षदक्षश्चेत् ।
न यतः परपक्षरिपुर्यथा तथारिः स्वयं स्वपक्षस्य ॥ ३८५ ॥
साध्यं देशांशाद्वा सत्परिणामद्वयस्य सांशत्वम् ।
तत्स्वाम्येकत्वेऽपि क्रमांशा अंशमात्रेणांशाः ॥ ३८६ ॥

× 'धर्मिणि चासति तत्त्वे,' ऐसा संशोधित पुस्तकमें पाठ है ।

* आश्रयासिद्ध दोषका विवेचन किया जा चुका है ।

÷ 'अप्रामाणिकानन्तपदार्थकल्पनाया अविश्रान्तिरनवस्था, अर्थात् विना किसी प्रमाणके अनन्त पदार्थोंकी कल्पना करते चले जाना इसीका नाम अनवस्था है । जहां पर प्रमाणभूत है वहां यह दोष नहीं समझा जाता जैसे—पिता पुत्र, बीज वृक्ष आदि कार्यकारण भावमें ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—आधार आधेय न्यायसे जो दो कारकोंका दृष्टान्त दिया गया है वह भी ठीक नहीं है, वह व्यभिचारी है क्योंकि वह सपक्ष विपक्ष दोनोंमें ही रहता है। साध्यके अनुकूल दृष्टान्तको सपक्ष कहते हैं और उसके प्रतिकूल दृष्टान्तको विपक्ष कहते हैं। जो दृष्टान्त साध्यका सपक्ष भी हो तथा विपक्ष भी हो वह व्यभिचार दोष विशिष्ट दृष्टान्त कहलाता है। सत् परिणामके विषयमें दो कारकोंका दृष्टान्त भी ऐसा ही है। क्योंकि जैसे आधार आधेय दो कारक 'वृक्षे शाखा' (वृक्षमें शाखा) यहां पर अभिन्न—एकात्मक पदार्थमें होते हैं, वैसे 'स्थाल्यां दधि' (वटलोईमें दही यहां पर भिन्न—अनेक पदार्थोंमें भी होते हैं। अर्थात् 'वृक्षे शाखा' यहां पर जो आधार आधेय है वह अभिन्न पदार्थमें हैं इसलिये सपक्ष है। परन्तु 'स्थाल्यां दधि' यहां पर जो आधार आधेय है वह भिन्न दो पदार्थोंमें है इस लिये वह विपक्ष है। इसलिये दो कारकोंका दृष्टान्त व्यभिचारी है। यदि कोई यह कहे कि यह दृष्टान्त व्यभिचारी भले ही हो, परन्तु इससे अपने पक्षकी सिद्धि भी किसी तो प्रकार हो ही जाती है। यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्यभिचारी दृष्टान्त जैसे दूसरे पक्षका शत्रु है वैसे अपने अपने पक्षका भी तो स्वयं शत्रु है अर्थात् व्यभिचारी दृष्टान्त जैसे सपक्षमें रह कर साध्यकी सिद्धि कराता है वैसे विपक्षमें रहकर वह साध्य विरुद्ध भी तो हो जाता है। इसलिये यह दृष्टान्त दृष्टान्ताभास है। यहांपर सत् और परिणाममें देशके अंश होनेसे अंशपना सिद्ध किया जाता है और उनका आधार उनसे भिन्न पदार्थ सिद्ध किया जाता है (यह शंकाकारका मत है यदि उन दोनोंका कोई स्वामी—आधारभूत पदार्थ हो तब तो आधार आधेयभाव उनमें बन जाय, परन्तु सत् परिणामसे अतिरिक्त उनका कोई स्वामी ही नहीं है तो फिर ये दोनों किसके अंश कहलावेंगे, वे दोनों तो अंश स्वरूप ही माने जा चुके हैं? इसलिये कारकद्वयका दृष्टान्त ठीक नहीं है।

बीजाङ्कुर भी दृष्टान्ताभास है—

नाप्युपयोगी क्वचिदपि बीजाङ्कुरवदिहेति दृष्टान्तः।
स्वावसरे स्वावसरे पूर्वापरभावभावित्वात् ॥ ३८७ ॥
बीजावसरे नाङ्कुर इव बीजं नाङ्कुरक्षणे हि यथा।
न तथा सत्परिणामहेतुस्तदेककालत्वात् ॥ ३८८ ॥

अर्थ—बीज और अङ्कुरका दृष्टान्त भी सत् परिणामके विषयमें उपयोगी नहीं पड़ता है, क्योंकि बीज अपने समयमें होता है, अङ्कुर अपने समयमें होता है। दोनों ही पूर्वापरभाव वाले हैं अर्थात् आगे पीछे होने वाले हैं जिस प्रकार बीजके समय में अङ्कुर नहीं होता है और अङ्कुरके समयमें बीज नहीं होता है, उस प्रकार सत् और परिणाममें पूर्वापरभाव नहीं होता है, उन दोनोंका एक ही काल है। उसीको स्पष्ट करते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्भावे परिणामो भवति न सत्ताऽऽश्रयाभावात् ।
दीपाभावे हि यथा लक्षणमिव दृश्यते प्रकाशो न ॥ ३८९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दीपकका अभाव होनेपर उसी समय प्रकाशका भी अभाव हो जाता है, कारण—दीपक प्रकाशका आश्रय है, विना दीपकके प्रकाश किसके आश्रय ठहरे ? उसी प्रकार सत्के अभावमें परिणाम भी अपनी सत्ता नहीं रख सक्ता है, कारण—परिणामका सत् आश्रय है, विना आश्रयके आश्रयी कैसे रह सक्ता है ? अर्थात् नहीं रह सक्ता । भावार्थः—परिणाम पर्यायका नाम है, पर्याय किसी द्रव्य अथवा गुणमें ही हो सक्ती है, जो सत् (भावात्मक) ही नहीं है उसमें पर्यायका होना उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार कि गधेके सींगोंका होना असंभव है । इसलिये सत् और परिणाम दोनोंका एक ही काल है ।

परिणामाभावेपि च सदिति च नालम्बते हि सत्तान्ताम् ।
स यथा प्रकाशनाशे प्रदीपनाशोऽप्यवश्यमध्यक्षात् ॥ ३९० ॥

अर्थ—जिसप्रकार प्रकाशका नाश होनेपर दीपकका नाश भी प्रत्यक्ष दीखता है, अर्थात् जहां प्रकाश नहीं रहता, वहां दीपक भी नहीं रहता है । उसी प्रकार परिणामके अभावमें सत् भी अपनी सत्ताको नहीं अवलम्बन कर सक्ता है । भावार्थ—दीपक और प्रकाशका सहभावी अविनाभाव है, जबतक दीपक रहता है तभी तक उसका प्रकाश भी रहता है, और जबतक प्रकाश रहता है तभी तक दीपक भी रहता है, ऐसा नहीं होसक्ता कि प्रकाश न रहे और दीपक रह जाय, प्रकाशाभावमें दीपक कोई पदार्थ नहीं ठहरता । दीपक तेल, बत्ती और शरावेका नाम नहीं है किन्तु प्रकाशमान लौ (ज्योति) का है । दीप प्रकाशके समान ही सत् परिणामको समझना चाहिये । सत् सामान्य है, परिणाम विशेष है, न तो विना सामान्यके विशेष ही होसक्ता है, और न विना विशेषके सामान्य ही होसक्ता है * इसलिये सामान्य विशेषात्मक—सत् परिणाम दोनों समकालभावी हैं और कथञ्चित् अभिन्न हैं ।

क्षणभेद माननेमें दोष—

अपि च क्षणभेदः किल भवतु यदीहेष्टसिद्धिरनायासात् ।
सापि न यतस्तथा सति सतो विनाशोऽसतश्च सर्गः स्यात् ॥३९१॥

अर्थ—यदि अनायास इष्ट पदार्थकी सिद्धि होजाय तो सत् और परिणाम दोनोंका क्षणभेद—कालभेद भी मान लिया जाय, परन्तु कालभेद माननेसे इष्ट सिद्धि तो दूर रहो उल्टी हानि होती है । दोनोंका कालभेद माननेपर सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति होने लगेगी । क्योंकि जब दोनोंका काल भेद माना जायगा तो जो है वह सर्वथा नष्ट होगा और जो उत्पन्न होगा वह सर्वथा नवीन ही होगा । परन्तु ऐसा नहीं होता,

* निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति माननेसे जो दोष आते हैं उनका पहले (१० वें श्लोकमें) विवेचन किया जा चुका है ।

कनकोपल भी दृष्टान्ताभास है—

कनकोपलवदिहैषः क्षणते न परीक्षितः क्षणं स्थातुम् ।
गुणगुणिभावाभावाद्यतः स्वयमसिद्धदोषात्मा ॥ ३९२ ॥
हेयादेयविचारो भवति हि कनकोपलद्वयोरेव ।
तदनेकद्रव्यत्वान्न स्यात्साध्ये तदेकद्रव्यत्वात् ॥ ३९३ ॥

अर्थ—सत् परिणामके विषयमें कनकोपलका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। यह दृष्टान्त परीक्षा करनेपर क्षण मात्र भी नहीं ठहर सक्ता है । सोना और पत्थर इन मिली हुई दो द्रव्योंका नाम ही कनकोपल है । इसलिये कनकोपल दो द्रव्योंके समुदायका नाम है । कनकोपलमें गुणगुणीभाव नहीं है अतः यह दृष्टान्त असिद्ध है । क्योंकि जिस प्रकार सत् परिणाममें कथञ्चित् गुणगुणीभाव है इस प्रकार इस दृष्टान्तमें नहीं है । दो द्रव्योंका समुदाय होनेसे ही कनकोपलमें कुछ अंशके ग्रहण करनेका और कुछ अंशके छोडनेका विचार हो सक्ता है । परन्तु सत् परिणाममें इस प्रकार हेय उपादेय विचार नहीं हो सक्ता है, क्योंकि वे दोनों एक द्रव्यरूप हैं । जहांपर दो अथवा अनेक द्रव्य होते हैं वहीं पर एक द्रव्यका ग्रहण और एकका त्याग हो सक्ता है परन्तु जहां पर केवल एक ही द्रव्य है वहां पर ऐसा होना असंभव ही है । इसलिये कनकोपलका दृष्टान्त सर्वथा विषम है ।

वाच्य वाचक भी दृष्टान्ताभास है—

वागर्थद्वयमिति वा दृष्टान्तो न स्वसाधनायालम् ।
घट इति वर्णद्वैतात् कम्बुग्रीवादिमानिहास्त्यपरः ॥३९४ ॥
यदि वा निस्सारतया वागेवार्थः समस्यते सिद्ध्यै ।
न तथापीष्टसिद्धिः शब्दवदर्थस्याप्यनित्यत्वात् ३९५ ॥

अर्थ—वचन और पदार्थ अर्थात् वाच्य वाचक द्वैतका दृष्टान्त भी अपनी सिद्धि करानेमें समर्थ नहीं है । क्योंकि घट—घकार और टकार इन दो वर्णोंसे कम्बुग्रीवादि वाला घट पदार्थ दूसरा ही है। जिस कम्बु (शंख) ग्रीवावाले घटमें जल रक्खा जाता है वह घट पदार्थ उन घ—ट वर्णोंसे सर्वथा जुदा ही है। केवल घट शब्दके उच्चारण करनेसे उस घट पदार्थका बोध हो जाता है इतना ही मात्र घट शब्दका घट पदार्थके साथ वाच्य वाचक सम्बन्ध है । परन्तु सत् परिणाम इस प्रकार भिन्न नहीं है । यदि वागर्थ, शब्दका वचन और पदार्थ, यह अर्थ न किया जाय और दूसरा कि वचन रूप ही अर्थ किया जाय तो ऐसा अर्थ करना पहले तो निस्सार ही है परन्तु सिद्धिके लिये यदि वह माना भी जाय तो भी उससे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभीष्ट सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि दूसरे अर्थका यही आशय निकला कि शब्दके समान सत् परिणाम हैं, परन्तु ऐसा माननेसे शब्दके समान सत् परिणामात्मक पदार्थ भी अनित्य सिद्ध होगा, और ऐसी अनित्यता पदार्थमें अभीष्ट नहीं है इसलिये उक्त दृष्टान्त भी ठीक नहीं है ।

भेरी दण्ड भी दृष्टान्ताभास है--

स्यादविचारितरम्या भेरीदण्डवदिहेति संदृष्टिः ।
पक्षाधर्मत्वेपि च व्याप्यासिद्धत्वदोषदुष्टत्वात् ॥ ३९६ ॥
युतसिद्धत्वं स्यादिति सत्परिणामद्वयस्य यदि पक्षः ।
एकस्यापि न सिद्धिर्यदि वा सर्वोपि सर्वधर्मः स्यात् ॥ ३९७ ॥

अर्थ—भेरी दण्डका जो दृष्टान्त दिया गया है वह भी सत् परिणामके विषयमें अविचारित रम्य है अर्थात् जबतक उसके विषयमें विचार नहीं किया जाता है तभी तक वह अच्छा प्रतीत होता है । विचारनेपर निःसार प्रतीत होता है । उसीका अनुमान इस प्रकार है–'सत्परिणामौ कार्यकारिणौ संयुक्तत्वात् भेरीदण्डवत्, अर्थात् शंकाकारका पक्ष है कि सत् परिणाम मिलकर कार्य करते हैं क्योंकि वे संयुक्त हैं । जिस प्रकार भेरी दण्ड संयुक्त होकर कार्यकारी होते हैं । यह शङ्काकारका अनुमान ठीक नहीं है । क्योंकि यहांपर जो 'संयुक्तत्व' हेतु दिया गया है वह सत् परिणामरूप पक्षमें नहीं रहता है । इसलिये हेतु व्याप्यासिद्ध* दोषसे दूषित है । अर्थात् सत् परिणाम भेरीदण्डके समान मिलकर कार्यकारी नहीं है, किन्तु कथंचित् भिन्नता अथवा तादात्म्यरूपमें कार्यकारी है । यदि सत् परिणामको युतसिद्ध–भिन्न २ स्वतन्त्र माना जाय तो दोनोंमेंसे एक भी सिद्ध न हो सकेगा । क्योंकि दोनों ही परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षामें आत्मलाभ–स्वरूप सम्पादन करते हैं । यदि इन्हें स्वतन्त्र २ मानकर एकका दूसरा धर्म माना जाय तो ऐसी अवस्थामें सभी सबके धर्म हो जायँगे । कारण जब स्वतन्त्र रहनेपर भी एक दूसरेका धर्म माना जायगा तो धर्म धर्मीका कुछ नियम नहीं रहेगा । हरकोई हरएकका धर्म बन जाय इसमें कौन बाधक होगा? **भावार्थ**–सत् परिणाम न तो भेरीदण्डके समान स्वतन्त्र ही हैं, और न संयोगी ही हैं। किन्तु परस्पर सापेक्ष तादात्म्य सम्बन्धी हैं इसलिये भेरीदण्डका दृष्टान्त सर्वथा असिद्ध है ।

अपूर्ण न्याय भी दृष्टान्ताभास है–

इह यदपूर्णन्यायादस्ति परीक्षाक्षमो न दृष्टान्तः ।
अविशेषत्वापत्तौ द्वैताभावस्य दुर्निवारत्वात् ॥३९८॥

---

* पक्षमें हेतुकी असिद्धताको व्याप्यासिद्ध दोष कहते हैं अथवा साध्यके साथ हेतु जहांपर व्याप्त न रहता हो वहांपर व्याप्यासिद्ध दोष आता है । यहांपर–सत् परिणाममें न तो संयुक्तत्व हेतु रहता है और न कार्यकारित्वके साथ संयुक्तत्वकी व्याप्ति है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपि चान्यतरेण विना यथेष्टसिद्धिस्तथा तदितरेण ।
भवतु विनापि च सिद्धिः स्यादेवं कारणाद्यभावश्च ॥३९९॥

अर्थ—यहांपर अपूर्ण न्यायसे एकका मुख्यतासे दूसरेका उदासीनतासे ग्रहण करने रूप दृष्टान्त भी परीक्षा करने योग्य नहीं है। क्योंकि अपूर्ण न्यायसे जिसका मुख्यतासे ग्रहण किया जायगा वही प्रधान ठहरेगा, दूसरा जो उदासीनतासे कहा जायगा वह नहीं के बराबर सामान्य ठहरेगा, ऐसी अवस्थामें द्वैतका अभाव दुर्निवार ही होगा, अर्थात् जब दूसरा उदासीन नहीं के तुल्य है तो एक ही समझना चाहिये, इसलिये एककी ही सिद्धि होगी, परन्तु सत् परिणाम दो हैं। अतः अपूर्ण न्यायका दृष्टान्त उनके विषयमें ठीक नहीं है यदि यह कहा जाय कि दोनों ही यद्यपि समान हैं तथापि एकको मुख्यतासे कह दिया जाता है तो यह कहना भी विरुद्ध ही पड़ता है, जब दोनोंकी समानतामें भी एकके विना दूसरेकी सिद्धि हो जाती है तो दूसरेकी भी सिद्धि पहलेके विना हो जायगी, अर्थात् दोनों ही निरपेक्ष अथवा एक व्यर्थ सिद्ध होगा, ऐसी अवस्थामें कार्यकारण भाव भी नहीं बन सकेगा। क्योंकि कार्यकारण भाव तो एक दूसरेकी आधीनतामें ही बनता है। इसलिये अपूर्ण न्यायका दृष्टान्त सब तरह विरुद्ध ही पड़ता है।

मित्रद्वैत भी दृष्टान्ताभास है—

मित्रद्वैतवदित्यपि दृष्टान्तः स्वप्नसन्निभो हि यतः ।
स्याद्गौरवप्रसंगाद्धेतोरपि हेतु हेतुरनवस्था ॥ ४०० ॥
तदुदाहरणं कश्चित्स्वार्थं सृजतीति मूलहेतुतया ।
अपरः सहकारितया तमनु तदन्योपि दुर्निवारः स्यात् ॥४०१॥
कार्यम्प्रति नियतत्वाद्धेतुद्वैतं न ततोऽतिरिक्तंचेत् ।
तन्न यतस्तन्नियमग्राहकमिव न प्रमाणमिह ॥ ४०२ ॥

अर्थ—एक अपने कार्यको सिद्ध करता है, दूसरा उसका उसके कार्यमें सहायक होता है, यह मित्रद्वयका दृष्टान्त भी स्वप्नके समान ही है। जिस प्रकार स्वप्नमें पाये हुए पदार्थसे कार्यसिद्धि नहीं होती है, उसी प्रकार इस दृष्टान्तसे भी कुछ कार्यसिद्धि नहीं होती है, क्योंकि इस दृष्टान्तसे हेतुका हेतु उसका भी फिर हेतु, उस हेतुका भी हेतु मानना पड़ेगा। ऐसा माननेसे अनवस्था दोष आवेगा और गौरवका प्रसंग भी आवेगा। उसका दृष्टान्त इस प्रकार है कि जैसे कोई पुरुष मुख्यतासे अपने कार्यको सिद्ध करता है और दूसरा उसका मित्र उसके उस कार्यमें सहायक होजाता है। जिस प्रकार दूसरा पहलेकी सहायता करता है उसी प्रकार दूसरेकी सहायताके लिये तीसरे सहायककी आवश्यकता है, उसके लिये चौथेकी, उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिये पांचवेकी, इस प्रकार उत्तरोत्तर सहायकोंकी योजना अवश्य ही अनिवार्य (प्राप्त) होगी* यदि यह कहा जाय कि एक कार्यके लिये दो कारणोंकी ही आवश्यकता होती है (१) उपादान कारण (२) निमित्त कारण अथवा एक कार्यमें दो ही सहायकमित्र आवश्यक होते हैं। उनसे अतिरिक्त कारणोंकी आवश्यकता ही नहीं होती तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि एक कार्यमें दो ही कारण होते हैं उनसे अधिक होते ही नहीं, इस नियमका विधायक कोई प्रमाण नहीं है+ इसलिये सत् परिणामके विषयमें मित्रद्वयका दृष्टान्त भी कुछ कार्यकारी नहीं है।

शत्रुद्वैत भी दृष्टान्ताभास है–

एवं मिथो विपक्षद्वैतवदित्यपि न साधुदृष्टान्तः ।
अनवस्थादोषत्वाद्यथाऽरिरस्यापरारिरपि यस्मात् ॥४०३॥
कार्यम्प्रति नियतत्वाच्छत्रुद्वैते न ततोऽतिरिक्तं चेत् ।
तन्न यतस्तन्नियमग्राहकमिव न प्रमाणमिह ॥४०४॥

अर्थ—जिस प्रकार मित्र द्वैतका दृष्टान्त ठीक नहीं है, उसी प्रकार शत्रु द्वैतका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार मित्र द्वैतके दृष्टान्तमें अनवस्था दोष आता है, उसी प्रकार शत्रुद्वैतके दृष्टान्तमें भी अनवस्था दोष आता है। जैसे एक पुरुषका दूसरा शत्रु है, वैसे दूसरेका तीसरा और तीसरेका चौथा शत्रु भी होगा। इस शत्रुमालाका भी कहीं अन्त नहीं दीखता है। यदि कहा जाय कि एक कार्यके प्रति दो शत्रु ही नियत हैं, दोसे अधिक नहीं होते हैं तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि एक कार्यमें दो ही शत्रु होते हैं, उन शत्रुओंके शत्रु नहीं होते ऐसा नियम करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये दो शत्रुओंका दृष्टान्त भी सत् परिणामके विषयमें विरुद्ध ही है। **भावार्थ**–सत् परिणाम दो शत्रुओंके समान परस्पर विरुद्धरूपसे नहीं रहते हैं किन्तु परस्पर सापेक्ष रूपसे ही रहते हैं। परस्पर सापेक्ष रहते हुए भी दो मित्रोंके समान एक मुख्य साधक दूसरा सहायक साधक भी उनमें नहीं है किन्तु दोनों मिलकर ही समानरूपसे स्वकार्य साधक एक पदार्थ सिद्धिसाधक हैं। इसलिये इनके विषयमें शत्रुमित्र दोनोंके दृष्टान्त ही विरुद्ध हैं।

---

* अप्रामाणिक अनन्त पदार्थोंकी कल्पनाके अन्त न होनेका नाम ही अनवस्था है। यह दोष है।

+ उपादान–प्रेरक–उदासीन आदि कारण एक कार्यमें आवश्यक होते हैं। संभव है एक कार्यमें अनेक मित्रोंकी सहायता आवश्यक हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रज्जू युग्म भी दृष्टान्ताभास है—

वामेतरकरवर्त्तिरज्जूयुग्मं न चेह दृष्टान्तः ।
बाधितविषयत्वाद्वा दोषात्कालात्ययापदिष्टत्वात् ॥४०५॥
तद्वाक्यमुपादानकारणसदृशं हि कार्यमेकत्वात् ।
अस्त्यनतिगोरसत्वं दधिदुग्धावस्थयोर्यथाध्यक्षात् ॥४०६॥

अर्थ—छाछको विलोते समय दाँये बाँये हाथमें रहनेवाली रस्सियोंका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि इस दृष्टान्त द्वारा दोनोंको विमुख रहकर कार्यकारी बतलाया गया है। परन्तु परस्परकी विमुखतामें कार्यकी सिद्धि नहीं होती, उलटी हानि होती है, इसलिये इस दृष्टान्तमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधा आती है। अतः यह दृष्टान्त कालात्ययापदिष्ट दोष विशिष्ट है अर्थात् बाधित है। क्यों बाधित है ? इसका विवेचन इस प्रकार है—जहांपर एक कार्य होता है वहांपर उपादान कारणके समान ही कार्य होता है। ऐसा प्रत्यक्षसे भी देखा जाता है जैसे कि गौके दूधमें गोरसपना है वैसे उसके दहीमें भी गोरसपना अवश्य है। **भावार्थ**—दाँये बाँये हाथमें रहनेवालीं रस्सियां परस्पर एक दूसरेसे विमुख रहकर एक कार्य—छाछ विलोनारूप कार्य करती हैं, ऐसा दृष्टान्त ही प्रत्यक्ष बाधित है, क्योंकि छाछ विलोते समय एक हाथकी रस्सीको संकोचना और दूसरे हाथकी रस्सीको फैलाना यह एक ही कार्य है, दो नहीं। उनका समय भी एक है। जिस समय दाँया हाथ फैलता है। उसी समय बाँया संकुचित होता है। तथा दोनों हाथोंकी रस्सियां परस्पर विरुद्ध भी नहीं है, जिस समय दाँया हाथ फैलता है उस समय बाँया संकुचित नहीं होता किन्तु उसकी सहायता करनेके लिये उधरको ही बढ़ता है, यदि वह उधर बढ़कर सहायक न होता हो तो दाँया हाथ फैल ही नहीं सक्ता, इसलिये परस्पर विरुद्ध नहीं किन्तु अनुकूल ही दोनों हाथोंकी रस्सियां हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि जिन्हें दो रस्सियोंके नामसे पुकारा जाता है वे दो नहीं किन्तु एक ही है। एक ही रस्सी कभी दाँयेकी ओर कभी बाँये हाथकी ओर जाती है, इसलिये दो रस्सियोंका दृष्टान्त सर्वथा बाधित है। अथवा इसका दूसरा आशय इस प्रकार है कि यदि शंकाकार यह अनुमान बनावे कि '~~सत्परिणामौ विमुखौ कार्यकारित्वात् वामेतर-करवर्त्तित रज्जूयुग्मवत्~~, अर्थात् सत्परिणाम परस्पर विमुख बनकर कार्य करते हैं। जैसे बाँये दाँये हाथकी दो रस्सियां तो उसका यह अनुमान प्रत्यक्ष बाधित है। क्योंकि सत्परिणाम परस्पर सापेक्ष तादात्म्यस्वरूप हैं। जहां एक पदार्थमें कार्यकारित्व होता है वहां कारणके सदृश ही होता है जहांपर अनेक पदार्थोंमें कार्यकारित्व होता है वहांपर ही विमुखताकी संभावना रहती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुन्दोपसुन्द भी दृष्टान्तभास है ।

सुन्दोपसुन्दमल्लद्वैतं दृष्टान्ततः प्रतिज्ञातम् ।
तदसदसत्वापत्तेरितरेतरनियतदोषत्वात् ॥ ४०७ ॥
सत्युपसुन्दे सुन्दो भवति च सुन्दे किलोपसुन्दोपि ।
एकस्यापि न सिद्धिः क्रियाफलं वा तदात्मसुखदोषात् ॥४०८॥

अर्थ—सुन्द और उपसुन्द इन दो मल्लोंका जो दृष्टान्त दिया गया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस दृष्टान्तसे अन्योन्याश्रय दोषके साथ ही पदार्थके अभावका प्रसंग आता है। जैसे—जब उपसुन्द है तब उसका प्रतिपक्षी सुन्द सिद्ध होता है, और जब सुन्द है तब उसका प्रतिपक्षी उपसुन्द सिद्ध होता है। ये दोनों ही एक दूसरेके आश्रित सिद्ध होते हैं इसीका नाम अन्योन्याश्रय दोष है। * अन्तमें दोनोंमेंसे एककी भी सिद्धि नहीं हो पाती अर्थात् दोनों ही मरजाते हैं। इसलिये उनसे कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं हो पाता। यह दोष शङ्काकारने अपने मुखसे ही कह डाला है। भावार्थ—सुन्द, उपसुन्द मल्लोंके समान सत् परिणामको यदि माना जाय तो उनकी असिद्धि और उनका अभाव सिद्ध होगा।

यदि उन्हें अनादि सिद्ध माना जाय तो—

अथ चेदनादिसिद्धं कृतकत्वापन्हवात्तदेवेह ।
तदपि न तद्द्वैतं किल त्यक्तदोषास्पदं यदत्रैतत् ॥ ४०९ ॥

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि सत् परिणाम दोनों अनादि सिद्ध हैं। वे किसीके किये हुए नहीं है। उनमें सदा ये वे ही हैं ऐसी नित्यताकी प्रतीति भी होती रहती है तो ऐसा कहना भी निर्दोष सिद्ध नहीं होता है कारण कि इस प्रकारकी नित्यतामें परिणाम नहीं बन सक्ता है। परिणामकी सिद्धि वहीं पर होसक्ती है जहां पर कि कथञ्चित् अनित्यता है। सर्वथा नित्यमें परिणाम नहीं बन सक्ता है। इसलिये उपर्युक्त रीतिके अनुसार मानने पर भी सत् परिणामके द्वैतमें निर्दोषता नहीं सिद्ध होती है। भावार्थ—अनादि सिद्ध माननेसे शंकाकारने सत् परिणामसे अन्योन्याश्रय दोषको हटाना चाहा था, परन्तु उसकी ऐसी अनादि सिद्धतामें द्वैतभाव ही हट जाता है। इसलिये कथंचित् (पर्यायकी अपेक्षासे) अनित्यताको लिये हुए ही पदार्थ अनादि सिद्ध है।

* जहां पर दो पदार्थोंमें एककी सिद्धि दूसरे पर अवलम्बित रहती है वहां पर अन्योन्याश्रय दोष आता है। जैसे वैदिक ईश्वरके पास उपकरण—सामग्री हो तो वह सृष्टि रचे, और जब वह सृष्टि रचे तब उसके पास उपकरण—सामग्री हो। इन दोनोंमें एक दूसरेके आधीन होनेसे एक भी सिद्ध नहीं होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त दृष्टान्त प्रशंसनीय नहीं है—

दृष्टान्ताभासा इति निक्षिप्ताः स्वेष्टसाध्यशून्यत्वात्।
लक्ष्योन्मुखेषव इव दृष्टान्तास्त्वथ यथा प्रशस्यन्ते ॥४१०॥

अर्थ—ऊपर जो दृष्टान्त दिये गये हैं वे सब दृष्टान्ताभास + हैं उनसे उनके साध्यकी सिद्धि नहीं होती है। जो दृष्टान्त लक्ष्यके सन्मुखवाणोंके समान स्व साध्यकी सिद्धि कराते हैं वे ही दृष्टान्त प्रशंसनीय कहे जाते हैं।

सत् परिणाम कथंचित् भिन्न अभिन्न हैं—

सत्परिणामाद्वैतं स्यादविभिन्नप्रदेशवत्त्वाद्वै।
सत्परिणामद्वैतं स्यादपि दीपप्रकाशयोरेव ॥ ४११ ॥

अर्थ—सत् परिणामके भिन्न प्रदेश नहीं हैं किन्तु अभिन्न हैं, इसलिये उन दोनोंमें द्वैत भाव नहीं है, अर्थात् दोनों एक ही अद्वैत् हैं। तथा कथंचित् सत् और परिणाममें द्वैत भी है, अर्थात् कथंचित् सत् भिन्न है और परिणाम भिन्न है। सत् परिणाममें कथंचित् भिन्नता और कथंचित् अभिन्नता ऐसी ही है जैसी कि दीप और प्रकाशमें होती है। दीपसे प्रकाश कथंचित् भिन्न भी है और कथंचित् अभिन्न भी है।

और भी—

अथवा जलकल्लोलवदद्वैतं द्वैतमपि च तद्द्वैतम्।
उन्मज्जच निमज्जन्नाप्युन्मज्जन्निमज्जदेवेति ॥ ४१२ ॥

अर्थ—अथवा सत् परिणाममें जल और उसकी तरंगोंके समान कथंचित् भिन्नता और अभिन्नता है। जलमें एक तरंग उछलती है दूसरी शान्त होती है, फिर तीसरी उछलती है चौथी शान्त होती है। इस तरंगोंके प्रवाहसे तो प्रतीत होता है कि जलसे तरंगें भिन्न हैं। परन्तु वास्तव दृष्टिसे विचार किया जाय तो न कोई तरंग उछलती है और न कोई शान्त होती है, केवल जल ही जल प्रतीत होता है। विचार करने पर तरंगें भी जलमय ही प्रतीत होने लगती हैं, इसी प्रकार सत्से परिणाम कथंचित् भिन्न भी प्रतीत होता है, क्योंकि जो एक समयमें परिणाम है, वह दूसरे समयमें नहीं है। जो दूसरे समयमें है वह तीसरेमें नहीं है। यदि द्रव्य दृष्टिसे विचार किया जाय तो उन प्रतिक्षणमें होनेवाले परिणामों—अवस्थाओंका समूह ही द्रव्य है। अनादि-अनन्तकालके परिणामसमूहको छोड़कर सत् और कोई पदार्थ नहीं है, इसलिये सत्से परिणाम भिन्न भी नहीं है। भावार्थ—विवक्षाधीन दोनोंकी सिद्धि होती है।

+ साध्यका सिद्ध करनेवालेको दृष्टान्त कहते हैं, परन्तु जो साध्यकी सिद्धि तो नहीं करावे, किन्तु दृष्टान्तसा दीखता हो उसे दृष्टान्ताभास कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और भी—

घटमृत्तिकयोरिव वा द्वैतं तद्द्वैतवदद्वैतम् ।
नित्यं मृण्मात्रतया यदनित्यं घटत्वमात्रतया ॥ ४१३ ॥

अर्थ—अथवा सत् परिणाममें घट और मिट्टीके समान द्वैतभाव और अद्वैतभाव है मृत्तिका रूपसे तो उस पदार्थमें नित्यता आती है और घटरूप पर्यायकी अपेक्षासे उसमें अनित्यता आती है । उसी प्रकार द्रव्य दृष्टिसे सत् कहा जाता है और पर्याय दृष्टिसे परिणाम कहा जाता है ।

उसीका खुलासा—

अयमर्थः सन्नित्यं तदभिज्ञप्तेर्यथा तदेवेदम् ।
न तदेवेदं नियमादिति प्रतीतेश्च सन्न नित्यं स्यात् ॥४१४॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह है कि सत् कथंचित् नित्य भी है और कथंचित् अनित्य भी है । किसी पुरुषको १० वर्ष पहले देखनेके पीछे दुबारा जब देखते हैं तब उसका वही स्वरूप पाते हैं जो कि १० वर्ष पहले हमने देखा था, इसलिये हम झट कह देते हैं कि यह वही पुरुष है जिसे हमने पहले देखा है, इस प्रत्यभिज्ञानरूप प्रतीतिसे तो सत् नित्य सिद्ध होता है, और उस पुरुषकी १० वर्ष पहले जो अवस्था थी वह १० वर्ष पीछे नहीं रहती। १० वर्ष पीछे एक प्रकारसे वह पुरुष ही बदल जाता है। फिर उसमें यह प्रतीति होने लगती है कि यह वैसा नहीं है, इस प्रतीतिसे सत् अनित्य सिद्ध होता हैं ।

और भी—

अप्युभयं युक्तिवशादेकं सचैककालमेकोक्तेः ।
अप्यनुभयं सदेतन्नयप्रमाणादिवादशून्यत्वात् ॥४१५॥

अर्थ—युक्तिवश–विवक्षावश सत् उभय दो रूप भी है, और एककी विवक्षा करनेसे एक कालमें एक ही कहा जाता है, इसलिये वह एक है, अर्थात् विवक्षावश सत कथंचित् एक रूप है और कथंचित् उभयरूप है तथा वही सत् अनुभयरूप भी प्रतीत होने लगता है जबकि नय प्रमाणादि वादसे वह रहित होता है, अर्थात् विकल्पातीत अवस्थामें वह सत् न एक है न दो है, किन्तु अनुभयरूप प्रतीत होता है ।

और भी—

व्यस्तं सन्नयोगान्नित्यं नित्यत्वमात्रतस्तस्य ।
अपि च समस्तं सदिति प्रमाणसापेक्षतो विवक्षायाः ॥४१६॥

अर्थ—नयकी विवक्षा करनेसे सत् पृथक् २ (जुदा) है । नित्यत्वकी विवक्षा करने पर वह नित्य मात्र ही है, और प्रमाणकी विवक्षा करनेसे वही सत् समस्त (अभिन्न–नित्यानित्य) है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकारान्तर—अविरुद्ध है—

न विरुद्धं क्रमवर्ति च सदिति तथाऽनादितोपि परिणामि।
अक्रमवर्ति सदित्यपि न विरुद्धं सदैकरूपत्वात् ॥ ४१७ ॥

अर्थ—सत् क्रमवर्ती—क्रमसे परिवर्त्तनशील है, यह बात भी विरुद्ध नहीं है। क्योंकि वह अनादिकालसे परिणमन करता आया है तथा वह सत् अक्रमवर्ती है, यह बात भी विरुद्ध नहीं है क्योंकि परिवर्त्तनशील होने पर भी वह सदा एकरूप ही रहता है। **भावार्थः**—द्रव्य अनन्त गुणोंका समूह है, उन सब गुणोंके कार्य भी भिन्न २ हैं। उनमें एक द्रव्यत्व गुण भी है उस गुणका यह कार्य है कि द्रव्य सदा परिणमन करता रहे, कभी भी परिणाम रहित न हो। द्रव्यत्व गुणके निमित्तसे द्रव्य सदा परिणमन करता रहता है, परन्तु परिणमन करते हुए भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप कभी नहीं हो सक्ता, अर्थात् जीव द्रव्य पुद्गलरूप अथवा पुद्गल द्रव्य जीवरूप कभी नहीं हो सक्ता, ऐसा क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि उन्हीं गुणोंमें एक अगुरुलघु नामा भी गुण है उसका यह कार्य है कि कोई भी द्रव्य परिणमन अपने स्वरूपमें ही करै, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप कभी न हो, एक गुण भी दूसरे गुणरूप न हो, तथा एक द्रव्यके अनन्त गुण जुदे २ न बिखर जांय किन्तु तादात्म्यरूपसे बने रहें। इसप्रकार द्रव्य क्रमवर्ती—अक्रमवर्ती, नित्य—अनित्य, भिन्न—अभिन्न, एक—अनेक, उभय—अनुभय, पृथक्—अपृथक् आदि अनेक धर्मवाला विवक्षासे सिद्ध होता है।

शङ्काकार—

ननु किमिह जगदशरणं विरुद्धधर्मद्वयाधिरोपत्वात्।
स्वयमपि संशयदोलान्दोलित इव चलितप्रतीतिः स्यात् ।४१८।
इह काश्चिज्जिज्ञासुर्नित्यं सदिति प्रतीयमानोपि।
सदनित्यमिति विपक्षे सति शल्ये स्यात्कथं हि निःशल्यः।४१९।
इच्छन्नपि सदनित्यं भवति न निश्चितमना जनः कश्चित्।
जीवदवस्थत्वादिह सन्नित्यं तद्विरोधिनोऽध्यक्षात् ॥४२०॥
तत एव दुरधिगम्यो न श्रेयान् श्रेयसे ह्यनेकान्तः।
अप्यात्ममुखदोषात् सव्यभिचारो यतो चिरादिति चेत् ।४२१।

अर्थ—क्या एक द्रव्यमें दो विरोधी धर्म रह सक्ते हैं ? यदि ऊपरके कथनानुसार रह सक्ते हैं तब तो इस जगत्में कोई भी शरण नहीं रहेगा। सर्वत्र ही विरुद्ध धर्म उपस्थित रहेंगे। ऐसी विरुद्धतामें कोई भी पदार्थोंके समझनेकी इच्छा रखनेवाला—जिज्ञासु कुछ निश्चय नहीं कर सकेगा किन्तु वह स्वयं संशयरूपी झूलेमें झूलने लगेगा, क्योंकि वह जिस समय सत्—वस्तुको नित्य समझेगा उसी समय उसको नित्यताकी विरोधिनी अनित्यता भी उसमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतीत होगी, ऐसी अवस्थामें वह न तो वस्तुमें नित्यता ही स्थिर कर सकेगा और न अनित्यता ही स्थिर कर सकेगा किन्तु सदा सशल्य–संशयालु बना रहेगा। उसी प्रकार यदि वह यह समझने लगे कि वस्तु अनित्य ही होती है, तो भी वह निश्चित विचारवाला निःसंशयी नहीं बन सकेगा, क्योंकि उसी समय अनित्यका विरोधी नित्यरूप–सदा वस्तुको निजरूप भी वस्तुमें उसे प्रत्यक्ष दीखने लगेगा। इन बातोंसे जाना जाता है कि अनेकान्त–स्याद्वाद बहुत ही कठिन है, अर्थात् सब कोई इसका पार नहीं पासक्तेहैं, इसीलिये यह अच्छा नहीं है, क्योंकि सहसा इससे कल्याण नहीं होता है, दूसरी बात यह भी है कि यह अनेकान्त स्वयं ही दोषी बन जाता है, क्योंकि जो कुछ भी यह कहता है उसी समय उसका व्यभिचार–निरोध खड़ा हो जाता है, इसलिये यह अनेकान्त ठीक नहीं है ?

उत्तर—

तन्न यतस्तदभावे बलवानस्तीह सर्वथैकान्तः ।
सोपि च सदनित्यं वा सन्नित्यं वा न साधनायालम् ॥ ४२२ ॥

अर्थ—शंकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि यदि अनेकान्तका अभाव मान लिया जाय तो उस समय एकान्त ही सर्वथा बलवान सिद्ध होगा, वह या तो सत्को सर्वथा नित्य ही कहेगा अथवा सर्वथा उसे अनित्य ही कहेगा, परन्तु सर्वथा एकान्तरूपसे पदार्थमें न तो नित्यता ही सिद्ध होती है और न अनित्यता ही सिद्ध होती है। इसलिये एकान्त पक्षसे कुछ भी सिद्धि नहीं होती है। इसी बातको नित्य अनित्य पक्षों द्वारा नीचे दिखाते हैं—

सन्नित्यं सर्वस्मादिति पक्षे विक्रिया कुतो न्यायात् ।
तदभावेपि न तत्त्वं क्रियाफलं कारकाणि यावदिति ॥ ४२३ ॥
परिणामः सदवस्थाकर्मत्वाद्विक्रियेति निर्देशः ।
तदभावे सदभावो नासिद्धः सुप्रसिद्धदृष्टान्तात् ॥ ४२४ ॥

अर्थ—सर्वथा सत् नित्य ही है, ऐसा पक्ष स्वीकार करनेपर पदार्थमें विक्रिया किस न्यायसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सक्ती, यदि पदार्थमें विक्रिया ही न मानी जाय तो उसके अभावमें पदार्थ ही सिद्ध नहीं होता है, न क्रिया ही सिद्ध होती है, न उसका फल सिद्ध होता है और न उसके कारण ही सिद्ध होते है। क्योंकि सत् पदार्थकी अवस्थाओंका नाम ही परिणाम है, और उसीको विक्रियाके नामसे कहते हैं। उस परिणामका प्रतिक्षण होनेवाली अवस्थाओंका अभाव मानने पर सत्का ही अभाव हो जाता है यह बात असिद्ध नहीं है, किन्तु सुप्रसिद्ध दृष्टान्तसे सिद्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टान्त—

अथ तद्यथा पटस्य क्रिया प्रसिद्धेति तन्तुसंयोगः।
भवति पटाभावः किल तदभावे यथा तदनन्यात् ॥ ४२५ ॥

अर्थ—यह जगत् प्रसिद्ध है कि अनेक तन्तुओंका संयोग ही पटकी क्रिया है। यदि वह तन्तु संयोगरूप पटक्रिया न मानी जाय तो पट ही कुछ नहीं ठहरता है। क्योंकि तन्तु संयोगसे अतिरिक्त पट कोई पदार्थ नहीं है। भावार्थ—तन्तु संयोगरूप क्रियाके मानने पर ही पटकी सत्ता और उससे शीत निवारण आदि कार्य सिद्ध होते हैं, यदि तन्तु संयोग-रूप क्रिया न मानी जाय तो भिन्न २ तन्तुओंसे न तो पटात्मक कार्य ही सिद्ध होता है और न उन स्वतन्त्र तन्तुओंसे शीत निवारणादि कार्य ही सिद्ध होते हैं। इसलिये तन्तु संयोगरूपा क्रिया पटकी अवश्य माननी पड़ती है।

विक्रियाके अभावमें और भी दोष—

अपि साधनं क्रिया स्यादपवर्गस्तत्फलं प्रमाणत्वात्।
तत्कर्त्ता ना कारकमेतत् सर्वं न विक्रियाभावात् ॥ ४२६ ॥

अर्थ—यदि विक्रिया मानी जाती है तब तो मोक्ष प्राप्तिका जो साधन—उपाय किया जाता है वह तो क्रिया पड़ती है, और उसका फल मोक्ष भी प्रमाण सिद्ध है तथा उसका करनेवाला—कर्त्ता पुरुषार्थी पुरुष होता है। यदि पदार्थमें विक्रिया ही न मानी जाय तो इनमेंसे एक भी कारक सिद्ध नहीं होता है। भावार्थ—पदार्थोंमें विक्रिया मानने पर ही इस जीवके मोक्ष प्राप्ति और उसके साधनभूत तप आदि उत्तम कार्य सिद्ध होते हैं। अन्यथा कुछ भी नहीं बनता।

शङ्काकार—

ननु का नो हानिः स्याद्भवतु तथा कारकाद्यभावश्च।
अर्थात् सन्नित्यं किल नश्यौषधमातुरे तमनुवर्त्ति ॥४२७॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि ग्रन्थकारने विक्रियाके अभावमें जो कारकादिका न बनना आदि दोष बतलाये हैं वे हों, अर्थात् कारकादि भले ही सिद्ध न हों, ऐसा माननेसे भी हमारी कोई हानि नहीं है। हम तो पदार्थको सर्वथा नित्य ही मानेंगे। नित्य मानने पर उसमें मोक्ष प्राप्ति आदि कुछ भी न सिद्ध हो, इसकी हमें परवाह नहीं है, क्योंकि औषधि रोगीका रोग दूर करनेके लिये दी जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि वह रोगीको अच्छी लगे या बुरी लगे? भावार्थ—औषधि देने पर विचार नहीं किया जाता है कि रोगी इसे अनु-कूल समझेगा या नहीं, उसके समझने न समझने पर औषधिका देना अवलम्बित नहीं है। उसी प्रकार यहां पर वस्तु विचार आवश्यक है। उसमें चाहे कोई भी दोष आओ अथवा किसीका अभाव हो जाओ इससे शंकाकारकी कुछ हानि नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर—

सत्यं सर्वमनीषितमेतत्तदभाववादिना तावत् ।
यत्सत्तत्क्षणिकादिति यावन्नोदेति जलददृष्टान्तः ॥४२८ ॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि शंकाकारके पदार्थको सर्वथा नित्य मानना आदि विचार तभी तक ठहर सक्ते हैं जब तक कि उसके सामने मेघका दृष्टान्त नहीं आया है। जिस समय उसके सामने यह अनुमान रक्खा जाता है कि जो सत् है वह क्षणिक भी है* जैसे जलके देनेवाले मेघ। उसी समय उसके नित्यताके विचार भाग जाते हैं, अर्थात् जो मेघ अभी आते हुए दीखते हैं वे ही मेघ तुरन्त ही नष्ट–विलीन होते हुए भी दीखते हैं, ऐसी अवस्थामें कौन साहस कर सक्ता है कि वह पदार्थको सर्वथा नित्य कहे ?

सत्को सर्वथा अनित्य माननेसे दोष—

अयमप्यात्मरिपुः स्यात्सदनित्यं सर्वथेति किल पक्षः ।
प्रागेव सतो नाशादपि प्रमाणं क्व तत्फलं यस्मात् ॥ ४२९ ॥

अर्थ—सत्–पदार्थ सर्वथा अनित्य है ऐसा पक्ष भी उनका (सत्को अनित्य माननेवालोंका) स्वयं शत्रु है। क्योंकि जब सत् अनित्य है तो पहले ही उसका नाश हो जायगा, फिर प्रमाण और उसका फल किस प्रकार बन सक्ता है ? अर्थात् नहीं बन सक्ता।

और भी दोष—

अपि यत्सत्तदिति वचो भवति च निग्रहकृते स्वतस्तस्य ।
यस्मात्सदिति कुतः स्यात्सिद्धं तच्छून्यवादिनामिह हि ॥४३०॥

अर्थ—जो दार्शनिक (बौद्धादि) पदार्थको सर्वथा अनित्य मानते हैं उनके यहां उनका वचन ही स्वयं उनका खण्डन करता है, क्योंकि जो पदार्थको सर्वथा विनाशीक माननेवाले–शून्यवादी हैं 'वे जो सत् है सो अनित्य है' ऐसा वाक्य ही नहीं कह सक्ते हैं। उसके न कहनेका कारण भी यही है, कि, जब वे वाक्य बोलते हैं उस समय सत् तो नष्ट ही हो जाता है अथवा सर्वथा अनित्य पक्षवालोंके यहां पूरा वाक्य ही नहीं बोला जासक्ता, क्योंकि जब तक वे 'जो सत् है' इस वाक्यका 'सत्' पद बोलेंगे तब तक 'जो' नष्ट हो जायगा। जब 'है' पद बोलेंगे तबतक 'सत्' पद भी नष्ट हो जायगा। जब उत्तरार्ध 'सो अनित्य है' बोलेंगे तबतक पूर्वार्ध और उत्तरार्धके

*सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्, जो सत् है वह सब क्षणिक ही है। इस व्यतिरेक अनुमानसे बौद्ध भी पदार्थोंमें क्षणिकता सिद्ध करते हैं, परन्तु वे एकान्तरूपसे करते हैं, यह बात प्रत्यक्ष बाधित है। क्योंकि पदार्थोंमें 'यह वही है, ऐसी भी प्रतीति होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहलेके वर्ण भी नष्ट हो जायँगे। इसलिये शून्य वादियोंके यहां पदार्थकी सिद्धि तो दूर रहो, उसका प्रतिवादक वाक्य भी नहीं बनता है।

अपि च सदमन्यमानः कथमिव तदभावसाधनायालम्।
वन्ध्यासुतं हिनस्मीत्यध्यवसायादिवद्व्यलीकत्वात् ॥४३१॥

अर्थ—यदि सत्का अभाव स्वीकार करते हुए ही किसी प्रकार पदार्थमें नित्यपनेका अभाव सिद्ध किया जाता है तो यह सिद्ध करना उसी प्रकार मिथ्या (झूठा) है जिस प्रकर किसीका यह कहना कि मैं बाँझ स्त्रीके पुत्रको मारता हूं, मिथ्या है। भावार्थ—जब बाँझ स्त्रीके पुत्र ही नहीं होता तो फिर मारा किसे जायगा। उसी प्रकार जब सत्का अभाव ही सर्वथा अनित्यवादियोंने स्वीकार कर लिया है तो वे नित्यताका अभाव किसमें सिद्ध करेंगे।

अपि यत्सत्तन्नित्यं तत्साधनमिह यथा तदेवेदम्।
तदभिज्ञानसमक्षात् क्षणिकैकान्तस्य बाधकं च स्यात् ॥४३२॥

अर्थ—दूसरी बात यह भी है कि लोकमें ऐसी प्रतीति भी होती है जो कि क्षणिक एकान्तकी सर्वथा बाधक है। वह प्रतीति इस प्रकार है—जो सत् है वह नित्य है, जैसे—यह वही वस्तु है जिसे पहले हमने देखा था ऐसा प्रत्यभिज्ञान। प्रत्यभिज्ञान प्रतीति यथार्थ है क्योंकि उससे लोक यथार्थ बोध और इष्ट वस्तुकी प्राप्ति करता है, प्रत्यभिज्ञानकी यथार्थतासे पदार्थ भी नित्य सिद्ध हो जाता है। विना कथंचित् नित्यताके पदार्थमें प्रत्यभिज्ञान प्रतीति होती ही नहीं। इसलिये यह प्रतीति ही क्षणिकैकान्तकी बाधक है।

सर्वथा नित्य माननेमें दोष—

क्षणिकैकान्तवदित्यपि नित्यैकान्ते न तत्त्वसिद्धिः स्यात्।
तस्मान्न्यायागतमिति नित्यानित्यात्मकं स्वतस्तत्त्वम् ॥४३३॥

अर्थ—जिस प्रकार क्षणिकैकान्तसे पदार्थकी सिद्धि नहीं होती है उसी प्रकार नित्य एकान्तसे भी पदार्थकी सिद्धि नहीं होती है। इसलिये यह बात न्यायसे सिद्ध है कि पदार्थ कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य भी है, उभयात्मक है। भावार्थ—जैसे सर्वथा क्षणिक असिद्ध है वैसे सर्वथा नित्य भी असिद्ध है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान जैसे सर्वथा अनित्यमें नहीं हो सक्ता है वैसे वह सर्वथा नित्यमें भी नहीं हो सक्ता है। इसका कारण भी यह है कि प्रत्यभिज्ञानमें पूर्व और वर्त्तमान ऐसी दो प्रकारकी प्रतीति होती है। सर्वथा नित्यमें वैसी प्रतीति नहीं हो सक्ती है। इसलिये पदार्थ नित्यानित्यात्मक ही युक्ति, अनुभव, आगमसे सुसिद्ध है।

शङ्काकार—

ननु चैकं सदिति स्यात्किमनेकं स्यादथोभयं चैतत्।
अनुभयमिति किं तत्त्वं शेषं पूर्ववदथान्यथा किमिति ॥ ४३४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—क्या सत् एक है, अथवा अनेक है अथवा उभय है वा अनुभय है अथवा बाकीके एक एक भंगरूप है। अथवा और ही प्रकार है ?

उत्तर—

सत्यं सदेकमिति वा सदनेकं चोभयं च नययोगात् ।
न च सर्वथा सदेकं सदनेकं वा सदप्रमाणत्वात् ॥ ४३५ ॥

अर्थ—ठीक है, सत् नय दृष्टिसे एक भी है अनेक भी है उभय भी है और अनुभय भी है + परन्तु यह बात नयविवक्षासे ही बनती है, नय विवक्षाकी अपेक्षाको छोड़कर सर्वथा सत्को एक कहना भी ठीक नहीं है, अनेक कहना भी ठीक नहीं है * और उभय कहना भी ठीक नहीं, अनुभय कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वथा एकान्तरूपसे एक अनेक सत् अप्रमाण ही हैं।

सत् स्यात् एक है—

अथ तद्यथा सदेकं स्यादविभिन्नप्रदेशवत्त्वाद्वा ।
गुणपर्यायांशैरपि निरंशदेशादखण्डसामान्यात् ॥४३६॥

अर्थ—गुण पर्याय रूप अंशोंको अभिन्न प्रदेशी होनेसे सत् एक है अथवा अखण्ड सामान्यकी अपेक्षासे निरंश—अंश रहित देश होनेसे सत् एक है। भावार्थ—द्रव्यमें गुण पर्यायें इसी प्रकार हैं जिस प्रकार कि जलमें कल्लोलें होती हैं। जिसप्रकार जलसे कल्लोलोंकी सत्ता भिन्न नहीं है उसी प्रकार द्रव्यसे गुण पर्यायोंकी सत्ता भी भिन्न नहीं है। केवल विवक्षासे द्रव्य गुणपर्यायोंकी कल्पना की जाती है, शुद्ध दृष्टिसे जो द्रव्य है सोई गुण पर्याय है, जो गुण है सोई द्रव्य पर्याय है, अथवा जो पर्याय है सोई द्रव्य गुण है, इसलिये जब तीनों एक ही हैं तो न उनकी भिन्न सत्ता है, और न उनके भिन्न प्रदेश ही हैं। तथा शुद्ध दृष्टिसे न उनमें अंश कल्पना ही है किन्तु निरंश—अखण्ड देशात्मक एक ही सत् है।

तथा—

द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेनापीह चाथ भावेन ।
सदखण्डं नियमादिति यथाधुना वक्ष्यते हि तल्लक्ष्म ॥ ४३७ ॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे नियमसे सत् अखण्ड है, अब इन चारोंकी अपेक्षासे ही सत्में अखण्डता क्रमसे सिद्ध की जाती है।

द्रव्य—विचार—

गुणपर्ययवद्द्रव्यं तद्गुणपर्ययवपुः सदेकं स्यात् ।
नहि किञ्चिद्गुणरूपं पर्ययरूपं च किञ्चिदंशांशैः ॥४३८॥

× च शब्दसे अनुभयादिका ग्रहण किया जाता है।

* यहांपर 'वा' शब्दसे उभयादिका ग्रहण कर लेना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—गुण पर्यायवाला द्रव्य है, अर्थात् गुणपर्याय ही द्रव्यका शरीर है, गुण पर्याय स्वरूप ही द्रव्य है, इसलिये सत् एक है। ऐसा नहीं है कि उसके कुछ अंश तो गुणरूप हों, कुछ पर्यायरूप हों।

दृष्टान्त—

रूपादितन्तुमानिह यथा पटः स्यात्स्वयं हि तद्द्वैतम्।
नहि किञ्चिद्रूपमयं तन्तुमयं स्यात्तदंशगर्भीशैः॥ ४३९॥

अर्थ—रूपादि विशिष्ट तन्तुवाला पट कहलाता है, इस कथनकी अपेक्षासे वह स्वयं द्वैतभाव धारण करता है, परन्तु ऐसा नहीं है कि पटमें कुछ अंश तो रूपमय हों, और कुछ तन्तुमय हों। किन्तु रूप तन्तु पट तीनों एक ही पदार्थ है। केवल विवक्षासे उसमें द्वैतभाव है।

न पुनर्गोरसवदिदं नानासत्त्वैकसत्त्वसामान्यम्।
सम्मिलितावस्थायामपि घृतरूपं च जलमयं किञ्चित्॥ ४४०॥

अर्थ—सत्में जो एकत्व है, वह गोरसके समान अनेक सत्ताओंके सम्मेलनसे एक सामान्य सत्त्वरूप नहीं है। जैसे—गोरस (दुग्धादि) की मिली हुई अवस्थामें कुछ घृतभाग है, और कुछ जलभाग है, परन्तु सम्मेलन होनेके कारण उन्हें एक ही गोरससे पुकारते हैं, वैसे सत्में एकत्व नहीं है। भावार्थ—जैसे गोरसमें कई पदार्थोंकी भिन्न २ सत्ता है परन्तु मिलापके कारण एक गोरसकी ही सत्ता कही जाती है। वैसे सत् एक नहीं कहा जाता है किन्तु एक सत्ता होनेसे वह एक कहा जाता है।

अपि यदशक्यविवेचनमिह न स्याद्वा प्रयोजकं यस्मात्।
क्वचिदश्मनि तद्भावान्माभूत्कनकोपलद्वयाद्वैतम्॥ ४४१॥

अर्थ—अथवा ऐसा भी नहीं कहा जासक्ता कि यद्यपि सत्में भिन्न २ सत्तायें हैं परन्तु उनका भिन्न २ विवेचन नहीं किया जासक्ता है इसलिये सत्को एक अथवा एक सत्तावाला कह दिया जाता है। जैसे क स्वर्ण पाषाणमें स्वर्ण और पाषाण दो पदार्थ हैं परन्तु उनका भिन्न २ विवेचन अशक्य है इसलिये उसे एक ही पत्थरके नामसे पुकारा जाता है। ऐसा कहनेसे जिस प्रकार कनकोपल-स्वर्ण पाषाणमें द्वैतभाव है उसी प्रकार सत्में भी द्वैतभाव सिद्ध होता, परन्तु स्वर्णपाषाणमें जिस प्रकार भिन्न २ दो पदार्थ हैं उस प्रकार सत्में नहीं है। सत् वास्तवमें एक सत्तावाला एक ही है।

सांश—

सदिदं तदपि प्रयोजकं स्यादखण्डवस्तुत्वम्।
प्रकृतं यथा सदेकं द्रव्येणाखण्डितं मतं तावत्॥ ४४२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—इसलिये एकत्व सिद्ध करनेके लिये न तो भिन्न २ अनेक सत्ताओंका सम्मेलन ही प्रयोजक है और न अशक्य विवेचन ही एकत्वका प्रयोजक है किन्तु अखण्ड वस्तुत्व ही उसका प्रयोजक है। अर्थात् जो अखण्ड प्रदेशी-एक सत्तात्मक पदार्थ है वही एक है। प्रकृतमें द्रव्यकी अपेक्षासे भी ऐसा ही अखण्ड प्रदेशी एकत्व सत्में माना गया है।

शङ्काकार—

ननु यदि सदेव तत्त्वं स्वयं गुणः पर्ययः स्वयं सदिति ।
शेषः स्यादन्यतरस्तदितरलोपस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ४४३ ॥
न च भवति तथावश्यम्भावात्तत्समुदयस्य निर्देशात् ।
तस्मादनवद्यमिदं छायादर्शवदनेकहेतुः स्यात् ॥ ४४४ ॥

अर्थ—यदि स्वयं सत् ही द्रव्य है, स्वयं ही गुण है, स्वयं ही पर्याय है तो एक शेष रहना चाहिये। अर्थात् जब द्रव्य गुण पर्याय तीनों एक ही हैं तो तीनोंमेंसे कोई एक कहा जा सक्ता है बाकीके दोनोंका लोप होना अवश्यम्भावी है, परन्तु वैसा होता नहीं है, द्रव्य गुण पर्याय, तीनोंका कहना ही आवश्यक प्रतीत होता है, इसलिये यह बात ही निर्दोष सिद्ध होती है कि सत् छाया और दर्पणके समान अनेक कारणजन्य है ? भावार्थ—यदि द्रव्य गुण पर्याय तीनों एक ही बात है तब तो एक शेष रहना चाहिये, दोका लोप हो जाना चाहिये। यदि तीनों ही तीन बाते हैं तो वे अवश्य ही सत्को अनेक हेतुक सिद्ध करती है, और अनेक हेतुक होनेसे सत्में अनेकत्व भी सिद्ध होगा ?

उत्तर—

सत्यं सदनेकं स्यादपि तद्धेतुश्च यथा प्रतीतित्वात् ।
न च भवति यथेच्छं तच्छायादर्शवदसिद्धदृष्टान्तात् ॥४४५॥

अर्थ—ठीक है, कथंचित् सत् अनेक भी है तथा यथायोग्य अनेक हेतुक भी है। परन्तु उसमें अनेक हेतुता छाया और दर्पणके समान इच्छानुसार नहीं है किन्तु प्रतीतिके अनुसार है। सत्के विषयमें छायादर्शका दृष्टान्त असिद्ध है। क्यों असिद्ध है ? उसीका उत्तर नीचे दिया जाता है।

प्रतिबिम्बः किल छाया वदनादर्शादिसन्निकर्षाद्वै ।
आदर्शस्य सा स्यादिति पक्षे सदसदिव चाऽन्वयाभावः ॥४४६॥
यदि वा सा वदनस्य स्यादिति पक्षोऽसमीक्ष्यकारित्वात् ।
व्यतिरेकाभावः किल भवति तदास्यस्य सतोऽप्यच्छायत्वात् ॥४४७॥

अर्थ—नियमसे प्रतिबिम्बका नाम ही छाया है। वह वदन (मुख) और आदर्श (दर्पण)के सम्बन्धसे होती है। यदि उस छायाको केवल दर्पणकी ही कहा जाय तो ऐसा पक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माननेसे सत् असत्के समान ठहरेगा। अथवा अन्वय नहीं बनेगा। अर्थात् यदि छायाको दर्पणकी ही कहा जाय तो जहां २ दर्पण है वहां २ छाया होनी चाहिये परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता है, विना छायाके भी दर्पण देखा जाता है। परन्तु द्रव्य गुण पर्यायमें वैसा अन्वयाभाव नहीं है। कथंचित् तीनों ही सहभावी हैं और कथंचित् एक हैं। यदि वह छाया मुखकी कही जाय तो यह पक्ष भी विना विचारे कहा हुआ ही प्रतीत होता है, क्योंकि मुखकी छाया माननेसे व्यतिरेक नहीं बनता है। यदि मुखकी ही छाया मानी जाती है तो जहां २ छाया नहीं है वहां २ मुख भी नहीं होना चाहिये, परन्तु यह बात असिद्ध है, जहां मुख देखनेमें आता है वहां छाया नहीं भी देखनेमें आती है। परन्तु द्रव्य गुण पर्यायमें ऐसा व्यतिरेक व्यभिचार नहीं है। जहां द्रव्य नहीं है वहां गुण पर्याय भी नहीं है और जहां गुण पर्याय नहीं है वहां द्रव्य भी नहीं है। तीनोंमें रूप रस गन्ध स्पर्शके समान अभिन्नता है। इसलिये सत्के विषयमें छाया आदर्शका दृष्टान्त ठीक नहीं है।

फलितार्थ—

एतेन निरस्तोभून्नानासत्वैकसत्त्ववादीति।
प्रत्येकमनेकम्प्रति सद्द्रव्यं सन्गुणो यथेत्यादि ॥४४८॥

अर्थ—कोई दर्शनकार (नैयायिकादि) ऐसा मानता है कि द्रव्यकी सत्ता भिन्न है गुणकी भिन्न है, कर्मकी भिन्न है, और उन सब भिन्न २ सत्तावाले पदार्थोंमें एक महा सत्ता रहती है। इस प्रकार नाना सत्त्वोंके ऊपर एक सत्त्व माननेवाला उपर्युक्त कथनसे खण्डित किया गया है। भावार्थ—नैयायिक १६ पदार्थ मानता है। वैशेषिक ७ पदार्थ मानता है। वे सात पदार्थ ये हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव। ऊपर कहे हुए दोनों ही मत इन सात पदार्थोंको भिन्न २ मानते हैं। परन्तु वास्तवमें ये सातों जुदे २ नहीं है किन्तु सातों मिल कर एक ही पदार्थ है। क्योंकि गुणोंका समूह ही द्रव्य है। द्रव्यसे गुण जुदा पदार्थ नहीं है। गुणोंमें दो प्रकारके गुण हैं (१) भावात्मक (२) क्रियात्मक। क्रियात्मक गुणका नाम ही कर्म है। उन्हीं गुणोंमें द्रव्यकी सत्ता स्थित रखनेवाला अस्तित्त्व नामका गुण है। वही सामान्यके नामसे पुकारा जाता है। विशेष गुणोंको ही विशेषके नामसे कह दिया गया है। विवक्षावश द्रव्य गुणोंमें कथञ्चित् भिन्नता भी लाई जाती है। उस समय उनमें जो तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता है उसीका नाम नैयायिकोंने समवाय रख लिया है। विवक्षावश जो एक पदार्थमें इतर पदार्थोंका अभावरूप नास्तित्व धर्म रहता है। उसीको उन्होंने स्वतन्त्र अभाव पदार्थ मान लिया है। इस प्रकार एक पदार्थकी अनेक अवस्थाओंको ही उक्त दर्शनकारोंने भिन्न २ पदार्थ माना है। परन्तु ऐसा उनका मानना उपर्युक्त रीतिसे सर्वथा बाधित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्र-विचार--

क्षेत्रं प्रदेश इति वा सदधिष्ठानं च भूर्निवासश्च ।
तदपि स्वयं सदेव स्यादपि यावन्न सत्प्रदेशस्थम् ॥४४९॥

अर्थ—क्षेत्र कहो, प्रदेश कहो, सत्का आधार कहो, सत्की पृथ्वी कहो, सत्का निवास कहो, ये सब पर्यायवाची है। परन्तु ये सब स्वयं सत् स्वरूप ही हैं। ऐसा नहीं है कि सत् कोई दूसरा पदार्थ हो और क्षेत्र दूसरा हो, उस क्षेत्रमें सत् रहता हो। किन्तु सत् और उसके प्रदेश दोनों एक ही बात है। सत्का क्षेत्र स्वयं सत्का स्वरूप ही है। **भावार्थ**—जिन आकाशके प्रदेशोंमें सत्-पदार्थ ठहरा हो उनको सत्का क्षेत्र नहीं कहते हैं, उस क्षेत्रमें तो और भी अनेक द्रव्य हैं। किन्तु जिन अपने प्रदेशोंसे सत्ने अपना स्वरूप पाया है वे ही सत्के प्रदेश कहे जाते हैं। अर्थात् जितने निज द्रव्यके प्रदेशोंमें सत् बँटा हुआ है वही उस द्रव्यका क्षेत्र है।

प्रदेश भेद—

अथ ते त्रिधा प्रदेशाः क्वचिन्निरंशैकदेशमात्रं सत् ।
क्वचिदपि च पुनरसंख्यदेशमयं पुनरनन्तदेशवपुः ॥ ४५० ॥

अर्थ—वे प्रदेश तीन प्रकार हैं-कोई सत् तो निरंश फिर जिसका खण्ड न हो सके ऐसा एक देश मात्र है, कोई (कहीं पर) सत् असंख्यात प्रदेशवाला है, और कोई अनन्त प्रदेशी भी है। **भावार्थ**--एक परमाणु अथवा एक काल द्रव्य एक प्रदेशी है। यहां पर प्रदेशसे तात्पर्य परमाणु और काल द्रव्यके आधारभूत आकाशका नहीं है × किन्तु परमाणु और काल द्रव्यके प्रदेशका है। दोनों ही द्रव्य एक प्रदेशी हैं। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, एक जीव द्रव्य ये असंख्यात प्रदेशी हैं। * आकाश अनन्त प्रदेशी है।

आशङ्का और उत्तर—

ननु च द्व्यणुकादि यथा स्यादपि संख्यातदेशि सत्विति चेत् ।
न यतः शुद्धादेशैरुपचारस्याविवक्षितत्वाद्वा ॥ ४५१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार एक प्रदेश, असंख्यात प्रदेश और अनन्त प्रदेशवाले द्रव्य बतलाये गये हैं, उस प्रकार संख्यात प्रदेशी द्रव्य भी बतलानां चाहिये। और ऐसे द्रव्य द्व्यणुक

× जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्टद्धं तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ।
द्रव्य संग्रह ।

यहांपर प्रदेशका परिमाण बतलानेके लिये उसका उपचरित लक्षण किया गया है। परन्तु ऊपर वस्तु-प्रदेश लिया गया है।

* असंख्यात प्रदेशी पुद्गल स्कन्ध भी होता है परन्तु उसका यहां ग्रहण नहीं है, क्योंकि उसके प्रदेश उपचरित हैं। यहां शुद्धोंका ही ग्रहण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्र्यणुक चतुरणुक+ शताणुक लक्षाणुक आदि पुद्गल स्कन्ध होसकते हैं। उन्हे क्यों छोड़ दिया गया ? परंतु उपर्युक्त आशङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि यहां शुद्ध नयकी अपेक्षासे शुद्ध द्रव्योंका कथन है, उपचरित द्रव्योंका कथन नहीं है। भावार्थ—संख्यात प्रदेशी कोई द्रव्य नहीं है किन्तु कई पुद्गल द्रव्योंके मेलसे होनेवाला स्कन्ध है। वह यहां पर विवक्षित नहीं है। परमाणु और काल द्रव्यको संख्यात प्रदेशी नहीं कहा गया है किन्तु निरंश–एक देश मात्र कहा गया है।

प्रकारान्तर—

अयमर्थः सद्वेधा यथैकदेशीत्यनेकदेशीति ।
एकमनेकं च स्यात्प्रत्येकं तन्नयद्वयान्न्यायात् × ॥४५२॥

अर्थ—तात्पर्य यह है कि सत्के दो भेद हैं (१) एक देशी (२) अनेक देशी। इन दोनोंमें प्रत्येक ही दो नयोंकी विवक्षासे एक और अनेक रूप है। भावार्थ—इस श्लोक द्वारा प्रदेशोंके भेद तीनके स्थानमें दो ही बतलाये गये हैं, और असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश–अनेकमें गर्भित किये गये हैं। जो एक प्रदेशी है वह द्रव्य भी नय सामान्यकी अपेक्षासे एक प्रकार और नय विशेषकी अपेक्षासे अनेक प्रकार है। इसी प्रकार अनेक प्रदेशी द्रव्य भी समझना चाहिये।

अथ यस्य यदा यावद्यदेकदेशे यथा स्थितं सदिति ।*
तत्तावत्तस्य तदा तथा समुदितं च सर्वदेशेषु ॥४५३॥

अर्थ—जिस समय जिस द्रव्यके एक देशमें जैसे सत् रहता है वैसे उस द्रव्यके उस समय सर्व देशोंमें सत् समुदित रहता है। भावार्थ—द्रव्यके एक प्रदेशमें जो सत् है वही उसके सर्व प्रदेशोंमें है। यहां पर तिर्यक् अंश कल्पना द्वारा वस्तुमें क्षेत्रका विचार किया है। जैसे–कोई वस्तु एक अंगुल चौड़ी दो अंगुल लम्बी और उतनी ही मोटी है, यदि ऐसी वस्तुमें तिर्यगंश कल्पना की जाय तो वह वस्तु प्रदेशोंके विभागकी अपेक्षासे उतनी ही लम्बी चौड़ी मोटी समझी जायगी ? और उसके प्रदेश उतने ही क्षेत्रमें समझे जायँगे। स्मरण रहे कि यह क्षेत्र उस द्रव्यका आधारभूत आकाशरूप नहीं है किन्तु उसी वस्तुके प्रदेशरूप है तथा वे एक अंगुल चौड़े दो अंगुल लम्बे मोटे प्रदेश अखण्ड--एक सत्तावाले

+ दो अणुकोंका मिला हुआ स्कन्ध द्वयणुक और तीनका मिला हुआ त्र्यणुक कहलाता है। इसी प्रकार सौ अणुओंका स्कन्ध शताणुक कहलाता है। परन्तु नैयायिक दार्शनिक तीन द्वयणुकोंका मिला हुआ एक त्र्यणुक मानते हैं। चार द्वयाणुकोंका मिला हुआ चतुरणक मानते हैं। द्वयणुकको तो वे भी दो परमाणुओंका स्कन्ध कहते हैं।

× " तन्न तद्द्वयान्न्यायात् " ऐसा मूल पुस्तकमें पाठ है वह अशुद्ध प्रतीत होता है।

* " यावद्यनेकदेशे " ऐसा मूल पुस्तकमें पाठ है वह भी असमञ्जस प्रतीत होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, इसलिये उन सब प्रदेशोंमें एक ही सत् है अथवा वे सब प्रदेश एक सत् एक द्रव्यके नामसे कहे जाते हैं।

इत्यनवद्यमिदं स्याल्लक्षणमुद्देशि तस्य तत्र यथा ।
क्षेत्रेणाखण्डित्वात् सदेकमित्यत्र नयविभागोऽयम् ॥ ४५४ ॥

अर्थ—इस प्रकार उस सत्का यह निर्दोष लक्षण क्षेत्रकी अपेक्षासे कहा गया। एक सत्के सर्व ही प्रदेश अखण्ड हैं इस लिये वे सब एक ही सत् कहे जाते हैं यही एकत्व विवक्षामें नय विभाग है।

न पुनश्चैकापवरकमञ्चरितानेकदीपवत्सदिति ।
हि यथा दीपसमृद्धौ प्रकाशवृद्धिस्तथा न सद्वृद्धिः ॥ ४५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी मकानके भीतर एक दीप फिर दूसरा दीप फिर तीसरा फिर चौथा इसी क्रमसे अनेक दीप लाये जायँ तो जितनी२ दीपोंकी संख्या बढ़ती जायगी उतनी२ ही प्रकाशकी वृद्धि भी होती जायगी। उस प्रकार सत् नहीं है। सत्की वृद्धि अनेक दीपोंके प्रकाशके समान नहीं होती है।

तथा—

अपि तत्र दीपशमनेकस्मिंश्चित्तत्प्रकाशहानिः स्यात् ।
न तथा स्यादविवक्षितदेशे तद्धानिरेकरूपत्वात् ॥ ४५६ ॥

अर्थ—ऐसा भी नहीं है कि जिस प्रकार मकानमें रक्खे हुए अनेक दीपोंमेंसे किसी दीपके बुझा देनेपर उस मकानमें कुछ प्रकाशकी कमी हो जाती है, उस प्रकार सत्की भी कमी हो जाती है, किन्तु अविवक्षित देशमें सत्की हानि नहीं होती है, वह सदा एकरूप ही रहता है। भावार्थ—उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें सत्के विषयमें अनेक दीपकोंका दृष्टान्त विषम है। क्योंकि अनेक दीपक अनेक द्रव्य हैं। अनेक द्रव्योंका दृष्टान्त एक द्रव्यके लिये किस प्रकार उपयुक्त (ठीक) हो सक्ता है? भिन्न २ दीपकका भिन्न २ ही प्रकाश होता है, सब दीपोंका समुदाय ही बहु प्रकाशका हेतु है। इसलिये किसी दीपके लानेसे प्रकाशकी वृद्धिका होना और किसी दीपके वहांसे लेजाने पर प्रकाशकी हानिका होना आवश्यक है परन्तु एक सत्के विषयमें बहु द्रव्योंका दृष्टान्त ठीक नहीं है, हां यदि एक ही दीपकका दृष्टान्त उसके विषयमें दिया जाय तो सम है। जैसे एक दीपकको किसी बड़े कमरेमें रखते हैं तो उसका प्रकाश उस विस्तृत कमरेमें फैल जाता है, यदि उसको छोटी कोठरी में रखते हैं तो उसका प्रकाश उसीमें रह जाता है, यदि उसे एक घड़ेमें रखते हैं तो उसका वह बड़े कमरेमें फैलनेवाला प्रकाश उसी घड़ेमें आजाता हैं। यहां पर विचारनेकी बात इतनी ही है कि जिस समय दीपकको बड़े कमरेमें हमने रक्खा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, उस समय दीपकके प्रदेश कुछ बढ़ नहीं गये हैं और जिस समय कोठरी और घड़ेके भीतर उसे रक्खा है तो उसके प्रदेश क्रमसे घट नहीं गये हैं, किन्तु वे जितने हैं उतने ही हैं, दीपकके जितने भी प्रकाश परमाणु हैं वे सब उतने ही हैं। छोटे बड़े कमरोंमें और घड़ेमें दीपकको रखसे वे किञ्चित् भी घटे बढ़े नहीं हैं, केवल आवरक (प्रकाशको रोकनेवाला पदार्थ—कमरा, घड़ा आदि)के भेदसे वे संकुचित और विस्तृत होगये हैं। यदि उन्होंने छोटा क्षेत्र पाया है तो उतनेमें ही वे संकुच कर समा गये हैं यदि बड़ा क्षेत्र उन्होंने पाया है तो वहां पर वे फैलकर समा गये हैं* इसी दृष्टान्तको स्फुट करनेके लिये दूसरे दृष्टान्तका उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। जैसे—एक मन रुई धुनने पर एक बड़े लम्बे चोड़े कोठेमें आसक्ती है, परन्तु वही रुई जब पेचमें दबकर गांठकेरूपमें आजाती है तो बहुत ही थोड़े स्थानमें (दो फीट लम्बे और उतने ही चौड़े मोटे स्थानसे भी प्रायः कम क्षेत्रमें) समा जाती है। यहांपर विचार करनेका यही स्थल है कि रुईके प्रदेश धुनते समय क्या कहींसे आकार बढ़ जाते हैं ? अथवा गांठ बाँधते समय उसके कुछ प्रदेश कहीं चले जाते हैं ? वास्तव दृष्टिसे इन दोनोंमेंसे एक भी बात नहीं है। क्योंकि दोनों ही अवस्थाओंमें रुई तोलने पर एक ही मन * निकलती है। यदि उसके कुछ अंश कहीं चले जाते तो अवश्य उसकी तोलमें घटी होना चाहिये अथवा वृद्धि होने पर उसकी तोलमें वृद्धि होना चाहिये, परन्तु रुईमें घटी बढ़ी थोड़ी भी नहीं होती, इसलिये यह बात माननी ही पड़ती है कि रुईके अथवा दीपके प्रदेश जितने हैं वे उतने ही सदा रहते हैं केवल निमित्तकारणसे उनमें संकोच और विस्तार होता है। बस स्थूलतासे इन्ही दृष्टान्तोंकी तुलना दार्ष्टान्त—सत् रखता है। सत् जितने प्रदेशोंमें विभाजित है वह सदा उतने ही प्रदेशोंमें रहता है। उसके प्रदेशोंमें अथवा उसमें कभी कभी अधिकता या न्यूनता नहीं हो सक्ती है, केवल द्रव्यान्तरके निमित्तसे उनमें अथवा उसमें संकोच और विस्तार हो सक्ता है। यदि पदार्थमें न्यूनाधिक्य होने लगे तो सत्का विनाश और असत्का उत्पाद भी स्वयं सिद्ध होगा फिर पदार्थोंमें कार्य कारण भावका अभाव होनेसे संकर व्यति-

---

* यद्यपि एक दीप भी अनेक परमाणुओंका समूह होनेसे अनेक द्रव्योंका समूह है तथापि स्थूल दृष्टिसे उसे दृष्टान्तांशमें एक ही समझना चाहिये। इसीलिये उसके प्रकाशकी मन्दता और अधिकता पर उपेक्षा ही की जाती है। जिस दृष्टिसे दृष्टान्तका प्रयोग किया जाता है उसी दृष्टिसे उसका उतना ही अंश सर्वत्र लेना योग्य है।

* रुई धुनते समय जो उसमेंसे कुछ धूल (किरकिरी) निकल जानेसे रुई घट जाती है उतना अंश दृष्टान्तांश नहीं कहा जासक्ता। यदि उसे भी जो लेना चाहते है वे धूलके परिमाण और भी रुई मिला कर फिर उसे दृष्टान्त बनावें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर अनवस्था शून्यता आदि अनेक दोष भी स्वयं उपस्थित हो जायँगे जो कि पदार्थमात्रको इस नभोमण्डलमें नहीं ठहरने देंगे।

सर्वथा अभिन्नता भी प्रयोजक नहीं है—

नात्र प्रयोजकं स्यात्किं तन्निजाभोगदेशमात्रत्वम्।
तदनन्यथात्वसिद्धौ सदनेकं क्षेत्रतः कथं स्याद्वा ॥ ४५७ ॥

अर्थ—यहां पर यह भी प्रयोजन नहीं है कि सत् जितने देश (यहां पर देशसे तात्पर्य आकाशकी अपेक्षासे है।) में रहता है उसका नियमित उतना ही देश कहा जाय, यदि ऐसा ही कहा जाय और सत्में अन्यथापना न माना जाय तो क्षेत्रकी अपेक्षासे सत् अनेक किसप्रकार सिद्ध होगा ?

आशंका और उसका उत्तर—

सदनेकं देशानामुपसंहारात्प्रसर्पणादिति चेत्।
न यतो नित्यविभूनां व्योमादीनां न तद्धि तदयोगात् ॥४५८॥
अपि परमाणोरिह वा कालाणोरेकदेशमात्रत्वात्।
कथमिव सदनेकं स्यादुपसंहारप्रसर्पणाभावात् ॥ ४५९ ॥

अर्थ—सत्के प्रदेशोंका संकोच विस्तार होता है। इसलिये सत् अनेक है, ऐसी आशंका ठीक नहीं है, यदि सत्के प्रदेशोंका संकोच और विस्तार होनेसे ही उसे अनेक कहा जाय तो आकाश आदि नित्य—विभु सर्व व्यापक पदार्थोंमें अनेकत्व नहीं घट सकेगा, क्योंकि आकाश, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्यके प्रदेशोंका संकोच विस्तार ही नहीं होता है तथा परमाणु और कालाणु ये दो द्रव्य एक २ प्रदेश मात्र हैं। इनमें संकोच विस्तार हो ही नहीं सक्ता है, फिर इनमें अनेकत्व किस प्रकार सिद्ध होगा ? **भावार्थ**—संकोच विस्तारसे ही सत्में अनेकत्व मानना ठीक नहीं है।

शङ्काकार—

ननु च सदेकं देशैरिव संख्या खण्डयितुमशक्यत्वात्।
अपि सदनेकं देशैरिव संख्यानेकतो नयादिति चेत् ॥ ४६० ॥

अर्थ—प्रदेशोंके समान सत्की संख्याका खण्ड नहीं किया जा सक्ता है, इसलिये तो सत् एक है और प्रदेशोंके समान सत् अनेक संख्यावाला है इस नयसे वह अनेक है ? * **भावार्थ**—सत् सदा अखण्ड रहता है, इसलिये तो वह एक है, परन्तु अखण्ड रहने पर भी उसके प्रदेशोंकी संख्या अनेक है इसलिये वह अनेक भी कहा जाता है ?

---

* इस श्लोकमें इव, शब्दका प्रयोग किस विशेष आशयके आधार पर किया गया है, सो हमारी समझमें नहीं आया है। पंडितजन विचारें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर--

न यतोऽशक्यविवेचनमेकक्षेत्रावगाहिनां क्वास्ति ।
एकत्वमनेकत्वं नहि तेषां तथापि तदयोगात् ॥ ४६१ ॥

अर्थ--सत्में उपर्युक्त रीतिसे एकत्व अनेकत्व लाना ठीक नहीं है । क्योंकि खण्ड तो एक क्षेत्रावगाही अनेक पदार्थोंका भी नहीं होता है, अर्थात् आकाश, धर्म, अधर्म, काल, इन द्रव्योंमें भी क्षेत्र भेद नहीं है । इनके क्षेत्रका भेद करना भी अशक्य ही है, यद्यपि इन पदार्थोंमें क्षेत्र भेदकी अपेक्षासे अनेकत्व नहीं है, तथापि इसप्रकार उनमें एकत्व अथवा अनेकत्व नहीं घटता है । भावार्थ--लोकाकाशमें सर्वत्र ही धर्म द्रव्य अधर्मद्रव्य काल द्रव्य और आकाश द्रव्यके प्रदेश अनादिकालसे मिले हुए हैं और अनन्तकाल तक सदा मिले ही रहेंगे, उनका कभी क्षेत्र भेद नहीं हो सक्ता है, परन्तु वास्तवमें वे चारों ही द्रव्य जुदे २ हैं । यदि शंकाकारके आधार पर प्रदेशोंका खण्डन होनेकी अपेक्षासे ही सतमें एकत्व आता हो तो धर्मादि चारों द्रव्योंमें एकता ही सिद्ध होगी ।

शङ्काकार--

ननु ते यथा प्रदेशाः सन्ति मिथो गुम्फिकतैकसूत्रत्वात् ।
न तथा सदनेकत्वादेकक्षेत्रावगाहिनः सन्ति + ॥ ४६२ ॥

अर्थ--जिसप्रकार एक द्रव्यके प्रदेश एक सूत्रमें गुम्फित (गूँथे हुए) होते हैं । उस प्रकार एक क्षेत्रावगाही अनेक द्रव्योंके नहीं होते हैं? भावार्थ--शंकाकार फिर भी अपनी शंकाको पुष्ट करता है कि जिस प्रकार एक द्रव्यके प्रदेश अखण्ड होते हैं उसप्रकार अनेक द्रव्योंके एक क्षेत्रमें रहने पर भी अखण्ड प्रदेश नहीं होते हैं, इसलिये उसने जो प्रदेशोंकी अखण्डतासे सत्में एकत्व बतलाया था वह ठीक ही है ?

उत्तर--

सत्यं तत्र निदानं किमिति तदन्वेषणीयमेव स्यात् ।
तेनाखण्डितमिव सत् स्यादेकमनेकदेशवत्त्वेपि ॥ ४६३ ॥

अर्थ--ठीक है, एक पदार्थके प्रदेश जैसे अखण्ड होते हैं वैसे एक क्षेत्रवगाही--अनेक पदार्थोंके नहीं होते, इसका ही कारण ढूंढना चाहिये जिससे कि अनेक प्रदेशवाला होने पर भी सत् एक--अखण्ड प्रतीत हो । भावार्थ--आचार्यने शंकाकारके उपर्युक्त उत्तरको कथंचित् ठीक समझा है इसीलिये उन्होंने अखण्डताके कारण पर विचार करनेके लिये उससे प्रश्न किया है । अब वे यह जानना चाहते हैं कि शङ्काकार पदार्थमें किस प्रकार अखण्डता समझता है ।

+ मूल पुस्तकमें "सदेकत्वात्" पाठ है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शङ्काकार—

ननु तत्र निदानमिदं परिणममाने यदेकदेशेस्य।
वेणोरिव पर्वसु किल परिणमनं सर्वदेशेषु ॥ ४६४ ॥

अर्थ—एक पदार्थमें अखण्डताका यह निदान—सूचक है कि उसके एक देशमें परिणमन होने पर सर्व देशमें परिणमन होता है। जिस प्रकार किसी वाँसको एक भागसे फिराने पर उसके सभी पर्वों (गाँठों) में अर्थात् समस्त वाँसमें परिणमन (हिलता) होता है? भावार्थ—वांसका दृष्टान्त देनेसे विदित है कि शंकाकार अनेक सत्तावाले पदार्थोंको भी एक ही समझता है।

उत्तर—

तन्न यतस्तद्ग्राहकमिव प्रमाणं च नास्त्यदृष्टान्तात्।
केवलमन्वयमात्रादपि वा व्यतिरेकिणश्च तदसिद्धेः ॥ ४६५ ॥

अर्थ—एक देशमें परिणमन होनेसे सर्व देशोंमें परिणमन होना एक वस्तुकी अखण्डतामें निदान नहीं होसक्ता है। क्योंकि इस बातको सिद्ध करनेवाला न तो कोई प्रमाण ही है और न कोई उसका साधक दृष्टान्त ही है। यदि उपर्युक्त कथन (एक देशमें परिणमन होनेसे सर्व देशमें परिणमन होता है) में अन्वय व्यतिरेक दोनों घटित होते हों तब तो उसकी सिद्धि हो सक्ती है, अन्यथा केवल अन्वयमात्रसे अथवा केवल व्यतिरेक मात्रसे उक्त कथनकी सिद्धि नहीं हो सक्ती है। यहां पर सदृश परिणमनकी अपेक्षासे अन्वय यथा कथंचित् बन भी जाता है परन्तु व्यतिरेक सर्वथा ही नहीं बनता।

शङ्काकार—

ननु चैकस्मिन् देशे कस्मिंश्चित्क्वन्यतरेपि हेतुवशात्।
परिणमति परिणमन्ति हि देशाः सर्वे सदेकतस्त्वितिचेत् ॥ ४६६ ॥

अर्थ—कारणवश किसी अन्यतर एक देशमें परिणमन होने पर सर्व देशोंमें परिणमन होता ही है, क्योंकि उन सब प्रदेशोंकी एक ही सत्ता है। भावार्थ—शंकाकारने यह अन्वय वाक्य कहा है।

उत्तर—

न यतः सव्यभिचारः पक्षोनैकान्तिकत्वदोषत्वात्।
परिणमति समयदेशे तद्देशाः परिणमन्ति चेति यथा ॥ ४६७ ॥

अर्थ—ऊपर जो अन्वय बतलाया गया है वह ठीक नहीं है क्योंकि वैसा अन्वय पक्ष अनैकान्तिक दोष आनेसे व्यभिचारी (दोषी) है। वह दोष इसप्रकार आता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि अनेक सत्तावाले–मिले हुए पदार्थोंमें किसी सांकेतिक देशमें परिणमन होनेपर सभी देशोंमें सभी पदार्थोंमें परिणमन होता हैं। भावार्थ—शंकाकारने एक देशके परिणमन होनेमें एक सत्ता हेतु बतलाया था, परन्तु उसमें दोष आता है। क्योंकि अनेक सत्तावाले पदार्थोंमें होनेवाला सदृश परिणमन भी एक परिणमनके नामसे कहा जाता है। सूक्ष्मदृष्टिसे विचार किया जाय तो प्रत्येक पदार्थका परिणमन जुदा २ होता है, परन्तु स्थूलतासे समान परिणमनको एक ही परिणमन कह दिया जाता है। एक कहनेका कारण भी अनेक पदार्थोंका घनिष्ट सम्बन्ध है। जैसे बांसमें जो परिणमन होता है उसमें प्रत्येक परमाणुका परिणमन जुदा २ है। परन्तु समुदायकी अपेक्षासे सम्पूर्ण बांसके परिणमनको एक ही परिणमन कहा जाता है। शंकाकार वस्तुके एक देशके परिणमनसे उसके सर्व देशमें परिणमन मानता है परन्तु ऐसा पक्ष युक्ति संगत नहीं है, इसीलिये आचार्यने दिखा दिया है।

शंकाकार—

व्यतिरेके वाक्यमिदं यद्परिणमति नैकदेशे हि।
क्वचिदपि न परिणमन्ति हि सर्वदेशाः ततः सदेकत्वात् ।४६८।

अर्थ—व्यतिरेक पक्षमें यह वाक्य है–किसी वस्तुके एक देशका परिणमन न होनेपर उसके सर्व देशोंमें भी परिणमन नहीं होता है। क्योंकि उन सब देशोंकी एक ही सत्ता है। भावार्थ—शंकाकारने ऊपर अन्वय वाक्य कहा था उसमें ग्रन्थकारने अनैकान्तिक दोष दिखला दिया था, अब इस श्लोक द्वारा उसने व्यतिरेक वाक्य कहा है।

उत्तर—

तन्न यतः सति सति वै व्यतिरेकाभाव एव भवति यथा।
तद्देशसमयभावैरखण्डितत्वात्ततः स्वतः सिद्धात् ॥ ४६९ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि शंकाकारने जो व्यतिरेक वाक्य कहा है वह बनता ही नहीं है, क्योंकि पदार्थ सदात्मक है अर्थात् उसका सत् लक्षण है और जिसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता रहे उसे सत् कहते हैं। जब पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक–सत्‌रूप है तब उसमें व्यतिरेक सर्वथा ही नहीं बनता। क्योंकि उस देशमें प्रतिक्षण अखण्ड रीतिसे परिणमन होता रहता है, और वह पदार्थका स्वतः सिद्ध परिणमन है। भावार्थ ऐसा कोई समय नहीं जिस समय पदार्थमें परिणमन न होता हो, यदि ऐसा समय कभी माना जाय तो उस समय उस पदार्थका ही अभाव सिद्ध होगा। क्योंकि उस समय उसमें सत्ता लक्षण ही नहीं घटित होगा। इसलिये शंकाकारका यह कहना कि "जहांपर एक देशमें परिणमन नहीं होता है वहांपर सर्व देशमें भी नहीं होता" सर्वथा निर्मूल है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बांसका दृष्टान्त देकर एक देशके परिणमनसे सर्व देशोंके परिणमन द्वारा शंकाकारने जो अखण्ड प्रदेशिता वस्तुमें सिद्ध की थी वह इस अन्वय व्यतिरेकके न बननेसे सिद्ध न हो सकी, इसलिये एक सत्ता ही एक वस्तुकी अखण्ड प्रदेशिता की नियामक है।

एवं यकेपि दूरादपनेतव्या हि लक्षणाभासाः।
यदकिञ्चित्कारित्वादत्रानधिकारिणोऽनुक्ताः॥ ४७०॥

अर्थ—इसीप्रकार और भी जो लक्षणाभास हैं उन्हें भी दूरसे ही छोड़ देना चाहिये। क्योंकि उनसे किसी कार्यकी सिद्धि नहीं हो पाती, ऐसे अकिञ्चित्कर लक्षणभासोंका यहांपर हम उल्लेख भी नहीं करते हैं। उनका प्रयोग करना अधिकारसे बाहर है।

काल-विचार—

कालः समयो यदि वा तद्देशे वर्त्तनाकृतिश्चार्थात्।
तेनाप्यखण्डितत्वाद्भवति सदेकं तदेकनययोगात्॥ ४७१॥

अर्थ—काल, समय अथवा उस देश (वस्तु) में वर्त्तनारूप आकारका होना ये तीनों ही बातें एक हैं। उस कालसे भी वस्तु अखण्डित है। वस्तुमें यह अखण्डता द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे लाई जाती है। भावार्थ—यहां पर कालसे तात्पर्य काल द्रव्यका नहीं है किन्तु द्रव्य मात्रसे है, अथवा प्रत्येक वस्तुके कालसे है। जो काल द्रव्य है वह तो हर एक वस्तुके परिणमनमें उदासीन कारण है परन्तु हर एक द्रव्यके परिणमनमें उपादान कारण स्वयं वह द्रव्य ही है। उसी परिणमनशील द्रव्यका यहां स्व-कालकी अपेक्षासे विचार किया जाता है। प्रत्येक वस्तुक प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है। ऐसे अनादिकालसे अनन्त काल तक होनेवाले परिणमनोंके समुदायका नाम ही द्रव्य है। वस्तुकी एक समयकी अवस्था उस वस्तुसे अभिन्न है। वह प्रत्येक समयमें होनेवाली अवस्था ही उस वस्तुका काल है। उस कालकी अपेक्षासे भी वस्तु अखण्ड और एक है।

इसीका स्पष्ट कथन—

अयमर्थः सन्मालामिह संस्थाप्य प्रवाहरूपेण।
क्रमतो व्यस्तसमस्तैरितस्ततो वा विचारयन्तु बुधाः॥४७२॥
तत्रैकावसरस्थं यद्यावद्दृगस्ति सत्सर्वम्।
सर्वावसरसमुदितं तत्तावत्तादृगस्ति सत्सर्वम्॥ ४७३॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका स्पष्ट अर्थ यह है कि एक पदार्थ अनादिकालसे अनन्तकाल तक (सदा) नवीन २ पर्यायोंको धारण करता रहता है। इसलिये पदार्थ उन समस्त अवस्थाओंका समूह ही है। उस पर्याय समूहरूप पदार्थमाला पर बुद्धिमान पुरुष विचार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करें तो वे यह बात समझ लेंगे कि प्रवाहरूपसे होनेवाली क्रमसे भिन्न भिन्न अथवा समस्त पर्यायें पदार्थरूप ही हैं अथवा पदार्थ ही प्रवाहसे होनेवाली उन पर्यायोंस्वरूप है किसी रूपसे भी पदार्थके ऊपर विचार किया जाय तो यही बात सिद्ध होती है कि पदार्थ जैसा एक समयमें होनेवाली अवस्थारूप है वैसा सम्पूर्ण समयोंमें होनेवाली अवस्थाओंस्वरूप भी वही है, अथवा वह जितना एक समयमें होनेवाली अवस्थारूप है, उतना ही वह सम्पूर्ण समयोंमें होनेवाली अवस्थाओंरूप है।

*** न पुनः कालसमृद्धौ यथा शरीरादिवृद्धिरिति वृद्धौ ।**
अपि तद्धानौ हानिर्न तथा वृद्धिर्न हानिरेव सतः ॥ ४७४ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि जिसप्रकार कालकी वृद्धि होनेपर शरीरादिकी वृद्धि होती है और कालकी हानि होनेपर शरीरादिकी हानि होती है, उस प्रकार सत्की भी हानि वृद्धि होती हो। शरीरादिकी हानि वृद्धिके समान न तो पदार्थकी वृद्धि ही होती है और न हानि ही होती है। **भावार्थ** जिस प्रकार थोड़े कालका बालक लघु शरीरवाला होता है परन्तु अधिक कालका होनेपर वही बालक हृष्ट पुष्ट—लम्बे चौड़े शरीरवाला युवा—पुरुष होता है। वृक्ष वनस्पतियोंमें भी यही बात देखी जाती है, कालानुसार वे भी अंकूरावस्थासे बढ़कर लम्बे वृक्ष और लताओंरूप हो जाती हैं, उसप्रकार एक पदार्थकी हानि वृद्धि नहीं होती है। उसके विषयमें शरीरादिका दृष्टान्त विषम है। शरीरादि पुद्गल द्रव्यकी स्थूल पर्याय है और वह अनेक द्रव्योंका समूह है। अनेक परमाणुओंके मेलसे बना हुआ स्कन्ध ही जीव शरीर है। उन परमाणुओंकी न्यूनतामें वह न्यून और उनकी अधिकतामें वह अधिक होजाता है, परन्तु एक द्रव्यमें ऐसी न्यूनता, अधिकता नहीं होसक्ती है। वह जितना है उतना ही रहता है। पुद्गल द्रव्यमें एक परमाणु भी जितना है वह सदा उतना ही बना रहेगा, उसमें न्यूनाधिता कभी कुछ नहीं होगी। उसमें परिणमन किसी प्रकारका भी होता रहो। *

शंकाकार—

× ननु भवति पूर्वपूर्वभावध्वंसान्नु हानिरेव सतः ।
स्यादपि तदुत्तरोत्तरभावोत्पादेन वृद्धिरेव सतः ॥ ४७५ ॥

---

* 'न पुनः, के स्थानमें 'च पुनः, पाठ संशोधित पुस्तकमें है। वही ठीक प्रतीत होता है। अन्यथा तीन नकारोंमें एक व्यर्थ ही प्रतीत होता है।

* जैसे क्षेत्रकी अपेक्षासे वस्तुमें विभक्तक्रमसे विचार होता है वैसे कालकी अपक्षासे उसमें विचार नहीं होता है। क्षेत्रकी अपक्षासे तो उसके प्रदेशोंका विचार होता है। वस्तुका एक प्रदेश उसके सर्व देशमें नहीं रहता है परन्तु कालकी अपेक्षासे एक गुणांश उसे वस्तुके सर्व देशमें रहता है प्रत्येक समयमें एक गुणकी जो अवस्था होती है उस ही गुणांश कहते हैं।

× मूल पुस्तकमें हानिके स्थानमें वृद्धि और वृद्धिके स्थानमें हानि पाठ है वह ठीक नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—जब पदार्थमें पहले २ भावोंका नाश होता जाता है तो अवश्य ही पदार्थकी हानि (न्यूनता) होती है, और जब उत्तरोत्तर—नवीन भावोंका उसमें उत्पाद होता रहता है तो अवश्य ही उसकी वृद्धि होती है ?

उत्तर—

नैवं सतो विनाशादसतः सर्गादसिद्धसिद्धान्तात् ।
सदनन्यथाथ वा चेत्सदनित्यं कालतः कथं तस्य ॥ ४७६ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है, यदि पदार्थकी हानि और वृद्धि होने लगे तो सत्पदार्थका विनाश और असत्का उत्पाद भी स्वयं सिद्ध होगा और ऐसा सिद्धान्त सर्वथा असिद्ध है अथवा यदि पदार्थको सर्वथा एकरूपमें ही मान लिया जाय, उसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य न माना जाय तो ऐसा माननेवालेके यहां कालकी अपेक्षासे सत् अनित्य किस प्रकार सिद्ध होगा ? अर्थात् विना परिणमन स्वीकार किये पदार्थमें अनित्यता भी कालकी अपेक्षासे नहीं भासक्ती है ।

नासिद्धमनित्यत्वं सतस्ततः कालतोप्यनित्यस्य ।
परिणामित्वान्नियतं सिद्धं तज्जलधरादिदृष्टान्तात् ॥ ४७७ ॥

अर्थ—पदार्थ कथञ्चित् अनित्य है यह बात असिद्ध भी नहीं है। कालकी अपेक्षासे वह सदा परिणमन करता ही रहता है, इसलिये उसमें कथंचित् अनित्यता स्वयं सिद्ध है। इस विषयमें मेघ—विजली आदि अनेक दृष्टान्त प्रत्यक्ष सिद्ध हैं ।

सारांश—

तस्मादनवद्यमिदं परिणममानं पुनः पुनः सदपि ।
स्यादेकं कालादपि निजप्रमाणादखण्डितत्वाद्वा ॥ ४७८ ॥

अर्थ—ऊपरके कथनसे यह बात निर्दोष रीतिसे सिद्ध होती है कि सत् बार बार परिणमन करता हुआ भी कालकी अपेक्षासे वह एक है, क्योंकि उसका जितना प्रमाण (परिमाण) है, उससे वह सदा अखण्ड रहता है। भावार्थ-पुनः पुनः परिणमनकी अपेक्षा तो सत्में अनेकत्व आता है, तथा उसमें अखण्ड निजरूपकी अपेक्षा एकत्व आता है। इसलिये कालकी अपेक्षासे सत् कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य अथवा कथंचित् एक और कथंचित् अनेक सिद्ध हो चुका ।

भाव-विचार—

भावः परिणाममयः शक्तिविशेषोऽथवा स्वभावः स्यात् ।
प्रकृतिः स्वरूपमात्रं लक्षणमिह गुणश्च धर्मश्च ॥ ४७९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—भाव, परिणाम, शक्ति, विशेष, स्वभाव, प्रकृति, स्वरूप, लक्षण, गुण, धर्म ये सब भावके ही पर्यायवाचक हैं ।

तेनाखण्डतया स्यादेकं सच्चैकदेशनययोगात् ।
तल्लक्षणमिदमधुना विधीयते सावधानतया ॥ ४८० ॥

अर्थ—उस भावसे सत् अखण्ड है । इसलिये एक देश नयसे (गुणोंकी अखण्डताके कारण) वह कथंचित् एक है । भावकी अपेक्षासे सत् एक है । इस विषयका लक्षण (स्वरूप) सावधानीसे इस समय कहा जाता है—

सर्वं सदिति यथा स्यादिह संस्थाप्य गुणपंक्तिरूपेण ।
पश्यन्तु भावमादिह निःशेषं सन्नशेषमिह किञ्चित् ॥ ४८१ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण सत्को गुणोंकी पंक्तिरूपसे यदि स्थापित किया जाय तो उस सम्पूर्ण सत्को आप भावरूप ही देखेंगे, भावों (गुणों) को छोड़कर सत्में और कुछ भी आपकी दृष्टिमें न आवेगा । भावार्थ—सत् गुणका समुदाय रूप है, इसलिये उसे यदि गुणोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो वह गुण–भावरूप ही प्रतीत होगा । उस समय गुणोंके सिवा उसका भिन्न रूप कुछ नहीं प्रतीत होगा । जैसे स्कन्ध, शाखा, डाली, गुच्छा, पत्ते, फल, फूल आदि वृक्षके अवयवोंको अवयव रूपसे देखा जाय तो फिर समग्र वृक्ष अवयव स्वरूप ही प्रतीत होता है । अवयवोंसे भिन्न वृक्ष कोई वस्तु नहीं ठहरता है । क्योंकि अवयवसमुदाय ही तो वृक्ष है । वैसे ही एक द्रव्यके-द्रव्यत्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशवत्व, अगुरुलघुत्व, अस्तित्व, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, रूप, रस, अमूर्तित्व आदि गुणोंको गुण रूपसे देखा जाय तो फिर उनसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ शेष नहीं रह जाता है । क्योंकि गुणसमुदाय ही तो द्रव्य है इसलिये भावकी विवक्षामें पदार्थ भावमय ही है ।

एकं तत्रान्यतरं भावं समपेक्ष्य यावदिह सदिति ।
सर्वानपि भावानिह व्यस्तसमस्तानपेक्ष्य तत्तावत् ॥४८२ ॥

अर्थ—उन सम्पूर्ण भावों (गुणों) में से जब किसी एक भावकी विवक्षा की जाती है तो संपूर्ण सत् उसीरूप (तन्मय) प्रतीत होता है । इसी प्रकार भिन्न २ भावोंकी अथवा समस्त भावोंकी विवक्षा करनेसे सत् भी उतना ही प्रतीत होता है ।

न पुनर्द्व्यणुकादिरिति स्कन्धः पुद्गलमयोऽस्त्यणूनां हि ।
लघुरपि भवति लघुत्वे सति च महत्वे महानिहास्ति यथा ।४८३।

अर्थ—जिस प्रकार पुद्गलमय द्व्यणुकादि स्कन्ध परमाणुओंके कम होनेसे छोटा और उनके अधिक होनेपर बड़ा हो जाता है, उस प्रकार सत्में छोटापन और बड़ापन नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। अर्थात् उसमें न तो कोई गुण कहीं चला जाता है और न कोई कहींसे आजाता है। वह जितना है सदा उतना ही रहता है।

स्पष्ट विवेचन—

अयमर्थो वस्तु यदा लक्ष्येण विवक्षितैकभावेन।
तन्मात्रं सदिति स्यात्तन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ॥४८४॥
यदि पुनरन्यतरेण हि भावेन विवक्षितं सदेव स्यात्।
तन्मात्रं सदिति स्यात्तन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ॥४८५॥

अर्थ—जिस समय जिस विवक्षित भावसे वस्तु कही जाती है, उस समय वह उसी भावमय प्रतीत होती है, और वह विवक्षित भाव भी सत्स्वरूप प्रतीत होता है, यदि किसी दूसरे भावसे वस्तु विवक्षित की जाती है तो वह उसी भावमय प्रतीत होती है और वह विवक्षित भाव भी उसी रूप (सत्स्वरूप) प्रतीत होता है। भावार्थ—जिस समय जिस भावकी विवक्षा की जाती है, उस समय सम्पूर्ण वस्तु उसी भावरूप प्रतीत होती है बाकीके सब गुण उसीके अंतर्लीन हो जाते हैं। इसका कारण भी उनका तादात्म्य भाव है।

दृष्टान्त—

अत्रापि च संदृष्टिः कनकः पीतादिमानिहास्ति यथा।
पीतेन पीतमात्रो भवति गुरुत्वादिना च तन्मात्रः ॥४८६॥
न च किञ्चित्पीतत्वं किञ्चित्स्निग्धत्वमस्ति गुरुता च।
तेषामिह समवायादस्ति सुवर्णस्त्रिसत्त्वसत्ताकः ॥४८७॥
इदमत्र तु तात्पर्यं यत्पीतत्वं गुणः सुवर्णस्य।
अन्तर्लीनगुरुत्वादि लक्ष्यते तद्गुरुत्वेन ॥४८८॥

अर्थ—वस्तु जिस भावसे विवक्षित की जाती है उसी भावमय प्रतीत होती है, इस विषयमें सुवर्ण (सोना)का दृष्टान्त भी है। सुवर्णमें पीलापन भारीपन, चमकीलापन आदि अनेक गुण हैं। जिस समय वह पीत गुणसे विवक्षित किया जाता है उस समय वह पीत मात्र ही प्रतीत होता है। तथा जिस समय वह सुवर्ण गुरुत्व गुणसे विवक्षित किया जाता है उस समय वह गुरु रूप ही प्रतीत होता है। ऐसा नहीं है कि उस सोनेमें कुछ तो पीतिमा हो, कुछ स्निग्धता हो, और कुछ गुरुता हो, और उन सबके समवायसे तीन सत्ताओंवाला एक सोना कहलाता हो। *

* न्यायदर्शन, गुण गुणीका सर्वथा भेद मानता है। सोनेमें जो पीलापन, भारीपन आदि गुण हैं उन्हें वह सोनेसे सर्वथा जुदा ही मानता है, और प्रत्येक गुणकी भिन्न २ सत्ता भी मानता है, परन्तु वैसा उसका मानना सर्वथा बाधित है। जब प्रत्येक गुणकी भिन्न भिन्न सत्ता है तो गुण द्रव्य कहलाना चाहिये। क्योंकि द्रव्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहां पर इतना ही तात्पर्य है कि जो सोनेका पीत गुण है उसके गुरुत्व आदिक गुण अन्तर्भूत हैं इसलिये सोना केवल गुरुत्वगुणके द्वारा भी कहा जाता है। भावार्थ–सोनेके पीतत्व, गुरुत्व, स्निग्धत्व, आदि सभी गुणोंमें तादात्म्य है। वे सब अभिन्न हैं, इसलिये विवक्षित गुण प्रधान हो जाता है बाकीके सब उसीके अन्तर्लीन हो जाते हैं। सोना उस समय विवक्षित गुणरूप ही सब ओरसे प्रतीत होता है।

ज्ञानत्वं जीवगुणस्तदिह विवक्षावशात्सुखत्वं स्यात्।
अन्तर्लीनत्वादिह तदेकसत्त्वं तदात्मकत्वाच्च ॥ ४८९ ॥

अर्थ—जीवका जो ज्ञान गुण है, वही विवक्षावश सुखरूप हो जाता है, क्योंकि सुख गुण ज्ञान गुणके अन्तर्लीन (भीतर छिपा हुआ) रहता है। इसलिये विवक्षा करने पर ज्ञान सुखरूप ही प्रतीत होने लगता है। जिस समय जीवको सुख गुणसे विवक्षित किया जाता है, उस समय वह सुखस्वरूप ही प्रतीत होता है। उस समय जीवके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य आदि सभी गुणोंकी सुख स्वरूप ही एक सत्ता प्रतीत होती है।

शंकाकार—

ननु निर्गुणा गुणा इति सूत्रे सूक्तं प्रमाणतो वृद्धैः।
तत्किं ज्ञानं गुण इति विवक्षितं स्यात्सुखत्वेन ॥ ४९० ॥

अर्थ—सूत्रकार–पूर्वमहर्षियोंने गुणोंका लक्षण बतलाते हुए उन्हें निर्गुण बतलाया है, ऐसा सूत्रभी है–'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' और यह बात सप्रमाण सिद्ध की गई है, फिर किस प्रकार जीवका ज्ञान गुण सुख रूपसे विवक्षित किया जा सक्ता है?

भावार्थ—जब एक गुणमें दूसरा गुण रहता ही नहीं है ऐसा सिद्धान्त है तब ज्ञानमें सुखकी अंतर्लीनता अथवा सुखमें ज्ञानकी अन्तर्लीनता यहां पर क्यों बतलाई गई है।

उत्तर—

सत्यं लक्षणभेदाद्गुणभेदो निर्विलक्षणः स स्यात्।
तेषां तदेकसत्त्वादखण्डितत्वं प्रमाणतोऽध्यक्षात् ॥ ४९१ ॥

अर्थ—ठीक है, परन्तु बात यह है कि गुणोंमें जो भेद है वह उनके लक्षणोंके भेदसे है। वह ऐसा भेद नहीं है कि गुणोंको सर्वथा जुदा २ सिद्ध करनेवाला हो। उन

जैसे भिन्न सत्तावाला स्वतन्त्र है वैसे गुण भी भिन्न सत्तावाला स्वतन्त्र होना चाहिये। जब दोनों ही स्वतन्त्र हैं तो एक गुण दूसरा गुणी यह व्यवहार कैसे होसक्ता है? दूसरी बात यह भी है कि जब गुण द्रव्यसे सर्वथा जुदे हैं तो वे जिस प्रकार समवाय सम्बन्धसे एक द्रव्यके साथ रहते हैं उस प्रकार किसी अन्य द्रव्यके साथ भी रह सक्ते हैं, फिर अमुक द्रव्यका ही अमुक गुण है अथवा अमुक गुण अमुक द्रव्यमें ही रहता है, इस प्रतीतिका सर्वथा लोप होजायगा। इन दूषणोंके सिवा और भी अनेक दूषण गुण गुणीको सर्वथा भेद माननेमें आते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पूर्ण गुणोंकी एक ही सत्ता है इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाणसे उनमें अखण्डता–अभेद सिद्ध है। **भावार्थ**—जो पूर्वमहर्षियोंने 'द्रव्याश्रयानिर्गुणा गुणाः' इस सूत्र द्वारा बतलाया है, उसका और इस कथनका एक ही आशय है। शंकाकारको जो उन दोनोंमें विरुद्धता प्रतीत होती है उसका कारण उसकी असमझ है। उसने अपेक्षाको नहीं समझा है। अपेक्षाके समझनेपर जिन बातोंमें विरोध प्रतीत होता है उन्हींमें अविरोध प्रतीत होने लगता है। सूत्रकारोंने गुणोंमें लक्षण भेदसे भेद बतलाया है। लक्षणकी अपेक्षासे सभी गुण परस्पर भेद रखते हैं। जो ज्ञान है वह दर्शन नहीं है, जो दर्शन है वह चारित्र नहीं है, जो चारित्र है वह वीर्य नहीं है, जो वीर्य है वह सुख नहीं है, क्योंकि सभी गुणोंके भिन्न २ कार्य प्रतीत होते हैं। इसलिये लक्षण भेदसे सभी गुण भिन्न हैं। एक गुण दूसरे गुणमें नहीं रह सक्ता है। ज्ञानका लक्षण वस्तुको जानना है। सुखका लक्षण आनन्द है। जानना आनन्द नहीं हो सक्ता है। आनन्द बात दूसरी है, जानना बात दूसरी है। ऐसा भेद देखा भी जाता है कि जिस समय कोई विद्वान् किसी ग्रन्थको समझने लगता है तो उसे उसके समझनेपर आनन्द आता है * इससे यह बात सिद्ध होती है कि ज्ञान दूसरा है, सुख दूसरा है। इसी प्रकार चारित्र, वीर्य आदि सभी गुणोंके भिन्न २ कार्य होनेसे सभी भिन्न हैं। इसलिये निर्गुणा गुणाः, इस सूत्रका आशय गुणोंमें सुघटित ही है। साथ ही दूसरी दृष्टिसे विचारने पर वे सभी गुण एक रूप ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि सब गुणोंकी एक ही सत्ता है। जिनकी एक सत्ता है वे किसी प्रकार भिन्न नहीं कहे जासक्ते हैं। यदि सत्ताके अभेदमें भी भेद माना जाय तो किसी वस्तुमें अभिन्नता और स्वतन्त्रता आही नहीं सक्ती है। ज्ञान दर्शन सुख आदि अभिन्न हैं, ऐसी प्रतीति भी होती है, जिस समय जीवको ज्ञानी कहा जाता है उस समय विचार कहने पर सम्पूर्ण जीव ज्ञानमय ही प्रतीत होता है। दृष्टा कहने पर वह दर्शनमय ही प्रतीत होता है। सुखी कहने पर वह सुखमय ही प्रतीत होता है। ऐसा नहीं है कि ज्ञानी कहने पर जीवमें कुछ अंश तो ज्ञानमय प्रतीत होता हो, कुछ दर्शनमय होता हो और कुछ अंश सुखमय प्रतीत होता हो। किन्तु सर्वांश ज्ञानमय ही प्रतीत होता है। सुखी कहने पर सर्वांशरूपसे जीव सुखमय ही प्रतीत होता है, यदि ऐसा न माना जाय तो ज्ञानी कहनेसे सम्पूर्ण जीवका बोध नहीं होना चाहिये अथवा दृष्टा और सुखी कहनेसे भी सम्पूर्ण जीवका

* किसी ग्रन्थके समझने पर जो आनन्द आता है वह सच्चा सुख नहीं कहा जा सक्ता। क्योंकि उसमें रागभाव है। उसे सुख गुणकी वैभाविक परिणति कहनेमें कोई हानि नहीं दीखती। यह ज्ञान सुखका भेद साधक बहुत स्थूल दृष्टान्त है ठीक दृष्टान्त सम्यग्दृष्टिके स्वानुभव और सुखका है। जिस समय आत्मा निजका अनुभव करता है उस समय उसे अलौकिक आनन्द आता है। वही आनन्द सच्चा सुख है। परन्तु वह अनुभव–ज्ञानसे जुदा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोध नहीं होना चाहिये। किंतु उसके एक अंशका ही बोध होना चाहिये। परन्तु ऐसा बोध नहीं होता है। इसलिये किसी वस्तु पर विचार करनेसे वह वस्तु अभिन्न गुणमय एक रसमय ही प्रतीत होती है। ऐसी प्रतीतिसे गुणोंमें अखण्डता अभिन्नताभी सुघटित ही है। गुणोंकी अभिन्नतामें विवक्षित गुणके अन्तर्गत इतर सब गुणोंका होना भी स्वयं सिद्ध है।

सारांश—

तस्मादनवद्यमिदं भावेनाखण्डितं सदेकं स्यात्।
तदपि विवक्षावशतः स्यादिति सर्वं न सर्वथेति नयात् ॥४९२॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे यह बात निर्दोष रीतिसे सिद्ध हो चुकी कि भावकी अपेक्षासे सत् अखण्डित एक है। इतना विशेष समझना चाहिये कि वह सत्की एकता विवक्षाके आधीन है। सर्वथा एकता उसमें असिद्ध ही है, क्योंकि वस्तुमें एकता और अनेकता किसी नय विशेषसे सिद्ध होती है।

एवं भवति सदेकं भवति न तदपि च निरंकुशं किन्तु।
सदनेकं स्यादिति किल सप्रतिपक्षं यथा प्रमाणाद्वा ॥ ४९३ ॥

अर्थ—सत् एक है परन्तु वह सर्वथा एक नहीं है। उसका प्रतिपक्ष भी प्रमाण सिद्ध है इसलिये वह निश्चयसे अनेक भी है।

अपि च स्यात्सदनेकं तद्द्रव्यैरखण्डितत्वेपि।
व्यतिरेकेण विना यन्नान्वयपक्षः स्वपक्षरक्षार्थम् ॥ ४९४ ॥

अर्थ—यद्यपि सत् द्रव्य गुण, पर्यायोंसे अखण्ड है तथापि वह अनेक है क्योंकि बिना व्यतिरेकपक्ष स्वीकार किये अन्वयपक्ष भी अपनी रक्षा नहीं कर सक्ता है। **भावार्थः**—विना कथंचित् भेदपक्ष स्वीकार किये अभेदपक्ष भी नहीं सिद्ध होता। उभयात्मक ही वस्तुस्वरूप है। अब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों हीसे वस्तुमें भेद सिद्ध किया जाता है।

द्रव्य विचार—

अस्ति गुणस्तल्लक्षणयोगादिह पर्ययस्तथा च स्यात्।
तदनेकत्वे नियमात्सदनेकं द्रव्यतः कथं न स्यात् ॥ ४९५ ॥

अर्थ—गुणोंका लक्षण भिन्न है, पर्यायका लक्षण * भिन्न है। गुण पर्यायोंकी अनेकतामें द्रव्यकी अपेक्षासे सत् अनेक क्यों नहीं है? अर्थात् भेद विवक्षासे सत् कथंचित् अनेक भी है।

* 'अन्वयिनो गुणाः व्यतिरेकिणः पर्यायाः' अर्थात् गुण सहभावी हुआ करते हैं। पर्यायें क्रमभावी हुआ करती हैं। दोनोंमें यही लक्षण भेद है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्र विचार—

यत्सत्तदेकदेशे तदेशे न तद्द्वितीयेषु ।
अपि तद्द्वितीयदेशे सदनेकं क्षेत्रतश्च को नेच्छेत् ॥ ४९६ ॥

अर्थ—जो सत् एक देशमें है वह उसी देशमें है। वह दूसरे देशोंमें नहीं है। और जो दूसरे देशमें है वह उसीमें है, वह अन्यमें नहीं है। इसलिये क्षेत्रकी अपेक्षासे सत् अनेक है, इस बातको कौन नहीं चाहेगा ?

काल विचार—

यत्सत्तदेककाले तत्तत्काले न तदितरत्र पुनः ।
अपि सत्तदितरकाले सदनेकं कालतोपि तदवश्यम् ॥ ४९७ ॥

अर्थ—जो सत् एक कालमें है, वह उसी कालमें है, वह दूसरे कालमें नही है, और जो सत् दूसरे कालमें है वह पहलेमें अथवा तीसरे आदि कालोंमें नहीं है इसलिये कालकी अपेक्षासेभी सत् अनेक अवश्य है।

भाव विचार—

तन्मात्रत्वादेको भावो यः स न तदन्यभावः स्यात् ।
भवति च तदन्यभावः सदनेकं भावतो भवेन्नियतम् ॥४९८॥

अर्थ—जो एक भाव है वह अपने स्वरूपसे उसी प्रकार है, वह अन्यभावरूप नहीं हो सक्ता है, और जो अन्यभाव है वह अन्यरूप ही है वह दूसरे भाव रूप नहीं हो सक्ता है, इसलिये भावकी अपेक्षासे भी नियमसे सत् अनेक है।

शेषो विधिरुक्तत्वादत्र न निर्दिष्ट एव दृष्टान्तः ।
अपि गौरवप्रसङ्गाद्यदि वा पुनरुक्तदोषभयात् ॥ ४९९ ॥

अर्थ—बाकीकी विधि (सत् नित्य अनित्य भिन्न आदिरूप) पहले ही कही जाचुकी है, इसलिये वह नहीं कही जाती है। गौरवके प्रसंगसे अथवा पुनरुक्त दोषके भयसे उस विषयमें दृष्टान्त भी नहीं कहा जाता है

सारांश—

तस्माद्यदिह सदेकं सदनेकं स्यात्तदेव युक्तिवशात् ।
अन्यतरस्य विलोपे शेषविलोपस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ५०० ॥

अर्थ—इसलिये जो सत् एक है वही युक्तिवशसे अनेक भी सिद्ध होता है। यदि एक और अनेक इन दोनोंमेंसे किसी एकका लोप कर दिया जाय तो दूसरेका लोप भी दुर्निवार—अवश्यम्भावी है, अर्थात् एक दूसरेकी अपेक्षा रखता है। दोनोंकी सिद्धिमें दोनोंकी सापेक्षता ही कारण है। एक की असिद्धिमें दूसरेकी असिद्धि स्वयं सिद्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वथा एक माननेमें दोष—

अपि सर्वथा सदेकं स्यादिति पक्षो न साधनायालम् ।
इह तदवयवाभावे नियमात्सदवयविनोप्यभावत्वात् ॥५०१॥

अर्थ—सत् सर्वथा एक है, यह पक्ष भी वस्तुकी सिद्धि करानेमें समर्थ नहीं है। वस्तुके अवयवोंके अभावमें वस्तुरूप अवयवी भी नियमसे सिद्ध नहीं होता है।

सर्वथा अनेक माननेमें दोष—

अपि सदनेकं स्यादिति पक्षः कुशलो न सर्वथेति यतः ।
एकमनेकं स्यादिति नानेकं स्यादनेकमेकैकात् ॥ ५०२ ॥

अर्थ—सत् सर्वथा अनेक है यह पक्ष भी सर्वथा ठीक नहीं है। क्योंकि एक एक मिलकर ही अनेक कहलाता है। अनेक ही अनेक नहीं कहलाता। किन्तु एक एक संख्याके जोड़से ही अनेक सिद्ध होता है। भावार्थ—ऊपरके श्लोकोंद्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत्में अनेकत्व सिद्ध किया गया है। उनसे पहलेके श्लोकोंद्वारा सत्में एकत्व—अखण्डता सिद्ध की गई है। अखण्डताके विषयमें ऊपर स्पष्ट विवेचन किया जा चुका है। यहां पर संक्षेपसे भेदपक्ष—अनेकत्व दिखला देना अयुक्त न होगा। वस्तुमें लक्षण भेदसे द्रव्य जुदा, गुण जुदा पर्याय जुदी प्रतीत होती है। इसलिये द्रव्यकी अपेक्षासे वस्तु अनेक है। वस्तु जितने प्रदेशोंमें विष्कंभ क्रमसे विस्तृत है उन प्रदेशोंमें जो प्रदेश जिस क्षेत्रमें हैं वह वहीं है और दूसरे, दूसरे क्षेत्रोंमें जहांके तहां हैं, वस्तुका एक प्रदेश दूसरे प्रदेशपर नहीं जाता है, यदि एक प्रदेश दूसरे प्रदेश पर चला जाय तो वस्तु एक प्रदेश मात्र ठहरेगी। इसलिये प्रदेश भेदसे वस्तु क्षेत्रकी अपेक्षासे अनेक है। तथा जो वस्तुकी एक समयकी अवस्था है वह दूसरे समयकी नहीं कही जा सक्ती, जो दूसरे समयकी अवस्था है वह उसी समयकी कहलायगी वह उससे भिन्न समयकी नहीं कही जायगी। इसलिये वस्तु कालकी अपेक्षासे अनेक है और जो वस्तुका एक गुण है वह दूसरा नहीं कहा जा सक्ता, जो पुद्गल (जड़) का रूप गुण है वह गन्ध अथवा रस नहीं कहा जा सक्ता। जितने गुण हैं सभी लक्षण भेदसे भिन्न हैं। इसलिये भावकी अपेक्षासे वस्तु अनेक है। इसप्रकार अपेक्षा भेदसे वस्तु कथञ्चित् एक और कथञ्चित् अनेक है। जो विद्वान् एक अनेक, भेद—अभेद, नित्य—अनित्य आदि धर्मोंको परस्पर विरोधी बतलाते हुए उनमें संशय विरोध, वैयधिकरण, संकर, व्यतिकर आदि दोष सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, उनकी ऐसी असंभव चेष्टा सूर्यमें अन्धकार सिद्ध करनेके समान प्रत्यक्ष बाधित है, उन्हें वस्तुस्वरूप पर दृष्टि डालकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेकी चेष्टा करना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाण नयके स्वरूप कहनेकी प्रतिज्ञा—

उक्तं सदिति यथा स्यादेकमनेकं सुसिद्धदृष्टान्तात् ।
अधुना तद्वाङ्मात्रं प्रमाणनयलक्षणं वक्ष्ये ॥ ५०३ ॥

अर्थ—सत्–पदार्थ कथंचित् एक है, कथंचित् वह अनेक है, यह बात सुप्रसिद्ध दृष्टान्तों द्वारा सिद्ध की जा चुकी है। अब वचनमात्र प्रमाण नयका लक्षण कहा जाता है।

नयोंका स्वरूप—

इत्युक्तलक्षणेऽस्मिन् विरुद्धधर्मद्वयात्मके तत्त्वे ।
तत्राप्यन्यतरस्य स्यादिह धर्मस्य वाचकश्च नयः ॥ ५०४ ॥

अर्थ—पदार्थ विरुद्ध दो धर्म स्वरूप है, ऐसा उसका लक्षण ऊपर कहा जा चुका है। उन दोनों विरोधी धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मका कहनेवाला नय कहलाता है। **भावार्थ**–पदार्थ उभय धर्मात्मक है, और उस उभय धर्मात्मक पदार्थको विषय करनेवाला तथा कहनेवाला प्रमाण है। उन धर्मोंमेंसे एक धर्मको कहनेवाला नय है अर्थात् विवक्षित अंशका प्रतिपादक नय है।

नयोंके भेद—

द्रव्यनयो भावनयः स्यादिति भेदाद्द्विधा च सोपि यथा ।
पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्यं भावश्च चिदिति जीवगुणः ।५०५

अर्थ—वह नय भी द्रव्यनय और भावनयके भेदसे दो प्रकार है। × पौद्गलिक शब्द द्रव्यनय कहलाता है तथा जीवका चेतना गुण भावनय कहलाता है।

भावार्थ—किसीअपेक्षासे जो वचन बोला जाता है उसे शब्दनय कहते हैं। जैसे किसीने घीकी अपेक्षा रख कर यह वाक्य कहा कि घीका घड़ा लाओ, यह वाक्य असद्भूत व्यवहार नयकी अपेक्षासे कहा गया है। इसलिये यह वाक्य भी नय कहलाता है। अर्थात् पदार्थके एक अंशका प्रतिपादक वाक्य द्रव्य नय कहलाता है, और पदार्थके एक अंशको विषय करनेवाला ज्ञान भाव नय कहलाता है।

अथवा—

यदि वा ज्ञानविकल्पो नयो विकल्पोस्ति सोप्यपरमार्थः ।
नयतो ज्ञानं गुण इति शुद्धं ज्ञेयं च किन्तु तद्योगात् ॥ ५०६ ॥

× शब्द भाषा वर्गणासे बनता है इसलिये पौद्गलिक होता ही है उसका पौद्गलिक विशेषण देना स्थूलतासे निरर्थक ही प्रतीत होता है। परन्तु निरर्थक नहीं है। शब्दके दो भेद है (१) द्रव्य शब्द (२) भावशब्द। द्रव्य शब्द पौद्गलिक है। भावशब्द ज्ञानात्मक है। इस भेदको दिखलानेके लिये ही शब्दका यहांपर पौद्गलिक विशेषण दिया है। जो वचन बोला जाता है वह सब पौद्गलिक ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—अथवा ज्ञान विकल्पका नाम ही नय है। अर्थात् विकल्पात्मक ज्ञानको नय कहते हैं—और जितना विकल्प है वह सब अपरमार्थ—अयथार्थ है क्योंकि शुद्ध ज्ञान गुण नय नहीं कहा जाता है, और न शुद्ध ज्ञेय ही नय कहा जता है। किंतु ज्ञान और ज्ञेय, इन दोनोंके योग—सम्बन्धसे ही नय कहा जाता है। इसीलिये वह अयथार्थ है।

स्पष्ट विवेचन—

ज्ञानविकल्पो नय इति तत्रेयं प्रक्रियापि संयोज्या ।
ज्ञानं ज्ञानं न नयो नयोपि न ज्ञानमिह विकल्पत्वात् ॥५०७॥

अर्थ—ज्ञान विकल्प नय है इस विषयमें यह प्रक्रिया (शैली) लगानी चाहिये कि ज्ञान तो ज्ञानरूप ही है, ज्ञान नयरूप नहीं है। जो नय है वह ज्ञानरूप नहीं है, क्योंकि नय विकल्प स्वरूप है। भावार्थ—शुद्ध ज्ञान नयरूप नहीं है। किंतु विकल्पात्मक ज्ञान नय है।

उन्मज्जति नयपक्षो भवति विकल्पो विवक्षितो हि यदा ।
न विवक्षितो विकल्पः स्वयं निमज्जति तदा हि नयपक्षः ॥५०८॥

अर्थ—जिस समय विकल्प विवक्षित होता है उस समय नय पक्ष भी प्रकट होता है। जिस समय विकल्प विवक्षित नहीं होता है, उस समय नय पक्ष भी स्वयं छिप जाता है। अर्थात् जहां पदार्थ किसी अपेक्षा विशेषसे विवक्षित होता है वहींपर नय पक्ष स्वकार्यदक्ष होता है।

दृष्टान्त—

संदृष्टिः स्पष्टेयं स्यादुपचाराद्यथा घटज्ञानम् ।
ज्ञानं ज्ञानं न घटो घटोपि न ज्ञानमस्ति स इति घटः ॥५०९॥

अर्थ—यह दृष्टान्त स्पष्ट ही है कि जैसे उपचारसे घटको विषय करनेवाले ज्ञानको घटज्ञान कहा जाता है। वास्तवमें ज्ञान घट रूप नहीं होजाता, और न घट ही ज्ञान रूप होजाता है। ज्ञान ज्ञान ही रहता है तथा घट घट ही रहता है। भावार्थ—ज्ञानका स्वभाव जानना है। हरएक वस्तु उसका ज्ञेय पड़ती है। फिर घटको विषय करनेवाले ज्ञानको घट ज्ञान क्यों कह दिया जाता है, ? उत्तर—उपचारसे। उपचारका कारण भी विकल्प है। यद्यपि घटसे ज्ञान सर्वथा भिन्न है, तथापि ज्ञानमें घट, यह विकल्प अवश्य पड़ा है। इसीसे उस ज्ञानको घटज्ञान कह दिया जाता है।

तात्पर्य—

इदमत्र तु तात्पर्यं हेयः सर्वो नयो विकल्पात्मा ।
बलवानिव दुर्वारः प्रवर्त्तते किल तथापि बलात् ॥ ५१० ॥

अर्थ—नयके विषयमें यही तात्पर्य है कि जितना भी विकल्पात्मक नय है सभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्याज्य (छोडने योग्य) है । यहांपर शंका होसक्ती है कि जब विकल्पात्मक नय सभी छोड़ने योग्य है फिर क्यों कहा जाता है ? उत्तर—यद्यपि यह बात ठीक है तथापि उसका कहना आवश्यक प्रतीत होता है । इसलिये वह बलवान्के समान बलपूर्वक प्रवर्तित होता ही है अर्थात् उसका प्रयोग करना ही पड़ता है । वह यद्यपि त्याज्य है तथापि वह दुर्वार है । **भावार्थः**—विकल्पात्मक—नय सम्पूर्ण पदार्थके स्वरूपको नहीं कह सकता है । इसका कारण भी यह है कि वह पदार्थको अशंरूपसे ग्रहण करता है । इस लिये उपादेय नहीं है । तथापि उसके विना कहे हुए भी पदार्थव्यवस्था नहीं जानी जासकती है, इसलिये उसका कहना भी आवश्यक ही है ।

नयमात्र विकल्पात्मक है—

अथ तद्यथा यथा सत्सन्मात्रं मन्यमान इह कश्चित् ।
न विकल्पमतिक्रामति सदिति विकल्पस्य दुर्निवारत्वात् ।५११।

अर्थः—जितना भी नय है सब विकल्पात्मक है इसी बातको यहां पर स्पष्ट करते हैं । जैसे किसी पुरुषने सत्में कोई विकल्प नहीं समझा हो केवल उसे उसने सन्मात्र सत्स्वरूप ही समझा हो तो यहां पर भी विकल्पातीत उसका ज्ञान नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि 'सत्' यह विकल्प उसके ज्ञानमें आचुका ही है, वह दुर्निवार है, अर्थात् सत् इस विकल्पको तो कोई उसके ज्ञानसे दूर नहीं कर सकता । **भावार्थः**—सम्पूर्ण विकल्पजाल भेद ज्ञानोंको छोड़कर केवल जिसने पदार्थको सन्मात्र ही समझा है उसका ज्ञान भी विकल्पात्मक ही है क्योंकि उसके ज्ञानमें सत्, यह विकल्प आचुका है । सत् भी तो पदार्थका एक अंश ही है ।

स्थूलं वा सूक्ष्मं वा बाह्यानर्जल्पमात्रवर्णमयम् ।
ज्ञानं तन्मयमिति वा नयकल्पो वाग्विलासत्वात् ॥५१२॥

अर्थ—स्थूल अथवा सूक्ष्म जो वाह्यजल्प (स्पष्टबोलना) और अन्तर्जल्प (मन ही मनमें बोलना) है वह सब वर्णमय है और वह नयरूप है, क्योंकि वह वचन विन्यासरूप है । जितना भी वचनात्मक कथन है सब नयात्मक है तथा उन वचनोंका जो बोध है ज्ञान है वह भी नयरूप ही है । क्योंकि वचनोंके समान उसने भी वस्तुके विवक्षित अंशको ही विषय किया है । **भावार्थः**—वाचक तथा वाच्य बोध दोनों ही नयात्मक हैं ।

अथवा—

अवलोक्य वस्तुधर्मं प्रतिनियतं प्रतिविशिष्टमेकैकम् ।
संज्ञाकरणं यदि वा तन्नयानुपचर्यते स नयः ॥ ५१३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—एक एक प्रतिनियित वस्तु धर्मको वस्तुसे विशिष्ट देखकर उस धर्म विशिष्ट वस्तुकी उसी नामसे संज्ञा—नामकरण करना भी नय है। ऐसा ज्ञान भी नयात्मक है और वचन भी नयात्मक हीं उपचार है।

दृष्टान्त—

अथ तद्यथा यथाग्नेरौष्ण्यं धर्मं समक्षतोऽपेक्ष्य।
उष्णोऽग्निरिति वाग्नि तज्ज्ञानं वा नयोपचारः स्यात् ॥५१४॥

अर्थ—जैसे अग्निका उष्णधर्म सामने देखकर किसीने कहा कि 'अग्नि उष्ण है, यह वचन नयरूप है और उस वचनका वाच्यरूप बोध भी नयात्मक है। भावार्थ—अग्निमें दीपन, पाचन, प्रकाशन, जलाना, उष्णता आदि अनेक गुण हैं। परन्तु किसी विवक्षित धर्मसे जब वह कही जाती है तब वह अग्नि उतनी मात्र ही समझी जाती है। इसी प्रकार जीवको ज्ञानी कहने पर उसमें अनेक गुण रहते हुए भी वह ज्ञानमय ही प्रतीत होता है। इसलिये यह सब कथन तथा ऐसा ज्ञान नयरूप ही है।

इह छिदि क्रियायां स्यात्किल परशुः स्वतन्त्र एव यथा।
न तथा नयः स्वतन्त्रो धर्मविशिष्टं करोति वस्तुबलात् ॥५१५॥

अर्थ—जिस प्रकार छेदनक्रियाका कारण फरसा छेदनक्रियाके करनेमें स्वतंत्र रीतिसे चलाया जाता है। उस प्रकार नय स्वतन्त्र रीतिसे वस्तुको किसी धर्मसे विशिष्ट नहीं समझता है और न कहता ही है। भावार्थ—फरसाके चलनेमें यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी दूसरे हथियार (शस्त्र) की अपेक्षा रखकर ही छेदनक्रियाको करे, परन्तु नयका प्रयोग स्वतन्त्र नहीं हो सक्ता है। बिना किसी अपेक्षाविशेषके नयप्रयोग नहीं हो सक्ता है। नय प्रयोगमें अपेक्षा विशेष तथा प्रतिपक्ष नयकी सापेक्षता आवश्यक है। इसीलिये छेदन क्रियामें फरसाके समान नय स्वतन्त्र नहीं, किन्तु विवक्षा और प्रतिपक्ष नयसे वह परतन्त्र है। जो नय बिना अपेक्षाके और प्रतिपक्ष नयकी सापेक्षताके प्रयोग किया जाता है उसे नय ही नहीं कहना चाहिये अथवा मिथ्या नय कहना चाहिये।

नय भेद—

एकः सर्वोऽपि नयो भवति विकल्पाविशेषतोऽपि नयात्।
अपि च द्विविधः स यथा स्वविषयभेदे विकल्पद्वैविध्यात् ।५१६।

अर्थ—विकल्पात्मक ज्ञानको ही नय कहते हैं कोई नय क्यों न हो, विकल्पात्मक ही होगा इसलिये विकल्पकी अविशेषता होनेसे सभी नय एक हैं। सभी नयोंकी एकताका विकल्पसामान्य ही हेतु है। विषयभेदकी अपेक्षा होनेपर वह नय दो प्रकार भी है। विषयभेदसे विकल्पभेद—विकल्पद्वैविध्यका होना भी आवश्यकहै और विकल्पद्वैविध्यमें नयद्वैविध्यका होना भी आवश्यक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब नयके दो भेदोंका उल्लेख किया जाता है—

एकोद्रव्यार्थिक इति पर्यायार्थिक इति द्वितीयः स्यात् ।
सर्वेषां च नयानां मूलनिरूपणपरो यावत् ॥ ५१७ ॥

अर्थ—एक द्रव्यार्थिक नय है, दूसरा पर्यायार्थिक नय है। सम्पूर्ण नयोंके मूलभूत ये दो ही नय हैं।

द्रव्यार्थिक नय—

द्रव्यं सन्मुख्यतया केवलमर्थः प्रयोजनं यस्य ।
भवति द्रव्यार्थिक इति नयः स्वधातवर्थसंज्ञकश्चैकः ॥ ५१८ ॥

अर्थ—केवल द्रव्य ही मुख्यतासे जिस नयका प्रयोजन विषय है वह नय द्रव्यार्थिक नय कहा जाता है और वही अपनी धातुके अर्थके अनुसार यथार्थ नाम धारक है तथा वह एक है। भावार्थ—पर्यायको गौण रखकर मुख्यतासे जहां द्रव्य कहा जाता है अथवा उसका ज्ञान किया जाता है वह द्रव्यार्थिक नय कहलाता है, और वह एक है, क्योंकि उसमें भेद विवक्षा नहीं है।

पर्यायार्थिक नय—

अंशाः पर्याया इति तन्मध्ये यो विवक्षितोंऽशः सः
अर्थो यस्येति मतः पर्यायार्थिकनयस्त्वनेकश्च ॥ ५१९ ॥

अर्थ—अंशोंका नाम ही पर्याय है उन अंशोंमेंसे जो विवक्षित अंश है वह अंश जिस नयका विषय है, वही पर्यायार्थिक नय कहलाता है। ऐसे पर्यायार्थिक नय अनेक हैं। भावार्थ—वस्तुकी प्रतिक्षण नई २ पर्यायें होती रहती हैं, वे सब वस्तुके ही अंश हैं। जिस समय किसी अवस्थारूपमें वस्तु कही जाती है उस समय वह कथन अथवा वह ज्ञान पर्यायार्थिक नय कहा जाता है। पर्यायें अनेक हैं इसलिये उनको विषय करनेवाला ज्ञान भी अनेक है तथा उसको प्रतिपादन करनेवाले वाक्य भी अनेक हैं।

नयोंका विशद स्वरूप कहनेकी प्रतिज्ञा—

अधुना रूपदर्शनं संदृष्टिपुरस्सरं द्वयोर्वक्ष्ये ।
श्रुतपूर्वमिव सर्वं भवति च यद्वाऽनुभूतपूर्वं तत् ॥ ५२० ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि वे अब उन दोनों नयोंका स्वरूप दृष्टान्तपूर्वक कहेंगे। दृष्टान्त पूर्वक कहनेसे सुननेवालोंको वह विषय पहले सुने हुएके समान हो जाता है अथवा पहले अनुभव किये हुएके समान होजाता है।

पर्यायार्थिक नय विचार—

पर्यायार्थिक नय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति ।
एकार्थो यस्मादिह सर्वोप्युपचारमात्रः स्यात् ॥ ५२१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—पर्यायार्थिक नय कहो अथवा व्यवहार नय कहो दोनोंका एक ही अर्थ है, सभी उपचार मात्र है। भावार्थ–व्यवहार नय पदार्थके यथार्थ रूपको नहीं कहता है, वह व्यवहारार्थ पदार्थमें भेद करता है, वास्तव दृष्टिसे पदार्थ वैसा नहीं है, इसलिये व्यवहार नय उपचरित कथन करता है। पर्यायार्थिक नय भी व्यवहारनयका ही दूसरे नाम है, क्योंकि पर्यायार्थिक नय वस्तुके किसी विवक्षित अंशको ही विषय करता है। इसलिये वह भी वस्तुमें भेद सिद्ध करता है। अतः दोनों नयोंका एक ही अर्थ है यह बात सुसिद्ध है।

व्यवहारनयका स्वरूप–

व्यवहरणं व्यवहारः स्यादिति शब्दार्थतो न परमार्थः।
स यथा गुणगुणिनोरिह सदभेदे भेदकरणं स्यात् ॥५२२॥

अर्थ—किसी वस्तुमें भेद करनेका नाम ही व्यवहार है, व्यवहारनय शब्दार्थ–वाक्य विवक्षाके आधार पर है अथवा शब्द और अर्थ दोनोंहीसे अपरमार्थ है। वास्तवमें यह नय वस्तुके यथार्थ रूपको नहीं कहता है इसलिये यह परमार्थभूत नहीं है। जैसे–यद्यपि सत् अभिन्न–अखण्ड है तथापि उसमें 'यह गुण है' यह गुणी है, इसप्रकार गुण गुणीका भेद करना ही इस नयका विषय है।

साधारणगुण इति वा यदि वाऽसाधारणः सतस्तस्य।
भवति विवक्ष्यो हि यदा व्यवहारनयस्तदा श्रेयान् ॥५२३॥

अर्थ—पदार्थका सामान्य गुण हो अथवा विशेष गुण हो, जो जिस समय विवक्षित होता है उसी समय उसे व्यवहारनयका यथार्थ विषय समझना चाहिये। अर्थात् विवक्षित गुण ही गुण गुणीमें भेद सिद्ध करता है, वह व्यवहारनयका विषय है। यहां पर यह शंका की जा सक्ती है कि जब व्यवहारनय वस्तुमें भेद सिद्ध करता है तथा उसके यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादक नहीं है तो फिर उसका विवेचन ही क्यों किया जाता है, अर्थात् उससे जब किसी उपयोगी फलकी सिद्धि ही नहीं होती तो उसका मानना ही निष्फल है? इस शंकाके उत्तरमें व्यवहारनयका फल नीचेके श्लोकसे कहा जाता है–

फलमास्तिक्यमतिः स्यादनन्तधर्मैकधर्मिणस्तस्य।
गुणसद्भावे नियमाद्द्रव्यास्तित्वस्य सुप्रतीतत्वात् ॥५२४॥

अर्थ—व्यवहारनयका फल पदार्थोंमें आस्तिक्यबुद्धिका होना है, व्यवहार-नयसे वस्तु अनन्त गुणोंका पुञ्ज है, यह बात जानी जाती है। क्योंकि गुणोंकी विवक्षामें गुणोंका सद्भाव सिद्ध होता है और गुणोंके सद्भावमें गुणी–द्रव्यका सद्भाव स्वयं सिद्ध अनुभवमें आता है। भावार्थ–व्यवहार नयके विना पदार्थ विज्ञान होता ही नहीं दृष्टान्तके लिये जीव द्रव्यको ही ले लीजिये, व्यवहार नयसे जीवका कभी ज्ञान गुण विवक्षित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया जाता है, कभी दर्शनगुण, कभी चारित्र, कभी सुख, कभी वीर्य, कभी सम्यक्त्व, कभी अस्तित्व, कभी वस्तुत्व, कभी द्रव्यत्व इत्यादि सब गुणोंको क्रमशः विवक्षित करनेसे यह बात ध्यानमें आजाती है कि जीव द्रव्य अनन्त गुणोंका पुञ्ज है। साथ ही इस बातका भी परिज्ञान (व्यवहार नयसे) होजाता है कि ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र, सम्यक्त्व, ये जीवके विशेष गुण हैं, क्योंकि ये गुण जीवके सिवा अन्य किसी द्रव्यमें नहीं पाये जाते हैं, और अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि सामान्य गुण हैं, क्योंकि ये गुण जीव द्रव्यके सिवा अन्य सभी द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं, तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पुद्गलके सिवा अन्य किसी द्रव्यमें नहीं पाये जाते हैं, इसलिये वे पुद्गलके विशेष गुण हैं। इसप्रकार वस्तुमें अनन्त गुणोंके परिज्ञानके साथ ही उसके सामान्य विशेष गुणोंका परिज्ञान भी व्यवहार नयसे होता है। गुण गुणी और सामान्य विशेष गुणोंका परिज्ञान होनेपर ही पदार्थमें आस्तिक्य भाव होता है। इसलिये विना व्यवहार नयके माने काम नहीं चल सकता। क्योंकि पदार्थका स्वरूप विना समझाये आ नहीं सकता और जो कुछ समझाया जायगा वह अंशरूपसे कहा जायगा और इसीको पदार्थमें भेद बुद्धि कहते हैं। अभिन्न अखण्ड पदार्थमें भेद बुद्धिको उपचरित कहा गया है। परन्तु व्यवहार नय निश्चय नयकी अपेक्षा रखनेसे यथार्थ है। निरपेक्ष मिथ्या है।

व्यवहार नयके भेद--

व्यवहारनयो द्वेधा सद्भूतस्त्वथ भवेदसद्भूतः।
सद्भूतस्तद्गुण इति व्यवहारस्तत्प्रवृत्तिमात्रत्वात् ॥ ५२५ ॥

अर्थ—व्यवहार नयके दो भेद हैं। (१) सद्भूतव्यवहार नय (२) असद्भूत व्यवहार नय। सद्भूत उस वस्तुके गुणोंका नाम है, और व्यवहार उनकी प्रवृत्तिका नाम है। **भावार्थ**—किसी द्रव्यके गुण उसी द्रव्यमें विवक्षित करनेका नाम ही सद्भूत व्यवहार नय है। यह नय उसी वस्तुके गुणोंका विवेचन करता है इसलिये यथार्थ है। इस नयमें अयथार्थपना केवल इतना है कि यह अखण्ड वस्तुमेंसे गुण गुणीका भेद करता है।

सद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्तिका हेतु--

अत्र निदानं च यथा सदसाधारणगुणो विवक्ष्यः स्यात्।
अविवक्षितोऽथवापि च सत्साधारणगुणो न चान्यतरात् ॥५२६॥

अर्थ—सद्भूत व्यवहार नयकी प्रवृत्तिका हेतु यह है कि पदार्थके असाधारण गुण ही इस नय द्वारा विवक्षित किये जाते हैं अथवा पदार्थके साधारण गुण इस नय द्वारा विवक्षित नहीं किये जाते हैं। ऐसा नहीं है कि इस नय द्वारा कभी कोई और कभी कोई गुण विवक्षित और अविवक्षित किया जाय। **भावार्थ**—सद्भूत व्यवहार नय वस्तुके सा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान्य गुणोंको गौण रखता हुआ उसके विशेष गुणोंका ही विवेचक है ।

इस नयसे होनेवाला फल–

अस्यावगमे फलमिति तदितरवस्तुनि निषेधबुद्धिः स्यात् ।
इतरविभिन्नो नय इति भेदाभिव्यञ्जको न नयः ॥ ५२७ ॥

अर्थ—सद्भूत व्यवहार नयके समझने पर एक पदार्थसे दूसरे पदार्थमें निषेध बुद्धि हो जाती है अर्थात् एक पदार्थसे दूसरा पदार्थ जुदा ही प्रतीत होने लगता है यह सद्भूत व्यवहार नय एक पदार्थकी दूसरे पदार्थसे भिन्न प्रतीति करानेवाला है । एक ही पदार्थमें भिन्नताका सूचक नहीं हैं । भावार्थ—सद्भूत व्यवहारनय वस्तुके विशेष गुणोंका विवेचन करता है इसलिये वह वस्तु अपने विशेष गुणों द्वारा दूसरी वस्तुसे भिन्न ही प्रतीत होने लगती है । जैसे जीवका ज्ञान गुण इस नय द्वारा विवक्षित होनेपर वह जीवको इतर पुद्गल आदि द्रव्योंसे भिन्न सिद्ध कर देता है । ऐसा नहीं है कि जीवको उसके गुणोंसे ही जुदा सिद्ध करता हो ।

बस यही इस नयका फल है–

अस्तमितसर्वसङ्करदोषं क्षतसर्वशून्यदोषं वा ।
अणुरिव वस्तुसमस्तं ज्ञानं भवतीत्यनन्यशरणमिदम् ॥५२८॥

अर्थ— सद्भूत व्यवहार नयसे वस्तुका यथार्थ परिज्ञान होनेपर वह सब प्रकारके संकर * दोषोंसे रहित–सबसे जुदी, सब प्रकारके शून्यता–अभाव आदि दोषोंसे रहित, समस्त ही वस्तु परमाणुके समान (अखण्ड) प्रतीत होती है । ऐसी अवस्थामें वह उसका शरण वही दीखती है । भावार्थ—इस नय द्वारा जब वस्तु उसके विशेष गुणोंसे भिन्न सिद्ध हो जाती है, फिर उसमें संकर दोष नहीं आसक्ता है । तथा गुणोंका परिज्ञान होने पर उसमें शून्यता, अभाव आदि दोष भी नहीं आसक्ते हैं, क्योंकि उसके गुणोंकी सत्ता और उनकी नित्यताका परिज्ञान उक्त दोनों दोषोंका विरोधी है तथा जब वस्तुके (सामान्य भी) गुण उसमें ही दीखते हैं उससे बाहर नहीं दीखते, तब वस्तु परमाणुके समान उसके गुणोंसे अखण्ड प्रतीत होती है । इतने बोध होनेपर ही वस्तु अनन्य शरण प्रतीत होती है ।

---

* सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः, येन रूपेण सत्त्वं तेन रूपेणाऽसत्त्वस्यापि प्रसंगः । येनरूपेण चाऽसत्त्वं तेन रूपेण सत्त्वस्यापि प्रसङ्गः इतिः सङ्करः । **सप्तभंगी तरङ्गिणी** । अर्थात् परस्पर पदार्थोंके मिलनेका नाम ही संकर है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असद्भूत व्यवहार नयका लक्षण—

अपि चाऽसद्भूतादिव्यवहारान्तो नयश्च भवति यथा ।
अन्यद्रव्यस्य गुणाः सञ्जायन्ते बलात्तदन्यत्र * ॥ ५२९ ॥ संयोजन

अर्थ—दूसरे द्रव्यके गुणोंका बल पूर्वक दूसरे द्रव्यमें आरोपण किया जाय, इसीको असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं ।

दृष्टान्त—

स यथा वर्णादिमतो मूर्तद्रव्यस्य कर्म किल मूर्तम् ।
तत्संयोगत्वादिह मूर्ताः क्रोधादयोपि जीवभवाः ॥५३०॥

अर्थ—वर्णादिवाले मूर्त द्रव्यसे कर्म बनते हैं इससिये वे भी मूर्त ही हैं । उन कर्मोंके सम्बन्धसे क्रोधादिक भाव बनते हैं इसलिये वेभी मूर्त हैं, उन्हें जीवके कहना यही असद्भूत व्यवहार नयका विषय है। भावार्थ–रूप रस गन्ध स्पर्शका नाम ही मूर्ति है । यह मूर्ति पुद्गलमें ही पाई जाती है इसलिये पुद्गल ही वास्तवमें मूर्त है । उसी पुद्गलका भेद एक कार्माण वर्गणा भी है । उस वर्गणासे मोहनीय आदि कर्म बनते हैं । उन कर्मोंके सम्बन्धसे ही आत्माके क्रोधादिक वैभाविक भाव बनते हैं । इसलिये वे भी मूर्त हैं । उन क्रोधादिकोंको आत्माके भाव बतलानेवाला ही असद्भूत व्यवहार नय है । *

असद्भूतव्यवहार नयकी प्रवृत्तिमें हेतु–

कारणमन्तर्लीना द्रव्यस्य विभावभावशक्तिः स्यात् ।
सा भवति सहजसिद्धा केवलमिह जीवपुद्गलयोः ॥५३१॥

अर्थ—असद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्ति क्यों होती है ? इसका कारण द्रव्यमें रहनेवाली वैभाविक शक्ति है । वह स्वाभाविकी शक्ति है तथा केवल जीव और पुद्गलमें ही वह पाई जाती है । भावार्थ—जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें एक वैभाविक नामा गुण है यह उक्त दोनों द्रव्योंका स्वाभाविक गुण है उस गुणका पर–कर्मके निमित्तसे वैभाविक परिणमन

---

* संशोधित पुस्तकमें 'सञ्जायते' के स्थानमें 'संयोज्यन्ते' पाठ है वह विशेष अच्छा प्रतीत होता है ।

* आत्माके चारित्र गुणकी वैभाविक परिणतिका नाम ही क्रोधादि है । वे क्रोधादिभाव पुद्गलके नहीं किन्तु आत्माके ही हैं । परन्तु पुद्गलके निमित्तसे होनेवाले हैं इसलिये वे शुद्धात्माके नहीं कहे जा सक्ते । स्वामी नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती–सूरिने द्रव्यसंग्रहमें जीवका कर्तृत्व बतलाते हुए क्रोधादिकोंको चेतन कर्म बतलाया है । और उन्हें अशुद्ध निश्चयनयका विषय बतलाया है । शुद्ध द्रव्यका निरूपण करनेवाले पञ्चाध्यायीकारने उन्हीं क्रोधादिकोंको जीवके निजगुण नहीं माना है इसीलिये उन्हें जीवके पक्षमें असद्भूत व्यवहार नयका विषय बतलाया है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। विना पर निमितके उसका स्वाभाविक परिणमन होता है। + उसी वैभाविक शक्तिके विभाव परिणमनसे असद्भूत व्यवहार नयके विषयभूत जीवके क्रोधादिक भाव बनते हैं।

इसका फल—

फलमागन्तुकभावादुपाधिमात्रं विहाय यावदिह।
शेषस्तच्छुद्धगुणः स्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चित् ॥५३२॥

अर्थ—जीवमें क्रोधादिक उपाधि है। वह आगन्तुक भावों—कर्मोंसे हुई है। उपाधिको दूर करदेनेसे जीव शुद्ध गुणोंवाला प्रतीत होता है, अर्थात् जीवके गुणोंमेंसे परनिमित्तसे होनेवाली उपाधिको हटा देनेसे बाकी उसके चारित्र आदि शुद्ध गुण प्रतीत होने लगते हैं। ऐसा समझ कर जीवके स्वरूपको पहचान कर कोई (मिथ्यादृष्टि अथवा विचलितवृत्ति जीव भी) सम्यग्दृष्टि हो सकता है। बस यही इस नयका फल है।

दृष्टान्त—

अत्रापि च संदृष्टिः परगुणयोगाच्च पाण्डुरः कनकः।
हित्वा परगुणयोगं स एव शुद्धोऽनुभूयते कैश्चित् ॥ ५३३ ॥

अर्थ—इस विषयमें दृष्टान्त भी स्पष्ट ही है कि सोना दूसरे पदार्थके गुणके सम्बन्धसे कुछ सफेदीको लिये हुए पीला हो जाता है, परगुणके विना वही सोना किन्हींको शुद्ध (तेजोमय पीला) अनुभवमें आता है।

सद्भूत, असद्भूत नयोंके भेद—

सद्भूतव्यवहारोऽनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च।
अपि चाऽसद्भूतः सोनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च ॥५३४॥

अर्थ—सद्भूत व्यवहार नय अनुपचरित भी होता है और उपचरित होता है। तथा असद्भूत व्यवहार नय भी अनुपचरित और उपचरित होता है।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नयका स्वरूप—

स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः।
तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम् ॥ ५३५ ॥

अर्थ—जिस पदार्थके भीतर जो शक्ति है, वह विशेषकी अपेक्षासे रहित सामान्य रीतिसे उसीकी निरूपण की जाती है। यही अनुपचरित सद्भूतव्यवहार नयका स्वरूप है।

दृष्टान्त—

इदमत्रोदाहरणं ज्ञानं जीवोपजीवि जीवगुणः।
ज्ञेयालम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवी स्यात् ॥५३६॥

+ पञ्चाध्यायीके द्वितीयभागमें बन्ध प्रकरणमें इस शक्तिका विशद विवेचन किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनयके विषयमें यह उदाहरण है कि ज्ञान जीवका अनुजीवी गुण है। वह ज्ञेयके अवलम्बन कालमें ज्ञेयका उपजीवी गुण नहीं होता है। **भावार्थ**—किसी पदार्थको विषय करते समय ज्ञान सदा जीवका अनुजीवी गुण रहेगा। यही अनुपचरित—सद्भूत व्यवहार नयका विषय है।

उसीका खुलासा—

घटसद्भावे हि यथा घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः।
अस्ति घटाभावेपि च घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः॥ ५३७॥

अर्थ—जैसे ज्ञान घटके सद्भाव (घटको विषय करते समय) में घटनिरपेक्ष जीवका गुण है। वैसे घटाभावमें भी वह घट निरपेक्ष जीवका ही गुण है। **भावार्थ**—जिस समय ज्ञानमें घट विषय पड़ा है उस समय भी वह घटाकर ज्ञान ज्ञान ही है। घटाकार (घटको विषय करनेसे) होनेसे वह ज्ञान घटरूप अथवा घटका गुण नहीं हो जाता है। घटाकार होना केवल ज्ञानका ही स्वरूप है। जैसे दर्पणमें किसी पदार्थका प्रतिबिम्ब पड़नेसे वह दर्पण पदार्थाकार हो जाता है। दर्पणका पदार्थाकार होना दर्पणकी ही पर्याय है। दर्पण उस प्रतिविम्बमूलक पदार्थरूप नहीं हो जाता है, तथा जैसा दर्पण पदार्थाकार होनेपर भी वह अपने स्वरूपमें है वैसा पदार्थाकार न होनेपर भी वह अपने स्वरूपमें है। ऐसा नहीं है कि पदार्थाकार होते समय पदार्थके कुछ गुण दर्पणमें आ जाते हों अथवा दर्पणके कुछ गुण पदार्थमें चले जाते हों उसी प्रकार ज्ञान भी जैसा पदार्थाकार होते समय जीवका चैतन्य गुण है वैसा पदार्थाकारके बिना भी जीवका चैतन्य गुण है। दोनों अवस्थाओंमें वह जीवका ही गुण है।

एतेन निरस्तं यन्मतमेतत्सति घटे घटज्ञानम्।
असति घटे च ज्ञानं न घटज्ञानं प्रमाणशून्यत्वात्॥ ५३८॥

अर्थ—जो सिद्धान्त ऐसा मानता है कि घटके होनेपर ही घटज्ञान हो सकता है, घटके न होने पर घटज्ञान भी नहीं हो सकता और ज्ञान भी नहीं हो सकता है। वह सिद्धान्त उपर्युक्त कथनसे खण्डित हो चुका, क्योंकि ऐसा सिद्धान्त माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। **भावार्थ**—बौद्ध सिद्धान्त है कि पदार्थज्ञानमें पदार्थ ही कारण है, विना पदार्थके उसका ज्ञान नहीं हो सकता है, साथ ही ज्ञानमात्र भी नहीं हो सकता है क्योंकि जो भी ज्ञान होगा वह पदार्थसे ही उत्पन्न होगा, अर्थात् पदार्थके रहते हुए ही होगा। पदार्थका ज्ञानमें कारण होना वह यों बतलाता है कि यदि पदार्थके ज्ञानमें पदार्थ कारण न हो तो जिस समय घटज्ञान किया जाताहै उस समय उस ज्ञानमें घट ही विषय क्यों पड़ता है, पटादि अन्य पदार्थ क्यों नहीं पड़ जाते? उसके यहां तो घटज्ञानमें घट कारण है इसलिये घट ही विषय पड़ता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घटज्ञानमें अन्य पदार्थ विषय नहीं पड़ सकते । पदार्थको ज्ञानमें कारण नहीं माननेवालोंके यहां (जैन सिद्धान्तमें) यह व्यवस्था नहीं बनेगी, ऐसा बौद्ध सिद्धान्त है परन्तु वह सिद्धान्त ऊपरके श्लोक द्वारा खण्डित हो चुका । क्योंकि पदार्थके न रहने पर भी पदार्थका ज्ञान होता है । पदार्थको ज्ञानमें कारण माननेसे अनेक दूषण आते हैं । जैसे कोई पुरुष चादर ओढ़े हुए और शिर खोले हुए सोरहा है कुछ दूरसे दूसरा आदमी सोनेवालेके काले केश देख कर उन्हें मच्छर समझ लेता है, ऐसा भ्रम होना प्रायः देखा जाता है । यदि पदार्थज्ञानमें पदार्थ ही कारण हो तो केशोंमें मच्छरोंका बोध सर्वथा नहीं होना चाहिये, वहांपर जो केश पदार्थ है उसीका बोध होना चाहिये । परन्तु यहांपर उलटी ही बात है । जो मच्छर पदार्थ नहीं हैं उसका तो बोध हो रहा है और जो केश पदार्थ उपस्थित है उसका बोध नहीं हो रहा है । उभय था अन्वय व्यभिचार, व्यतिरेक व्यभिचार दूषण आता है । इसलिये पदार्थज्ञानमें पदार्थ आवश्यक कारण नहीं है । जैसे—दीपक पदार्थोंका प्रकाशक है, परन्तु दीपक पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं है । दीपकके दृष्टांतसे भी यह बात सिद्ध नहीं होती कि जो जिससे उत्पन्न होता है वही उसका प्रकाशक है । बौद्धकी यह युक्ति भी कि घटज्ञानमें घट ही विषय क्यों पड़ता है, पटादि क्यों नहीं ? ठीक नहीं है । क्योंकि मच्छरके विषय न पड़ते हुए भी मच्छरज्ञान हो जाता है अथवा केशके विषय पड़ते हुए भी केशज्ञान नहीं होता है । जैन सिद्धान्त तो घट ज्ञानमें घट ही विषय पड़ता है, पटज्ञानमें पट ही विषय पड़ता है, इस व्यवस्थामें योग्यता को कारण बतलाता है । योग्यता नाम उसके आवरणके क्षयोपशमका है । × जिस जातिका क्षयोपशम होता है उसी जातिका बोध होता है । यद्यपि एक समयमें घट पटादि बहुत पदार्थोंके ज्ञान विषयक आचरणका क्षयोपशम हो जाता है, तथापि उपयोगकी प्रधानतासे उपयुक्त विषयका ही ज्ञान होता है । योग्यताको कारण माननेसे ही पदार्थव्यवस्था बनती है अन्यथा नहीं । बौद्ध सिद्धान्तके आधार पर पदार्थव्यवस्था माननेसे उपयुक्त दूषणोंके सिवा और भी अनेक दूषण आते हैं । इस विषयमें विशदज्ञान चाहनेवालोंको प्रमेयकमलमार्त्तण्डका अवलोकन करना चाहिये ।

इसका फल—

फलमास्तिक्यनिदानं सद्द्रव्ये वास्तवप्रतीतिः स्यात् ।
भवति क्षणिकादिमते परमोपेक्षा यतो विनायासात् ॥ ५३९ ॥

× स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति । परीक्षामुख अर्थात् भिन्न२ आवरण क्षयोपशम लक्षण योग्यता द्वारा ज्ञान उस योग्यताके भीतर आये हुए (प्रतिनियत) पदार्थका ही बोध करता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—पदार्थमें यथार्थ प्रतीतिका होना ही आस्तिक्य बुद्धिका कारण है। ऐसी यथार्थ प्रतीति अनुपचरित–सद्भूत व्यवहार नयसे होती है। साथ ही क्षणिकादि सिद्धान्तके माननेवालों (बौद्धादि)में विना किसी प्रयासके ही परम उपेक्षा (उदासीनता हो जाती है, यही इस नयका फल है। **भावार्थ**–घटज्ञान अवस्थामें भी ज्ञानको जीवका ही गुण समझना अनुपचरित–सद्भूत नय है, और यही पदार्थकी यथार्थ प्रतीतिका बीज है।

उपचरित–सद्भूत व्यवहारनयका स्वरूप—

उपचरितः सद्भूतो व्यवहारः स्यान्नयो यथा नाम।
अविरुद्धं हेतुवशात्परतोप्युपचर्यते यथा स्वगुणः॥ ५४०॥

अर्थ—अविरुद्धता पूर्वक किसी हेतुसे उस वस्तुका उसीमें परकी अपेक्षासे भी जहां पर उपचरित किया जाता है वहां पर उपचरित सद्भूत व्यवहार नय प्रवर्त्तित होता है। **भावार्थ**—यहां पर उसी वस्तुका गुण (विशेषगुण) उसीमें विवक्षित किया जाता है, इतना अंश तो सद्भूतका स्वरूप है। गुणीसे गुणका भेद किया गया है, इतना अंश व्यवहारका स्वरूप है तथा वह गुण उस वस्तुमें परसे उपचरित किया जाता है, इतना उपचरित–अंश है। इसलिये ऐसे ज्ञानवाला–उपचरित–सद्भूत व्यवहार नय कहलाता है, अथवा ऐसा उपचरित–प्रयोग भी उसी नयका विषय है।

दृष्टान्त

अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति लक्ष्यतेधुनापि यथा।
अर्थः स्वपरनिकायो भवति विकल्पस्तु चित्तदाकारम्॥ ५४१॥

अर्थ—जैसे प्रमाणका लक्षण कहा जाता है कि अर्थ विकल्प ज्ञानरूप प्रमाण होता है, यहां पर अर्थ नाम ज्ञान और पर पदार्थोंका है। विकल्प नाम ज्ञानका उस आकाररूप होना है। अर्थात् स्व पर ज्ञान होना ही प्रमाण है। **भावार्थ**—ज्ञान अपने स्वरूपको जानता हुआ ही पर पदार्थोंको जानता है, यही उसकी प्रमाणताका हेतु है। स्व पर पदार्थोंका निश्चयात्मक बोध ही प्रमाण कहलाता है और यह ज्ञानकी विकल्पात्मक अवस्था है। यहां पर ज्ञानका स्वरूप उसके विषयभूत पदार्थोंके उपचारसे सिद्ध किया जाता है, परन्तु विकल्परूप ज्ञानको जीवका ही गुण बतलाया गया है। इसलिये यह उपचरित सद्भूत व्यवहार नयका विषय है।

असदपि लक्षणमेतत्सन्मात्रत्वे सुनिर्विकल्पत्वात्।
तदपि न विनावलम्बान्निर्विषयं शक्यते वक्तुम्॥ ५४२॥

अर्थ—ज्ञान यद्यपि निर्विकल्पक होनेसे सन्मात्र है इसलिये उपर्युक्त विकल्प स्वरूप लक्षण उसमें नहीं जाता है, तथापि वह विना अवलम्बनके निर्विषय नहीं कहा जासक्ता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्मादनन्यशरणं स्वदपि ज्ञानं स्वरूपसिद्धत्वात् ।
उपचरितं हेतुवशात् तदिह ज्ञानं तदन्यशरणमिव ॥५४३॥

अर्थ—इसलिये ज्ञान अपने स्वरूपसे स्वयं सिद्ध है अतएव वह अनन्य शरण (उसका वही अवलम्बन) है तो भी हेतु वश वह ज्ञान अन्य शरणके समान उपचरित होता है।

ऐसा होनेमें हेतु—

हेतुः स्वरूपसिद्धिं विना न परसिद्धिरप्रमाणत्वात् ।
तदपि च शक्तिविशेषाद् द्रव्यविशेषे यथा प्रमाणं स्यात् ॥५४४॥

अर्थ—ऐसा होनेमें कारण भी यह है कि स्वरूप सिद्धिके बिना परसे सिद्धि अप्रमाण ही है, अर्थात् ज्ञान स्वरूपसे सिद्ध है तभी वह परसे भी सिद्ध माना जाता है। ज्ञान स्वरूपसे सिद्ध है इस विषयमें भी यही कहा जा सकता है कि वह द्रव्य विशेष (जीव द्रव्य)का गुण विशेष है। यह बात प्रमाण पूर्वक सिद्ध है। भावार्थ- अर्थ विकल्पो ज्ञानं प्रमाणम्, अर्थात् स्व–पर पदार्थका बोध ही प्रमाण है। ऐसा ऊपर कहा गया है। इस कथनसे ज्ञानमें प्रमाणता परसे लाई गई है। परन्तु परसे प्रमाणता ज्ञानमें तभी आसकती है जब कि वह अपने स्वरूपसे सिद्ध हो, इसी बातको यहां पर स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान अपने स्वरूपसे स्वयं सिद्ध है। कारण कि वह जीवद्रव्यका विशेष गुण है स्वयं सिद्ध होकर ही वह परसे उपचरित कहा जाता है।

इसका फल ।

अर्थो ज्ञेयज्ञायकसङ्करदोषभ्रमक्षयो यदि वा ।
अविनाभावात् साध्यं सामान्यं साधको विशेषः स्यात् ॥५४५॥

अर्थ—उपचरित–सद्भूत व्यवहार नयका यह फल है कि ज्ञेय और ज्ञायकमें अर्थात् ज्ञान और पदार्थमें संकर दोष न उत्पन्न हो, तथा किसी प्रकारका भ्रम भी इनमें न उत्पन्न हो। यदि पहले ज्ञेय और ज्ञायकमें संकर दोष अथवा दोनोंमें भ्रम हुआ हो तो इस नयके जानने पर वह दोष तथा वह भ्रम दूर हो जाता है। यहां पर अविनाभाव होनेसे सामान्य साध्य है तथा विशेष उसका साधक है अर्थात् ज्ञान साध्य है और घटज्ञान पटज्ञानादि उसके साधक हैं। दोनोंका ही अविनाभाव है। कारण कि पदार्थ प्रमेय है इसलिये वह किसी न किसीके ज्ञानका विषय होता ही है और ज्ञान भी ज्ञेयका अवलम्बन करता ही है निर्विषय वह भी नहीं होता। भावार्थ–कोई पदार्थके स्वरूप नहीं समझनेवाले ज्ञानको घट पटादि पदार्थोंका धर्म बतलाते हैं, कोई २ ज्ञेयके धर्म ज्ञायकमें बतलाते हैं। अथवा विषय–विषयीके सम्बन्धमें किन्हींको भ्रम हो रहा है उन सबका अज्ञान दूर करना ही इस नयका फल है। इस नय द्वारा यही बात बतलाई गई है कि विकल्पता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानका साधक है अर्थात् घटज्ञान, पटज्ञान पुस्तकज्ञान, रत्नज्ञान इत्यादि ज्ञानके विशेषण साधक हैं। सामान्यज्ञान साध्य है। उपर्युक्त विशेषणोंसे सामान्यज्ञानकी ही सिद्धि होती है। ज्ञानमें घटादि धर्मता सिद्ध नहीं होती। ऐसा यथार्थ परिज्ञान होनेसे ज्ञेय ज्ञायकमें संकरताका बोध कभी नहीं हो सक्ता है।

अनुपचरित-असद्भूत व्यवहार नयका दृष्टान्त—

अपि वाऽसद्भूतो योऽनुपचरिताख्यो नयः स भवति यथा।
क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवाः॥ ५४६॥

अर्थ—अबुद्धि पूर्वक होनेवाले क्रोधादिक भावोंमें जीवके भावोंकी विवक्षा करना, यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय कहलाता है। भावार्थ—दूसरे द्रव्यके गुण दूसरे द्रव्यमें विवक्षित किये जाँय इसीको असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। क्रोधादिक भावकर्मोंके सम्बन्धसे होते हैं इसलिये वे जीवके नहीं कहे जासक्ते यह बात असद्भूत व्यवहार नयके दृष्टान्तमें स्पष्ट कर दी गई है। उन्हीं भावोंको जीवके भाव कहना या जानना असद्भूत नय है। परन्तु क्रोधादिक भाव दो प्रकारके होते हैं (१) बुद्धि पूर्वक (२) अबुद्धि पूर्वक। बुद्धि पूर्वक भाव उन्हें कहते हैं जो भाव स्थूलतासे उदयमें आ रहे हों तथा जिनके विषयमें हम बोध भी कर रहे हों कि वे क्रोधादिक भाव हैं। ऐसा समझ कर भी कि ये क्रोधादिक हैं, फिर भी उन्हें जीवके बतलाना या जानना उपचरित नय है, परन्तु जहां पर क्रोधादिक भाव सूक्ष्मतासे उदयमें आरहे हैं, जिनके विषयमें यह निर्णय नहीं किया जासक्ता कि क्रोधादि भाव हैं या नहीं ऐसे भावोंको अबुद्धि पूर्वक क्रोधादि भावोंको जीवके विवक्षित करना अनुपचरित—असद्भूत व्यवहारनय है। यहांपर वैभाविक भावोंको (परभावोंको) जीवका कहना इतना अंश तो असद्भूतका है। गुण गुणीका विकल्प व्यवहार अंश है। अबुद्धिपूर्वक क्रोधादिकोंको कहना इतना अंश अनुपचरितका है।

इसका कारण

कारणमिह यस्य सतो या शक्तिः स्याद्विभावभावमयी।
उपयोगदशाविष्टा सा शक्तिः स्यात्तदाप्यनन्यमयी। ५४७।

अर्थ—जिस पदार्थकी जो शक्ति वैभाविक भावमय हो रही है और उपयोगदशा (कार्यकारिणी) विशिष्ट है। तो भी वह शक्ति अन्यकी नहीं कही जा सक्ती। यही अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्तिमें कारण है। भावार्थ—यदि एक शक्ति दूसरी शक्ति रूप परिणत हो जाय तब तो एक पदार्थके गुण दूसरे पदार्थमें चले जानेसे संकर और अभाव दोष उत्पन्न होते हैं, तथा ऐसा ज्ञान और कथन भी मिथ्यानय है। जीवके क्रोधादिक भाव उसके चारित्र गुणके ही परनिमित्तसे होनेवाले विकार हैं। चारित्र गुण कितना ही विकारमय अवस्थामें क्यों न परिणत हो जाय परन्तु वह सदा जीवका ही रहेगा। इसी लिये वहां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असद्भूत व्यवहारनय प्रवृत्त होता है, अर्थात् किसी वस्तुके गुणका अन्यरूप परिणत न होना ही इस नयकी प्रवृत्तिका हेतु है ।

इस नयका फल—

फलमागन्तुकभावाः स्वपरनिमित्ता भवन्तियावन्तः ।
क्षणिकत्वान्नादेया इति बुद्धिः स्यादनात्मधर्मत्वात् । ५४८ ।

अर्थ—अपने और परके निमित्तसे होनेवाले जितने भी आगन्तुक भाव--वैभाविकभाव हैं । वे सब आत्माके धर्म नहीं हैं । इसलिये वे क्षणिक हैं । क्षणिक होनेसे अथवा आत्मिक धर्म न होनेसे वे ग्राह्य--ग्रहण करने योग्य नहीं हैं ऐसी बुद्धिका होना ही इस नयका फल है । **भावार्थ**—अनुपचरित–असद्भूत व्यवहार नय वैभाविक भावमें प्रवृत्त होता है । उसका फल यह निकलता है कि ये भाव परके निमित्तसे होते हैं इसलिये अग्राह्य हैं ।

उपचरित–असद्भूत व्यवहार नय—

उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा ।
क्रोधाद्याः औदयिकाश्चितश्चेद्बुद्धिजा विवक्ष्याः स्युः ॥ ५४९ ॥

अर्थ—औदयिक क्रोधादिक भाव यदि बुद्धिपूर्वक हों, फिर उन्हें जीवके समझना या कहना उपचरित–असद्भूत व्यवहार नय है । **भावार्थ**—बुद्धिपूर्वक क्रोधादि भाव उन्हें कहते हैं कि जिनके विषयमें यह ज्ञात हो कि ये क्रोधादि भाव हैं । जैसे कोई पुरुष क्रोध करता है अथवा लोभ करता है और जानता भी है कि वह क्रोध कर रहा है अथवा लोभ कर रहा है, फिर भी वह अपने उस क्रोध भावको अथवा लोभभावको अपना निजका समझे या कहे तो उसका वह समझना या कहना उपचरित–असद्भूत व्यवहार नयका विषय है अथवा वह नय है । क्रोधादिक भाव केवल जीवके नहीं हैं । उन्हें जीवके कहना इतना अंश तो असद्भूतका है जो कि पहले ही कहा जा चुका है । क्रोधादिकोंको क्रोधादि समझ करके भी उन्हें जीवके बतलाना इतना अंश उपचरित है । बुद्धिपूर्वक क्रोधादिक भाव छठे गुणस्थान तक होते हैं । उससे ऊपर नहीं ।

इसका कारण—

बीजं विभावभावाः स्वपरोभयहेतवस्तथा नियमात् ।
सत्यपि शक्तिविशेषे न परनिमित्ताद्विना भवन्ति यतः ॥५५०॥

अर्थ—जितने भी वैभाविक भाव हैं वे नियमसे अपने और परके निमित्तसे होते हैं । यद्यपि वे शक्ति विशेष हैं अर्थात् किसी द्रव्यके निज गुण हैं तथापि वे परके निमित्त विना नहीं होते हैं । **भावार्थ**—आत्माके गुणोंका पुद्गल कर्मके निमित्तसे वैभाविक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप होना ही उपचरित असद्भूत व्यवहार नयका कारण है।

इस नयका फल।

तत्फलमविनाभावात्साध्यं तदबुद्धिपूर्वका भावाः।
तत्सत्तामात्रं प्रति साधनमिह बुद्धिपूर्वका भावाः॥ ५५१॥

अर्थ—विना अबुद्धिपूर्वक भावोंके बुद्धिपूर्वक भाव हो ही नहीं सक्ते हैं। इसलिये बुद्धिपूर्वक भावोंका अबुद्धिपूर्वक भावोंके साथ अविनाभाव है। अविनाभाव होनेसे अबुद्धिपूर्वक भाव साध्य हैं और उनकी सत्ता सिद्ध करनेके लिये साधन बुद्धिपूर्वक भाव हैं। यही इसका फल है। **भावार्थ**—बुद्धिपूर्वक भावोंसे अबुद्धिपूर्वक भावोंका परिज्ञान करना ही अनुपचरित—असद्भूत व्यवहार नयका फल है।

शंङ्काकार—

ननु चासद्भूतादिर्भवति स यत्रेत्यतद्गुणारोपः।
दृष्टान्तादपि च यथा जीवो वर्णादिमानिहास्त्वितिचेत्॥५५२॥

अर्थ—असद्भूत व्यवहार नय वहांपर प्रवृत्त होता है जहां कि एक वस्तुके गुण दूसरी वस्तुमें आरोपित किये जाते हैं। दृष्टान्त—जैसे जीवको वर्णादिवाला कहना। ऐसा माननेमें क्या हानि है? **भावार्थ**—ग्रन्थकारने ऊपर अनुपचरित और उपचरित दोनों प्रकारका ही असद्भूत व्यवहार नय तद्गुणारोपी बतलाया है, अर्थात् उसी वस्तुके गुण उसीमें आरोपित करनेकी विवक्षाको असद्भूत नय कहा है। क्योंकि क्रोधादिक भाव भी तो जीवके ही हैं और वे जीवमें ही विवक्षित किये गये हैं। शंङ्काकारका कहना है कि सद्भूत नयको तो तद्गुणारोपी कहना चाहिये और असद्भूत नयको अतद्गुणारोपी कहना चाहिये। इस विषयमें वह दृष्टान्त देता है कि जैसे वर्णादि पुद्गलके गुण हैं उनको जीवके कहना यही असद्भूत नयका विषय है?

उत्तर—

तन्न यतो न नयास्ते किन्तु नयाभाससंज्ञकाः सन्ति।
स्वयमप्यतद्गुणत्वाद्व्यवहाराऽविशेषतो न्यायात्॥ ५५३॥

अर्थ—शंकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। कारण जो तद्गुणारोपी नहीं हैं किन्तु एक वस्तुके गुण दूसरी वस्तुमें आरोपित करते हैं वे नय नहीं है किन्तु नयाभास हैं। वे व्यवहारके योग्य नहीं हैं। **भावार्थ**—मिथ्यानयको नयाभास कहते हैं। जो नय अतद्गुणारोपी है वह नयाभास है।

तथा—

तदभिज्ञानं चैतद्येऽतद्गुणलक्षणा नयाः प्रोक्ताः।
तन्मिथ्यावादत्वाद्ध्वस्तास्तद्वादिनोपि मिथ्याख्याः॥ ५५४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—जो ऊपर कहा गया है उसका खुलासा इस प्रकार है कि जितने अतद्गुणलक्षण नय कहे गये हैं वे सब मिथ्यावादरूप हैं । अतएव वे खण्डित किये गये हैं । उन नयोंके माननेवाले भी मिथ्यावादी हैं ।

वह मिथ्या यों है—

तद्वादोऽथ यथा स्याज्जीवो वर्णादिमानिहास्तीति ।
इत्युक्ते न गुणः स्यात्प्रत्युत दोषस्तदेकबुद्धित्वात् ॥ ५५५ ॥

अर्थ—वह मिथ्यावाद यों है कि यदि कोई यह कहे कि जीव रूप, रस, गन्ध स्पर्शवाला है । तो ऐसा कहने पर कोई गुण—लाभ नहीं होता है किन्तु उल्टा दोष होता है । दोष यह होता है कि जीव और रूप रसादिमें एकत्व बुद्धि होने लगती है और ऐसी बुद्धिका होना ही मिथ्या है ।

शंकाकार—

ननु किल वस्तु विचारे भवतु गुणो वाथ दोष एव यतः ।
न्यायबलादायातो दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहश्च ॥ ५५६ ॥

अर्थ—वस्तुके विचार समयमें गुण हो अथवा दोष हो, अर्थात् जो वस्तु जिस रूपमें है उसी रूपमें वह सिद्ध होगी, चाहे उसकी यथार्थसिद्धिमें दोष आवे या गुण । नयोंका प्रवाह न्याय बलसे प्राप्त हुआ है इसलिये वह दूर नहीं किया जा सक्ता ? भावार्थ जीवको वर्णादिमान् कहना यह भी एक नय है । इस नयकी सिद्धिमें जीव और वर्णादिमें एकता भले ही प्रतीत हो, परन्तु उसकी सिद्धि आवश्यक है ।

उत्तर—

सत्यं दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहो यथाप्रमाणाद्वा ।
दुर्वारश्च तथा स्यात्सम्यङ्मिथ्येति नयविशेषोपि ॥५५७ ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि नयप्रवाह अनिवार्य है, परन्तु साथ ही यह भी अनिवार्य है कि वह प्रमाणाधीन हो । तथा कोई नय समीचीन (यथार्थ) होता है कोई मिथ्या होता है यह नयोंकी विशेषता भी अनिवार्य है ।

तथा—

अर्थ विकल्पो ज्ञानं भवति तदेकं विकल्पमात्रत्वात् ।
अस्ति च सम्यग्ज्ञानं मिथ्याज्ञानं विशेषविषयत्वात् ॥५५८॥

अर्थ—ज्ञान अर्थविकल्पात्मक होता है अर्थात् ज्ञान स्व—पर पदार्थको विषय करता है इसलिये ज्ञान सामान्यकी अपेक्षासे ज्ञान एक ही है, क्योंकि अर्थ विकल्पता सभी ज्ञानोंमें है, परन्तु विशेष २ विषयोंकी अपेक्षासे उसी ज्ञानके दो भेद हो जाते हैं (१) सम्यग्ज्ञान (२) मिथ्याज्ञान ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों ज्ञानोंका स्वरूप–

तत्रापि यथावस्तु ज्ञानं सम्यग्विशेषहेतुः स्यात् ।
अथ चेदयथावस्तु ज्ञानं मिथ्याविशेषहेतुः स्यात् ॥ ५५९ ॥

अर्थ—उन दोनों ज्ञानोंमें सम्यग्ज्ञानका कारण वस्तुका यथार्थ ज्ञान है तथा मिथ्याज्ञानका कारण वस्तुका अयथार्थ ज्ञान है। भावार्थ—जो वस्तु ज्ञानमें विषय पड़ी है उस वस्तुका वैसा ही ज्ञान होना जैसी कि वह है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। जैसे–किसीके ज्ञानमें चांदी विषय पड़ी हो तो चांदीको चांदी ही वह समझे तब तो उसका वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और यदि चांदीको वह ज्ञान सीप समझे तो वह मिथ्याज्ञान है जिस ज्ञानमें वस्तु तो कुछ और ही पड़ी हो और ज्ञान दूसरी ही वस्तुका हो उसे मिथ्याज्ञान कहते हैं। इसप्रकार विषयके भेदसे ज्ञानके भी सम्यक् और मिथ्या ऐसे दो भेद हो जाते हैं।

नयके भी दो भद हैं—

ज्ञानं यथा तथासौ नयोस्ति सर्वो विकल्पमात्रत्वात् ।
तत्रापि नयः सम्यक् तदितरथा स्यान्नयाभासः ॥ ५६० ॥

अर्थ—जिस प्रकार ज्ञान है उसी प्रकार नय भी है, अर्थात् जैसे सामान्य ज्ञान एक है वैसे सम्पूर्ण नय भी विकल्पमात्र होनेसे (विकल्पात्मक ज्ञानको ही नय कहते हैं) सामान्यरूपसे एक है और विशेषकी अपेक्षासे ज्ञानके समान नय भी सम्यक् नय, मिथ्या नय ऐसे दो भेद वाले हैं। जो सम्यक् नय हैं उन्हें नय कहते हैं जो मिथ्या नय हैं उन्हें नयाभास कहते हैं।

दोनोंका स्वरूप—

तद्गुणसंविज्ञानः सोदाहरणः सहेतुरथ फलवान्
यो हि नयः स नयः स्याद्विपरीतो नयो नयाभासः ॥ ५६१ ॥

अर्थ—जो तद्गुणसंविज्ञान हो अर्थात् गुण गुणीके भेद पूर्वक किसी वस्तुके विशेष गुणोंको उसीमें बतलानेवाला हो, उदाहरण सहित हो, हेतु पूर्वक हो, फल सहित हो, वही नय, नय कहलाता है। उपर्युक्त बातोंसे जो विपरीत हो, वह नय नयाभास कहलाता है।

फलवत्त्वेन नयानां भाव्यमवश्यं प्रमाणवद्धि यतः ।
स्यादवयवि प्रमाणं स्युस्तदवयवा नयास्तदंशत्वात् ॥ ५६२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रमाण फल सहित होता है उस प्रकार नयोंका भी फल सहित होना परम आवश्यक है कारण आवयवी प्रमाण कहलाता है, उसीके अवयव नय कहलाते हैं। नय प्रमाणके ही अंश रूप हैं। भावार्थ—नयोंकी उत्पत्तिमें प्रमाण योनिभूत–मूल कारण है। प्रमाणसे जो पदार्थ कहा जाता है उसके एक अंशको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेकर अर्थात् पर्याय विशेषके द्वारा जो पदार्थका विवेचन किया जाता है उसे ही नय कहते हैं अथवा सम्पूर्ण पदार्थको प्रमाण विषय करता है और उसके एक देशको नय विषय करता है। इस प्रकार अंश अंशीरूप होनेसे प्रमाणके समान नय भी फलविशिष्ट ही होता है।

सारांश—

तस्मादनुपादेयो व्यवहारोऽतद्गुणे तदारोपः।
इष्टफलाभावादिह न नयो वर्णादिमान् यथा जीवः ॥५६३॥

अर्थ—जिस वस्तुमें जो गुण नहीं हैं, दूसरी वस्तुके गुण उसमें आरोपित–विवक्षित किये जाते हैं; जहांपर ऐसा व्यवहार किया जाता है वह व्यवहार ग्राह्य नहीं है। क्योंकि ऐसे व्यवहारसे इष्ट फलकी प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये जीवको वर्णादिवाला कहना, यह नय नहीं है किन्तु नयाभास है। भावार्थ—शंकाकारने ऊपर कहा था कि जीवको वर्णादिमान् कहना इसको असद्भूत व्यवहार नय कहना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह नय नहीं किन्तु नयाभास है। क्योंकि जीवके वर्णादि गुण नहीं हैं फिर भी उन्हें जीवके कहनेसे जीव और पुद्गलमें एकत्वबुद्धि होने लगेगी। यही इष्ट फलकी हानि है।

शंकाकार—

ननु चैवं सति नियमादुक्तासद्भूतलक्षणो न नयः।
भवति नयाभासः किल क्रोधादीनामतद्गुणारोपात् ॥ ५६४ ॥

अर्थ—यदि एक वस्तुके गुण दूसरी वस्तुमें आरोपित करनेका नाम नयाभास है तो ऐसा माननेसे जो ऊपर असद्भूत व्यवहार नय कहा गया है उसे भी नय नहीं कहना चाहिये किन्तु नयाभास कहना चाहिये। कारण क्रोधादिक जीवके गुण नहीं हैं फिर भी उन्हें जीवके कहा गया है। यह भी तो अतद्गुणारोप ही है, इसलिये ग्रन्थकारका कहा हुआ भी असद्भूत व्यवहार नय नयाभास ही है?

उत्तर—

नैवं यतो यथा ते क्रोधाद्या जीवसंभवा भावाः।
न तथा पुद्गलवपुषः सन्ति च वर्णादयो हि जीवस्य ॥ ५६५ ॥

अर्थ—शंकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार क्रोधादिक भाव जीवसे उत्पन्न हैं अथवा जीवके हैं। उस प्रकार पुद्गलमय वर्णादिक जीवके भाव नहीं हैं। भावार्थ–पुद्गल कर्मके निमित्तसे आत्माके चारित्र गुणका जो विकार है उसे ही क्रोध, मान, माया, लोभादिके नामसे कहा जाता है। इसलिये क्रोधादिक आत्माके ही वैभाविक भाव हैं। अतः जीवमें उनको आरोप करना असद्गुणारोप नहीं कहा जासक्ता किन्तु तद्-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणारोप ही है । वे भाव शुद्धात्माके नहीं हैं किन्तु परके निमित्तसे होते हैं इसलिये उन्हें असद्भूत नयका विषय कहा जाता है । चाहे सद्भूत हो अथवा असद्भूत हो, तद्गुणारोपी ही नय है अन्यथा वह नयाभास है । रूप, रस, गन्धादिक पुद्गलके ही गुण हैं, वे जीवके किसी प्रकार नहीं कहे जासक्ते हैं । रूप रसादिको जीवके भाव कहना, यह अतद्गुणारोप है इसलिये यह नयाभास है ।

कुछ नयाभासोंका उल्लेख—

अथ सन्ति नयाभासा यथोपचाराख्यहेतुदृष्टान्ताः ।
अत्रोच्यन्ते केचिद्धेयतया वा नयादिशुद्ध्यर्थम् ॥ ५६६ ॥

अर्थ—उपचार नामवाले (उपचार पूर्वक) हेतु दृष्टान्तोंको ही नयाभास कहते हैं । यहांपर कुछ नयाभासोंका उल्लेख किया जाता है । वह इसलिये कि उन नयाभासोंको समझकर उन्हें छोड़ दिया जाय अथवा उन नयाभासोंके देखनेसे शुद्ध नयोंका परिज्ञान हो-जाय ।

लोक व्यवहार—

अस्ति व्यवहारः किल लोकानामयमलब्धबुद्धित्वात् ।
योऽयं मनुजादिवपुर्भवति सजीवस्ततोप्यनन्यत्वात् ॥५६७॥

अर्थ—बुद्धिका अभाव होनेसे लोकोंका यह व्यवहार होता है कि जो यह मनुष्यादि-का शरीर है वह जीव है क्योंकि वह जीवसे अभिन्न है ।

यह व्यवहार मिथ्या है ।

सोऽयं व्यवहारः स्यादव्यवहारो यथापसिद्धान्तात् ।
अप्यपसिद्धान्तत्वं नासिद्धं स्यादनेकधर्मित्वात् ॥५६८॥

अर्थ—शरीरमें जीवका व्यवहार जो लोकमें होता है वह व्यवहार अयोग्य व्यवहार है, अथवा व्यवहारके अयोग्य व्यवहार है । कारण वह सिद्धान्त विरुद्ध है । सिद्धान्त विरुद्धता इस व्यवहारमें असिद्ध नहीं है, किन्तु शरीर और जीवको भिन्न २ धर्मी होनेसे प्रसिद्ध ही है । **भावार्थ**—शरीर पुद्गल द्रव्य भिन्न पदार्थ है और जीव द्रव्य भिन्न पदार्थ है, फिर भी जो लोग शरीरमें जीव व्यवहार करते हैं वे अवश्य सिद्धान्त विरुद्ध कहते हैं ।

नाशङ्क्यं कारणमिदमेकक्षेत्रावगाहिमात्रं यत् ।
सर्वद्रव्येषु यतस्तथावगाहाद्भवेदतिव्याप्तिः ॥५६९॥

अर्थ—शरीर और जीव दोनोंका एक क्षेत्रमें अवगाहन (स्थिति) है इसी कारण लोकमें वैसा व्यवहार होता है ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि एक क्षेत्रमें तो सम्पूर्ण द्रव्योंका अवगाहन होरहा है, यदि एक क्षेत्रमें अवगाहन होना ही एकताका कारण हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो सभी पदार्थोंमें अतिव्याप्ति दोष उत्पन्न होगा। भावार्थ–धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव, पुद्गल ये छहों द्रव्य एक क्षेत्रमें रहते हैं परन्तु छहोंके लक्षण जुदे २ हैं यदि एक क्षेत्रावगाह ही एकताका कारण हो तो छहोंमें अतिव्याप्ति दोष आवेगा, अथवा उनमें अनेकता न रहेगी।

अपि भवति बन्ध्यबन्धकभावो यदिवानयोर्न शङ्क्यमिति।
तदनेकत्वे नियमात्तद्बन्धस्य स्वतोप्यसिद्धत्वात् ॥ ५७० ॥

अर्थ—कदाचित् यह कहा जाय कि जीव और शरीरमें परस्पर बन्ध्य बन्धक भाव है इसलिये वैसा व्यवहार होता है, ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये क्योंकि बन्ध नियमसे अनेक पदार्थोंमें होता है। एक पदार्थमें अपने आप ही बन्धका होना असिद्ध ही है। भावार्थः—पुद्गलको बाँधनेवाला आत्मा है, आत्मासे बँधनेवाला पुद्गल है। इसलिये पुद्गल शरीर बन्ध्य है, आत्मा उसका बन्धक है। ऐसा बन्ध्य बन्धक सम्बन्ध होनेसे शरीरमें जीव व्यवहार किया जाता है ऐसी आशंका भी निर्मूल है, क्योंकि बन्ध तभी होसक्ता है जब कि दो पदार्थ प्रसिद्ध हों अर्थात् बन्ध्यबंधक भावमें तो द्वैत ही प्रतीत होता है।

अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथः।
न यतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया ॥५७१॥

अर्थ—कदाचित् मनुष्यादि शरीरमें जीवत्व बुद्धिका कारण शरीर और जीवका निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सक्ता, कारण जो अपने आप परिणमनशील है उसके लिये निमित्तपनेसे क्या प्रयोजन? अर्थात् जीवस्वरूपमें निमित्त कारण कुछ नहीं कर सक्ता। भावार्थ–जीव और शरीरमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध शरीरमें निमित्तता और जीवमें नैमित्तिकताका ही सूचक होगा, वह सम्बन्ध दोनोंमें एकत्व बुद्धिका जनक नहीं कहा जा सक्ता, क्योंकि जीव अपने स्वरूपसे ही परिणमन करता है, निमित्त कारणके निमित्तसे उसमें पररूपता नहीं आती। इसलिये मनुष्यादि शरीरमें जीव व्यवहार करना नयाभास है।

दूसरा नयाभास—

अपरोपि नयाभासो भवति यथा मूर्तस्य तस्य सतः।
कर्त्ता भोक्ता जीवः स्यादपि नोकर्मकर्मकृतेः ॥ ५७२ ॥

अर्थ—आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, तैजसवर्गणा, मनोवर्गणा ये चार वर्गणायें जब आत्मासे सम्बन्धित होती हैं, तब वे नोकर्मके नामसे कहीं जातीं हैं, और कार्माणवर्गणा जब आत्मासे सम्बन्धित होकर कर्मरूप–ज्ञानावरणादिरूप परिणत होती है तब वह कर्मके नामसे कही जाती है। ये कर्म और नोकर्म पुद्गलकी पर्यायें हैं, अतएव वे मूर्त हैं। उन मूर्त कर्म नोकर्मका जीव कर्ता तथा भोक्ता है ऐसा कहना दूसरा नयाभास है। भावार्थ—जीव अ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूर्तस्वरूपवाला है, वह अपने ज्ञानादिभावोंका ही कर्त्ता भोक्ता हो सक्ता है, उसको ज्ञानादि-भावोंका कर्त्ता भोक्ता कहना भी व्यवहार ही है। परन्तु जो उसे मूर्त पदार्थोंका कर्त्ता भोक्ता व्यवहार नयसे बतलाते हैं उस विषयमें आचार्य कहते हैं कि वह नय नहीं किन्तु नयाभास है।

नयाभास यों है—

नाभासत्त्वमसिद्धं स्यादप्यसिद्धान्ततो नयस्यास्य।
सदनेकत्वे सति किल गुणसंक्रातिः कुतः प्रमाणाद्वा ॥५७३॥
गुणसंक्रातिमृते यदि कर्त्ता स्यात्कर्मणश्च भोक्तात्मा।
सर्वस्य सर्वसंकरदोषः स्यात् सर्वशून्यदोषश्च ॥ ५७४ ॥

अर्थ—मूर्तकर्मोंका जीवको कर्त्ता भोक्ता बतलानेवाला व्यवहार नय नयाभास है यह बात असिद्ध नहीं है कारण ऐसा व्यवहार नय सिद्धान्तविरुद्ध है। सिद्धान्तविरुद्धताका भी कारण यह है कि जब कर्म और जीव दोनों भिन्न २ पदार्थ हैं तब उनमें गुणसंक्रमण किस प्रमाणसे होगा? अर्थात् नहीं होगा तथा विना गुणोंके परिवर्त्तन हुए जीव, कर्मका कर्त्ता भोक्ता नहीं होसक्ता, यदि विना गुणोंकी संक्रातिके ही जीव कर्मका कर्त्ता भोक्ता होजाय तो सब पदार्थोंमें सर्वसंकर दोष उत्पन्न होगा। तथा सर्वशून्य दोष भी उत्पन्न होगा। भावार्थ—यदि जीवके गुण पुद्गलमें चले जायं तभी जीव पुद्गलका कर्त्ता भोक्ता हो सक्ता है। कपड़ा बुननेवालेके कुछ गुण वा सब गुण उस कपड़ेमें आवें तभी वह बुननेवाला उस कपड़ेका कर्त्ता कहा जासक्ता है। अन्यथा कपड़ेमें उसकी कर्तृता क्या आई? कुछ भी नहीं केवल निमित्तता है। यदि विना गुणोंका संक्रमण हुए ही जीवमें पुद्गलका कर्तृत्व माना जाय तो सभी पदार्थ एक दूसरेके कर्त्ता होसक्ते हैं। ऐसी अवस्थामें धर्मादि द्रव्योंका भी जीवमें कर्तृत्व सिद्ध होगा।

भ्रमका कारण—

अस्त्यत्र भ्रमहेतुर्जीवस्याशुद्धपरिणतिं प्राप्य।
कर्मत्वं परिणमते स्वयमपि मूर्तिमद्यतो द्रव्यम् ॥ ५७५ ॥

अर्थ—जीव कर्मोंका कर्त्ता है, इस भ्रमका कारण भी यह है कि जीवकी अशुद्ध परिणतिके निमित्तसे पुद्गलद्रव्य—कार्माण वर्गणा स्वयं (उपादान) कर्मरूप परिणत होजाती है। भावार्थ—जीवके रागद्वेष भावोंके निमित्तसे कार्माण वर्गणा कर्म पर्यायको धारण करती है। इसीलिये उसमें जीवकर्तृताका भ्रम होता है।

समाधान—

इदमत्र समाधानं कर्त्ता यः कोपि सः स्वभावस्य।
परभावस्य न कर्त्ता भोक्ता वा तन्निमित्तमात्रेपि ॥५७६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—उस भ्रमका समाधान यह है कि जो कोई भी कर्त्ता होगा वह अपने स्वभावका ही कर्त्ता होगा। उसका निमित्त कारण मात्र होनेपर भी कोई परभावका कर्त्ता अथवा भोक्ता नहीं होसक्ता है।

दृष्टान्त—

भवति स यथा कुलालः कर्त्ता भोक्ता यथात्मभावस्य।
न तथा परभावस्य च कर्त्ता भोक्ता कदापि कलशस्य ॥५७७॥

अर्थ—कुम्हार सदा अपने स्वभावका ही कर्त्ता भोक्ता होता है वह परभाव-कलशका कर्त्ता भोक्ता कभी नहीं होता, अर्थात् कलशके बनानेमें वह केवल निमित्त कारण है। निमित्त मात्र होनेसे वह उसका कर्त्ता भोक्ता नहीं कहा जासक्ता।

उसीका उल्लेख—

तदभिज्ञानं च यथा भवति घटो मृत्तिकास्वभावेन।
अपि मृण्मयो घटः स्यान्न स्यादिह घटः कुलालमयः ॥५७८॥

अर्थ—कुम्हार कलशका कर्त्ता क्यों नहीं है इस विषयमें यह दृष्टान्त प्रत्यक्ष है कि घट मिट्टीके स्वभाववाला होता है, अथवा मिट्टी स्वरूप ही वह होता है, परन्तु घट कभी कुम्हारके स्वभाववाला अथवा कुम्हारस्वरूप नहीं होता है। **भावार्थ**—जब घटके भीतर कुम्हारका एक भी गुण नहीं पाया जाता है तब कुम्हारने घटका क्या किया? अर्थात् कुछ नहीं किया, केवल वह उसका निमित्त मात्र है।

लोक व्यवहार मिथ्या है—

अथ चेद्घटकर्त्तासौ घटकारो जनपदोक्तिलेशोयम्।
दुर्वारो भवतु तदा कानो हानिर्यदा नयाभासः ॥५७९॥

अर्थ—यदि यह कहाजाय कि लोकमें यह व्यवहार होता है कि घटकार-कुम्हार घटका बनानेवाला है; सो क्यों? आचार्य कहते हैं कि उस व्यवहारको होने दो, उससे हमारी कोई हानि नहीं है परन्तु उसे नयाभास समझो, अर्थात् उसे नयाभास समझते हुए बराबर व्यवहार करो इससे हमारे कथनमें कोई बाधा नहीं आती है। परन्तु यदि उसे नय समझने वाला लोकव्यवहार है तो वह मिथ्या है।

तीसरा नयाभास—

अपरे बहिरात्मानो मिथ्यावादं वदन्ति दुर्मतयः।
यदवद्धेपि परस्मिन् कर्त्ता भोक्ता परोपि भवति यथा ॥५८०॥

अर्थ—और भी खोटी बुद्धिके धारण करनेवाले मिथ्यादृष्टी पुरुष मिथ्या बातें कहते हैं। जैसे-जो पर पदार्थ सर्वथा दूर है, जीवके साथ जो बँधा हुआ भी नहीं है उसका भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव कर्त्ता भोक्ता होता है। ऐसा वे कहते हैं।

सद्वेद्योदयभावान् गृहधनधान्यं कलत्रपुत्राँश्च ।
स्वयमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च ॥५८१॥

अर्थ—सातावेदनीय कर्मके उदयसे होनेवाले जो घर धन, धान्य, स्त्री, पुत्र आदि सजीव निर्जीव पदार्थ (स्थावर जंगम सम्पत्ति) हैं उनका जीव ही स्वयं कर्त्ता है और वही जीव उनका भोक्ता है।

शङ्काकार—

ननु सति गृहवनितादौ भवति सुखं प्राणिनामिहाध्यक्षात् ।
असति च तत्र न तदिदं तत्तत्कर्त्ता स एव तद्भोक्ता ॥ ५८२ ॥

अर्थ—यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि घर, स्त्री आदिके होने पर ही जीवोंको सुख होता है उनके अभावमें उन्हें सुख भी नहीं होता। इसलिये जीव ही उनका कर्त्ता है और वही उनका भोक्ता है ? अर्थात् अपनी सुख सामग्रीको यह जीव स्वयं संग्रह करता है और स्वयं उसको भोगता है।

उत्तर—

सत्यं वैषयिकमिदं परमिह तदपि न परत्र सापेक्षम् ।
सति बहिरर्थेपि यतः किल केषाञ्चिदसुखादिहेतुत्वात् ॥५८३॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि घर वनितादिके संयोगसे यह संसारी जीव सुख समझने लगता है परन्तु उसका यह सुख केवल वैषयिक—विषयजन्य है। वास्तविक नहीं है। सो भी घर, स्त्री आदि पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं रखता है। कारण घर स्त्री आदि बाह्य पदार्थोंके होने पर भी किन्हीं पुरुषोंको सुखके बदले दुःख होता है, उनके लिये वही सामग्री दुःखका कारण होती है।

सारांश—

इदमत्र तात्पर्यं भवतु स कर्त्ताथ वा च मा भवतु ।
भोक्ता स्वस्य परस्य च यथाकथञ्चिच्चिदात्मको जीवः ॥५८४॥

अर्थ—यहां पर सारांश इतना ही है कि जीव अपना और परका यथा कथंचित् कर्त्ता हो अथवा भोक्ता हो अथवा मत हो परन्तु वह चिदात्मक—चैतन्य स्वरूप है। **भावार्थ**—जीव सदा अपने भावोंका ही कर्त्ता भोक्ता है। परका नहीं।

चौथा नयभास—

अयमपि च नयाभासो भवति मिथो बोध्यबोधसम्बन्धः ।
ज्ञानं ज्ञेयगतं वा ज्ञानगतं ज्ञेयमेतदेव यथा ॥५८५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—परस्पर ज्ञान और ज्ञेयका जो बोध्यबोधरूप सम्बन्ध है, उसके कारण ज्ञानको ज्ञेयगत–ज्ञेयका धर्म मानना अथवा ज्ञेयको ज्ञानगत मानना यह भी नयाभास है। भावार्थ–ज्ञानका स्वभाव है कि वह हरएक पदार्थको जाने परन्तु किसी पदार्थको जानता हुआ भी वह सदा अपने ही स्वरूपमें स्थिर रहता है, वह पदार्थमें नहीं चला जाता है और न वह उसका धर्म ही हो जाता है। तथा न पदार्थका कुछ अंश ही ज्ञानमें आता है, जो कोई इसके विरुद्ध मानते हैं वे नयाभास मिथ्याज्ञानसे ग्रसित हैं।

दृष्टांत–

चक्षू रूपं पश्यति रूपगतं तन्न चक्षुरेव यथा।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति च ज्ञेयगतं वा न भवति तज्ज्ञानम् ॥५८६॥

अर्थ—जिस प्रकार चक्षु रूपको देखता है, परन्तु वह रूपमें चला नहीं जाता है। अथवा रूपका वह धर्म नहीं हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयपदार्थको जानता है परन्तु वह ज्ञान ज्ञेयमें नहीं जाता है अथवा उसका धर्म नहीं हो जाता है।

इत्यादिकाश्च बहवः सन्ति यथालक्षणा नयाभासाः।
तेषामयमुद्देशो भवति विलक्ष्यो नयान्नयाभासः ॥५८७॥

अर्थ—कुछ नयाभासोंका ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके सिवा और भी बहुतसे नयाभास हैं जो कि वैसे ही लक्षणोंवाले हैं। उन सब नयाभासोंका यह उद्देश्य–आशय नयसे विरुद्ध है। इसीलिये वे नयाभास कहे जाते हैं। भावार्थ-नयोंका जो स्वरूप कहा गया है उससे नयाभासोंका स्वरूप विरुद्ध है। इसलिये जो समीचीन नय है उसे नय कहते है और मिथ्या नयको नयाभास कहते हैं।

शङ्काकार—

ननु सर्वतो नयास्ते किं नामानोथ वा कियन्तश्च।
कथमिव मिथ्यार्थास्ते कथमिव ते सन्ति सम्यगुपदेश्याः ॥५८८॥

अर्थ—सम्पूर्ण नयोंके क्या २ नाम हैं और वे समस्त नय कितने हैं, तथा कैसे वे मिथ्या अर्थको विषय करनेवाले होजाते हैं और कैसे यथार्थ पदार्थको विषय करनेवाले होते हैं? अर्थात् कैसे वे ठीक २ कहे जाते हैं और कैसे विरुद्ध कहे जाते हैं?

उत्तर: (नयवादके भेद)

सत्यं यावदनन्ताः सन्ति गुणा वस्तुतो विशेषाख्याः।
तावन्तो नयवादा वचोविलासा विकल्पाख्याः ॥ ५८९ ॥
अपि निरपेक्षा मिथ्यास्त एव सापेक्षका नयाः सम्यक्।
अविनाभावत्वे सति सामान्यविशेषयोश्च सापेक्षात् ॥५९०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—वास्तवमें जितने भी वस्तुके अनन्त विशेष गुण हैं उतने ही नयवाद हैं, तथा जितनी भी वचनविवक्षा है वह सब नयवाद है। कारण विशेष गुणोंका परिज्ञान और वचनविकल्प दोनों ही विकल्पात्मक हैं। विकल्पज्ञानको ही नय कहते हैं, तथा जो निरपेक्ष नय हैं वे ही मिथ्या नय हैं। जो दूसरे नयकी अपेक्षा रखते हैं वे नय यथार्थ नय हैं, क्योंकि सामान्य विशेषात्मक ही पदार्थ है। इसलिये सामान्य विशेष दोनोंमें परस्पर अविनाभाव होनेसे सापेक्षता है। भावार्थ—वस्तुमें जितने भी गुण हैं वे सब जिस समय विवक्षित किये जाते हैं उस समय नय कहलाते हैं। इसलिये ज्ञानकी अपेक्षासे अनन्त नय हैं, क्योंकि जितना भी भेदरूप विज्ञान है सब नयवाद है। वचन तो नयवाद सुसिद्ध है। यहांपर विशेष गुणोंका उल्लेख इसलिये किया गया है कि शुद्धपदार्थके निरूपणमें तद्गुण ही नय कहा गया है। तद्गुण विशेष ही हो सक्ता है तथा निरपेक्ष नयको मिथ्या इसलिये कहा गया है कि नय, पदार्थके विवक्षित अंशका ही विवेचन करता है, निरपेक्ष अवस्थामें वह विवेचन एकान्तरूप पड़ता है, परन्तु पदार्थ उतना ही नहीं है जितना कि वह विवेचित किया गया है। उसके अन्य भी अनंत धर्म हैं। इसलिये वह एकान्त विवेचन या ज्ञान मिथ्या है। यदि अन्य धर्मोंकी अपेक्षा रखकर किसी नयका प्रयोग किया जाता है तो वह समीचीन प्रयोग है, क्योंकि वह सापेक्ष नय वस्तुके एक अंशको तो कहता है परन्तु पदार्थको उस अंशरूप ही नहीं समझता है। इसलिये सापेक्ष नय सम्यक् नय है। निरपेक्ष नय मिथ्या नय है।

सापेक्षत्वं नियमादविनाभावस्त्वन्यथासिद्धः।
अविनाभावोपि यथा येन विना जायते न तत्सिद्धिः॥ ५९१॥

अर्थ—सामान्य विशेषमें परस्पर सापेक्षता इसलिये है कि उनमें नियमसे अविनाभाव है। उनका अविनाभाव अन्यथा सिद्ध नहीं है अर्थात् और प्रकार नहीं बन सक्ता है। अविनाभाव उसे कहते हैं कि जिसके विना जिसकी सिद्धि न हो। भावार्थ—सामान्यके विना विशेष नहीं सिद्ध होता है और विशेषके विना सामान्य नहीं सिद्ध होता है। अतएव इन दोनोंमें अविनाभाव है। परस्पर अविनाभाव होनेके कारण ही दोनोंमें सापेक्षता है।

नयोंके नाम—

अस्त्युक्तो यस्य सतो यन्नामा यो गुणो विशेषात्मा।
तत्पर्यायविशिष्टास्तन्नामानो नया यथाम्नायात॥ ५९२॥

अर्थ—जिस द्रव्यका जिस नामवाला विशेष गुण कहा जाता है, उस गुणकी पर्यायोंको विषय करनेवाला अथवा उस गुणको विषय करनेवाला नय भी आगमके अनुसार उसी नामसे कहा जाता है। इसी प्रकार जितने भी गुण विवक्षित किये जाते हैं वे जिस २

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामवाले हैं उनको प्रतिपादन करनेवाले या जाननेवाले नय भी उन्हीं नामोंसे कहे जाते हैं।

दृष्टान्त—

अस्तित्वं नाम गुणः स्यादिति साधारणः सतस्तस्य।
तत्पर्यायश्च नयः समासतोस्तित्वनय इति वा॥ ५९३॥

अर्थ—द्रव्यका एक सामान्य गुण अस्तित्व नामवाला है, उस अस्तित्वको विषय करनेवाला नय भी संक्षेपसे अस्तित्व नय कहलाता है।

कर्तृत्वं जीवगुणोस्त्वथ वैभाविकोऽथवा भावः।
तत्पर्यायविशिष्टः कर्तृत्वनयो यथा नाम॥ ५९४॥

अर्थ—जीवका कर्तृत्व गुण है, अथवा उसका वह वैभाविक भाव है, उस कर्तृत्व पर्यायको विषय करनेवाला नय भी कर्तृत्व नय कहलाता है। **भावार्थ**—कर्तृत्व गुणको विषय करनेवाला नय भी कर्तृत्व नय कहा जाता है, और क्रोध कर्तृत्व, मान कर्तृत्व, ज्ञान कर्तृत्व आदि पर्यायोंको विषय करनेवाला नय भी उसी नामसे कहा जाता है।

अनया परिपाट्या किल नयचक्रं यावदस्ति बोद्धव्यम्।
एकैकं धर्मं प्रति नयोपि चैकैक एव भवति यतः॥ ५९५॥

अर्थ—जितना भी नयचक्र है वह सब इसी परिपाटी (शैली)से जान लेना चाहिये, क्योंकि एक २ धर्मके प्रति नय भी एक २ है। इसलिये वस्तुमें जितने धर्म हैं नय भी उतने और उन्हीं नामोंवाले हैं।

सोदाहरणो यावान्नयो विशेषणविशेष्यरूपः स्यात्।
व्यवहारापरनामा पर्यायार्थो नयो न द्रव्यार्थः॥ ५९६॥

अर्थ—जितना भी उदाहरण सहित नय है और विशेषण विशेष्यरूप नय है वह सब पर्यायार्थिक नय है, उसीका दूसरा नाम व्यवहार नय है। उदाहरण पूर्वक विशेषण विशेष्यको विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय नहीं है। **भावार्थ**—जो कुछ भी भेद विवक्षासे कहा जाता है वह सब व्यवहार अथवा पर्याय नय है।

प्रश्न—

ननु चोक्तलक्षण इति यदि न द्रव्यार्थिको नयो नियमात्।
कोऽसौ द्रव्यार्थिक इति पृष्टास्तच्चिन्हमाहुराचार्याः॥ ५९७॥

अर्थ—यदि उपर्युक्त लक्षणवाला द्रव्यार्थिक नय नहीं है तो फिर द्रव्यार्थिक नय कौन है? इसप्रकार किसीने आचार्यसे प्रश्न किया, प्रश्नानुसार अब आचार्य द्रव्यार्थिक नयका लक्षण कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यार्थिक नयका स्वरूप।

व्यवहारः प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेधकश्च परमार्थः ।
व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात् ॥५९८॥

अर्थ—व्यवहार प्रतिषेध्य है अर्थात् निषेध करने योग्य है, उसका निषेध करनेवाला निश्चय है। इसलिये व्यवहारका निषेध ही निश्चय नयका वाच्य—अर्थ है। **भावार्थ**—जो कुछ भी व्यवहार नयसे कहा जाता है वह सब हेय—छोड़ने योग्य है। कारण जो कुछ व्यवहार नय कहता है वह पदार्थका स्वरूप नहीं है, पदार्थ अभिन्न—अखण्ड—अवक्तव्यरूप है। व्यवहार नय उसका भेद बतलाता है। पदार्थ अनन्त गुणात्मक है, व्यवहार नय उसे किसी विवक्षित गुणसे विवेचित करता है। पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है, व्यवहार नय उसे अंशरूपसे ग्रहण करता है, इसलिये जो कुछ भी व्यवहार नयका विषय है वह सब निषेध करने योग्य है वह निषेध ही निश्चय नयका विषय है। जैसे—व्यवहार नय गुणगुणीमें भेद बतलाता है निश्चय नय कहता है कि 'ऐसा नहीं है'। व्यवहार नयमें जो कुछ विषय पड़ता है उसका निषेध करना ही निश्चय नयका वाच्यार्थ है।

दृष्टान्त—

व्यवहारः स यथा स्यात्सद्द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा ।
नेत्येतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः ॥५९९॥

अर्थ—व्यवहार नय विवेचन करता है अथवा जानता है कि द्रव्य सत्‌रूप है, निश्चय नय बतलाता है कि नहीं। व्यवहार नय बतलाता है कि जीव ज्ञानवान् है, निश्चय नय बतलाता है कि नहीं। इस प्रकार न—निषेधको विषय करनेवाला ही निश्चय नय है, और वही सब नयोंका शिरोमणि है। **भावार्थ**—व्यवहार नयने द्रव्यको सत्स्वरूप बतलाया है, परन्तु निश्चय नय इसका निषेध करता है कि नहीं, अर्थात् पदार्थ ऐसा नहीं है। कारण—सत्‌नाम अस्तित्व गुणका है, पदार्थ केवल अस्तित्व गुण स्वरूप तो नहीं है किन्तु अनन्त गुणात्मक है इसलिये पदार्थको सदात्मक बतलाना ठीक नहीं है। इसीलिये निश्चय नय उसका निषेध करता है। इसी प्रकार जीवको ज्ञानवान् कहना यह भी व्यवहार नयका विषय है। निश्चय नय इसका निषेध करता है कि नहीं, अर्थात् जीव ऐसा नहीं है, क्योंकि जीव अनन्तगुणोंका अखण्ड पिण्ड है, इसलिये वे अनन्तगुण अभिन्न प्रदेशी हैं। अभिन्नतामें गुण गुणीका भेद करना ही मिथ्या है इसलिये निश्चय नय उसका निषेध करता है। निश्चय नय व्यवहारके समान किसी पदार्थका विवेचन नहीं करता है किन्तु जो कुछ व्यवहार नयसे विवेचन किया जाता है अथवा भेदरूप जाना जाता है उसका निषेध करता है। यदि वह भी किसी विषयका विवेचन करे तो वह भी मिथ्या ठहरेगा। कारण—जितना भी विवे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन है वह सब अंशरूप है इसलिये वह मिथ्या है। अतएव निश्चय नय कुछ न कहकर केवल निषेध करता है। शङ्का हो सक्ती है कि जब निश्चय नय केवल निषेध ही करता है तो फिर इसने कहा क्या? इसका विषय क्या समझा जाय? उत्तर—न—निषेध ही इसका विषय है। इस निषेधसे यही ध्वनि निकलती है कि पदार्थ अवक्तव्य स्वरूप है। परन्तु उसकी अवक्तव्यताका प्रतिपादन करना भी वक्तव्य ही है। इसलिये प्रतिपादन मात्रका निषेध करना ही उसकी अवक्तव्यताका सूचक है। अतएव निश्चय नय नयाधिपति है।

शङ्काकार—

ननु चोक्तं लक्षणमिह नयोस्ति सर्वोपि किल विकल्पात्मा।
तदिह विकल्पाभावात् कथमस्य नयत्वमिदमिति चेत् ॥६००॥

अर्थ—यह बात पहले कही जा चुकी है कि सभी नय विकल्पात्मक ही होते हैं। नयका लक्षण ही विकल्प है। फिर इस द्रव्यार्थिक नय—निश्चय नयमें विकल्प तो कुछ पड़ता ही नहीं है। क्योंकि उक्त नय केवल निषेधात्मक है। इसलिये विकल्पका अभाव होनेसे इस नयको नयपना ही कैसे आवेगा? अर्थात् इस नयमें नयका लक्षण ही नहीं जाता है।

द्रव्यार्थिक नय भी विकल्पात्मक है—

तन्न यतोस्ति नयत्वं नेति यथा लक्षितस्य पक्षत्वात्।
पक्षग्राही च नयः पक्षस्य विकल्पमात्रत्वात् ॥ ६०१ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है। क्योंकि द्रव्यार्थिक नयमें भी न (निषेधात्मक) यह पक्ष आता ही है। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि द्रव्यार्थिक नयका वाच्य 'न' है अर्थात् निषेध है। यह निषेध ही उसका एक पक्ष है और पक्षका ग्राहक ही नय होता है, तथा पक्ष ही विकल्पात्मक होता है। भावार्थ—नयका लक्षण विकल्प बतलाया गया है। द्रव्यार्थिक नयमें निषेधरूप विकल्प पड़ता ही है, अथवा किसी एक पक्षके ग्रहण करनेवाले ज्ञानको अथवा उसके वाचक वाक्यको भी नय कहते हैं। द्रव्यार्थिक—निश्चय नयमें निषेधरूप पक्षका ही ग्रहण होता है। जिस प्रकार व्यवहार नय किसी धर्मका प्रतिपादन करनेसे विकल्पात्मक है उसी प्रकार व्यवहार नयके विषयभूत पदार्थका निषेध करने रूपका प्रतिपादन करनेसे निश्चय नय भी विकल्पात्मक ही है। इसलिये नयका लक्षण निश्चय नयमें सुघटित ही है।

तथा—

प्रतिषेध्यो विधिरूपो भवति विकल्पः स्वयं विकल्पत्वात्।
प्रतिषेधको विकल्पो भवति तथा सः स्वयं निषेधात्मा॥ ६०२॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रतिषेध्य विधिरूप है और स्वयं विकल्परूप होनेसे विकल्पात्मक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। उसी प्रकार प्रतिषेधक भी निषेधात्मक विकल्परूप है। भावार्थ—जैसे प्रतिषेध्यमें विधिरूप पक्ष होनेसे वह विकल्पात्मक है वैसे प्रतिषेधकमें निषेधरूप पक्ष होनेसे वह भी विकल्पात्मक है।

दृष्टान्त—

तल्लक्षणमपि च यथा स्यादुपयोगो विकल्प एवेति।
अर्थानुपयोगः किल वाचक इह निर्विकल्पस्य ॥ ६०३ ॥
अर्थाकृतिपरिणमनं ज्ञानस्य स्यात् किलोपयोग इति।
नार्थाकृतिपरिणमनं तस्य स्यादनुपयोग एव यथा ॥ ६०४ ॥
नेति निषेधात्मा यो नानुपयोगः स्वबोधपक्षत्वात्।
अर्थाकारेण विना नेतिनिषेधावबोधशून्यत्वात् ॥ ६०५ ॥

अर्थ—प्रतिषेधक भी विकल्पात्मक है इस बातको ही इन श्लोकों द्वारा स्पष्ट किया जाता है। पदार्थका उपयोग ही तो विकल्प कहा जाता है, तथा पदार्थका अनुपयोग निर्विकल्प कहा जाता है, तथा ज्ञानका पदार्थाकार परिणमन होना ही उपयोग कहलाता है, उसका अर्थाकार परिणमन न होना अनुपयोग कहलाता है। जब उपयोग अनुपयोगकी ऐसी व्यवस्था है तब द्रव्यार्थिक नयमें 'न' इत्याकारक जो निषेधात्मक बोध है वह भी निषेध ज्ञानरूप पक्षसे विशिष्ट होनेसे अनुपयोग नहीं कहा जा सक्ता है। किन्तु उपयोग ही है, क्योंकि उपयोग उसीको कहते हैं कि जिस ज्ञानमें पदार्थाकार परिणमन हो। यहां पर भी अर्थाकार परिणमनके बिना 'न' इत्याकारक निषेधात्मक ज्ञान नहीं हो सक्ता है। परन्तु द्रव्यार्थिक नयमें निषेधरूप बोध होता है। इसलिये निषेधाकार परिणमन होनेसे द्रव्यार्थिक नय भी उपयोगात्मक है और उपयोगको ही विकल्प कहते हैं।

भावार्थ—किसी पदार्थको ज्ञान विषय करे इसीका नाम उपयोग है। यही उपयोग विकल्पात्मक बोध कहा जाता है। जिस प्रकार व्यवहार नयके विषयभूत पदार्थोंको विषय करनेसे वह नय उपयोगात्मक होनेसे विकल्पात्मक है, उसी प्रकार उस नयके विषयभूत पदार्थोंका निषेध करने रूप पदार्थको विषय करनेसे द्रव्यर्थिक नय भी उपयोगात्मक होनेसे विकल्पात्मक है। व्यवहार नयमें विधि विषय पड़ा है, यहां पर निषेध विषय पड़ा है। विषय बोधसे व्यवहारके समान वह भी खाली नहीं है। इसलिये द्रव्यर्थिक नयमें नयका लक्षण सुघटित ही है।

दृष्टान्त—

जीवो ज्ञानगुणः स्यादर्थालोकं विना नयो नासौ।
नेति निषेधात्मत्वादर्थालोकं विना नयो नासौ ॥३०६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—जिस 'प्रकार जीव ज्ञान गुणवाला है, यह नय (व्यवहार) अर्थालोकके विना अर्थात् पदार्थको विषय करनेके विना नहीं होता है, उसी प्रकार' ऐसा नहीं है, यह नय (निश्चय) भी निषेधको विषय करनेसे अर्थालोकके विना नहीं होता है। विषय बोधसे दोनों ही सहित हैं।

स्पष्टी करण—

स यथा शक्तिविशेषं समीक्ष्य पक्षश्चिदात्मको जीवः।
न तथेत्यपि पक्षः स्यादभिन्नदेशादिकं समीक्ष्य पुनः॥ ६०७॥

अर्थ—जीवकी विशेष शक्तिको देख कर (विचार कर) यह कहना या समझना कि जीव चिदात्मक है जिस प्रकार यह पक्ष है, उसी प्रकार जीवको अभिन्न प्रदेशी समझ कर यह कहना या समझना कि वैसा नहीं है, यह भी तो पक्ष है। पक्षग्राहिता उभयत्र समान है, क्योंकि—

अर्थालोकविकल्पः स्यादुभयत्राविशेषतोपि यतः।
न तथेत्यस्य नयत्वं स्यादिह पक्षस्य लक्षकत्वाच्च॥ ६०८॥

अर्थ—अर्थका प्रकाश—पदार्थ विषयितारूप विकल्प दोनों ही जगह समान हैं। इसलिये वैसा नहीं है, इत्याकारक निषेधको विषय करनेसे द्रव्यार्थिक नयमें नयपना है ही। कारण उसने एक निषेध पक्षका अवलम्बन किया है।

एकाङ्गग्रहणादिति पक्षस्य स्यादिहांशधर्मत्वम्।
न तथेति द्रव्यार्थिकनयोस्ति मूलं यथा नयत्वस्य॥ ६०९॥

अर्थ—पक्ष उसीको कहते हैं जो एक अंगको ग्रहण करता है। इसलिये 'न तथा' इस पक्षमें भी अंश धर्मता है ही। अतएव 'न तथा' को विषय करनेवाला द्रव्यार्थिक नय एक अंशको विषय करनेसे पक्षात्मक है।

एकाङ्गत्वमसिद्धं न नेति निश्चयनयस्य तस्य पुनः।
वस्तुनि शक्तिविशेषो यथा तथा तदविशेषशक्तित्वात्॥६१०॥

अर्थ—न, इस निषेधको विषय करनेवाले निश्चयनयमें एकाङ्गता असिद्ध नहीं है, किन्तु सिद्ध ही है। जिस प्रकार वस्तुमें विशेष शक्ति होती है, उसी प्रकार उसमें सामान्य शक्ति भी होती है।

भावार्थ—पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है, वही प्रमाणका विषय है, तथा सामान्यांश द्रव्यार्थिकनयका विषय है, विशेषांश पर्यायार्थिकनयका विषय है। इसलिये विशेषके निषेध-रूप सामान्यांशको विषय करनेवाले निश्चयनय-द्रव्यार्थिकनयमें एकाङ्गता सिद्ध ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शङ्काकार—

ननु च व्यवहारनयः सोदाहरणो यथा तथायमपि ।
भवतु तदा को दोषो ज्ञानविकल्पाविशेषतो न्यायात् ॥६११॥
स यथा व्यवहारनयः सदनेकं स्याच्चिदात्मको जीवः ।
तदितरनयः स्वपक्षं वदतु सदेकं चिदात्मवत्वितिचेत् ॥६१२॥

अर्थ—जिस प्रकार व्यवहारनय उदाहरण सहित होता है, उस प्रकार निश्चयनय भी उदाहरण सहित माना जाय तो क्या दोष आता है ? क्योंकि जैसा ज्ञान विकल्प उदाहरण रहित ज्ञानमें है, वैसा ही ज्ञान विकल्प उदाहरण सहित ज्ञान विकल्पमें है । इस न्यायसे निश्चय नयको सोदाहरण ही मानना ठीक है । उदाहरण सहित निश्चय नयको कहनेसे व्यवहार नयसे कैसे भेद होगा, ? वह इस प्रकार होगा—जैसे व्यवहार नय सत्को अनेक बतलाता है, जीवको चिदात्मक बतलाता है । निश्चय नय केवल अपने पक्षका ही विवेचन करै, जैसे सत् एक है, जीव चित् ही है । ऐसा कहनेसे निश्चय नय उदाहरण सहित भी होजाता है, तथा व्यवहार नयसे भिन्न भी होजाता है ?

उत्तर—

न यतः सङ्करदोषो भवति तथा सर्वशून्यदोषश्च ।
स यथा लक्षणभेदाल्लक्ष्यविभागोस्त्यनन्यथासिद्धः ॥ ६१३ ॥

अर्थ—शंकाकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है । ऐसी शंकामें संकर दोष और सर्वशून्य दोष आता है । क्योंकि लक्षणके भेदसे लक्ष्यका भेद अवश्यंभावी है । **भावार्थ**—सत्को एक कहने पर भी सत् लक्ष्य और उसका 'एक' लक्षण सिद्ध होता है । इसी प्रकार जीवको चित्स्वरूप कहने पर भी जीव लक्ष्य और उसका चित् लक्षण सिद्ध होता है । ऐसा लक्ष्य लक्षणरूप भेद व्यवहारनयका ही विषय होसक्ता है, निश्चयका नहीं, यदि निश्चयका भी भेद, विषय माना जाय तो संकरता और सर्वशून्यता भी स्वयं सिद्ध है।

लक्षणमेकस्य सतो यथाकथञ्चिद्यथा द्विधाकरणम् ।
व्यवहारस्य तथा स्यात्तदितरथा निश्चयस्य पुनः ॥ ६१४ ॥

अर्थ—व्यवहार नयका लक्षण यह है कि एक ही सत्का जिस किसी प्रकार द्वैधीभाव करना, अर्थात् सत्में भेद बतलाना व्यवहार नयका लक्षण है, ठीक इससे उल्टा निश्चय नयका लक्षण है, अर्थात् सत्में अभेद बतलाना निश्चय नयका लक्षण है ।

निश्चय नयको सोदाहरण माननेमें दोष—

अथ चेत्सदेकमिति वा चिदेव जीवोथ निश्चयो वदति ।
व्यवहारान्तर्भावो भवति सदेकस्य तद्द्विधापत्तेः ॥ ६१५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—यदि शंकाकारके कथनानुसार सत्को एक माना जाय अथवा चित् ही जीव माना जाय और इनको निश्चय नयका उदाहरण कहा जाय तो व्यवहार नयसे निश्चय नयमें कुछ भी भेद नहीं रहेगा, क्योंकि ये दोनों ही उदाहरण व्यवहार नयके ही अन्तर्गत–(गर्भित) हो जाते हैं। सत्को एक कहनेसे भी सत्में भेद ही सिद्ध होता है, अथवा जीवको चित्स्वरूप कहनेसे भी जीवमें भेद ही सिद्ध होता है। किस प्रकार ? सो नीचे कहते हैं–

एवं सदुदाहरणे सल्लक्षणं लक्षणं तदेकमिति।
लक्षणलक्ष्यविभागो भवति व्यवहारतः स नान्यत्र ॥ ६१६ ॥
अथवा चिदेव जीवो यदुदाहियतेऽप्यभेदबुद्धिमता।
उक्तवदत्रापि तथा व्यवहारनयो न परमार्थः ॥ ६१७ ॥

अर्थ—शंकाकारने निश्चय नयका उदाहरण यह बतलाया है कि सत् एक है, इसमें आचार्य दोष दिखलाते हैं– सत् एक है, यहां पर सत् तो लक्ष्य ठहरता है और उसका एक यह लक्षण ठहरता है। इस प्रकारका लक्षण लक्ष्यका भेद व्यवहार नयमें ही होता है निश्चय नयमें नहीं होता। जिस प्रकार सत् और एकमें लक्षण लक्ष्यका भेद होता है, उसी प्रकार जीव और चित्में भी होता है। जीव लक्ष्य और चित् उसका लक्षण सिद्ध होता है। शंकाकारने यद्यपि इन उदाहरणोंको अभेद बुद्धिसे बतलाया है, परन्तु विचार करने पर उदाहरण मात्र ही भेदजनक पड़ता है। इसलिये यह व्यवहार नयका ही विषय है, निश्चयका नहीं। क्योंकि जितना भी भेद व्यवहार है, सब व्यवहार ही है।

एवं सुनिश्चितसंकरदोषे सति सर्वशून्यदोषः स्यात्।
निरपेक्षस्य नयत्वाभावात्तल्लक्षणाद्यभावत्वात् ॥ ६१८ ॥

अर्थ—इस प्रकार दोनों ही नयोंमें संकरता आती है। संकरता आनेसे सर्वशून्य दोष आता है, जो निरपेक्ष है उसमें नयपना ही नहीं आता, क्योंकि निरपेक्षता नयका लक्षण ही नहीं है। भावार्थ–निश्चय नयको भी सोदाहरण माननेसे व्यवहारसे उसमें कुछ भेद नहीं रहेगा दोनों एक रूपमें आजायंगे ऐसी अवस्थामें प्रमाण भी आत्मलाभ न कर सकेगा इसलिये निश्चय नयको उदाहरण सहित मानना ठीक नहीं है।

शङ्काकार—

ननु केवलं सदेव हि यदि वा जीवो विशेषनिरपेक्षः।
भवति च तदुदाहरणं भेदाभावात्तदा हि को दोषः ॥ ६१९ ॥
अपि चैवं प्रतिनियतं व्यवहारस्यावकाश एव यथा।
सदनेकं च सदेकं जीवश्चिद्द्रव्यमात्मवानिति चेत् ॥ ६२० ॥

अर्थ—यदि सत्को एक कहनेसे और जीवको चित् रूप कहनेसे भी व्यवहार नयका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही विषय आजाता है तो निश्चय नयका उदाहरण केवल सत् ही कहना चाहिये, अथवा जीव ही कहना चाहिये। सत्का एकत्व विशेष और जीवका चित् विशेष नहीं कहना चाहिये। सन्मात्र कहनेसे अथवा जीव मात्र कहनेसे फिर कोई दोष नहीं रहता है। सन्मात्र और जीव मात्र कहनेसे भेद बुद्धि भी नहीं रहती है। व्यवहार नयका अवकाश तो भेदमें ही प्रति नियत है जैसे यह कहना कि सत् एक है, सत् अनेक है, जीव चिद्द्रव्य है, जीव आत्मवान् है, यह भेदज्ञान ही व्यवहार नयका लक्षण है। निश्चय नयमें केवल सत् अथवा जीव ही उदाहरण मान लेने चाहिये ?

उत्तर—

न यतः सदिति विकल्पो जीवः काल्पनिक इति विकल्पश्च ।
तत्तद्धर्मविशिष्टस्तद्वानुपचर्यते स यथा ॥ ६२१ ॥

अर्थ—शंकाकारका उपर्युक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत् यह विकल्प और जीव यह विकल्प दोनों ही काल्पनिक हैं। भिन्न २ धर्मोंसे विशिष्ट होनेसे उन धर्म वाले उपचारसे कहे जाते हैं, अर्थात् जिस धर्मकी विवक्षा रक्खी जाती है उसी धर्मसे विशिष्ट वस्तु कही जाती है। वह धर्मका उपचार इस प्रकार होता है—

जीवः प्राणादिमतः संज्ञा करणं यदेतदेवेति ।
जीवनगुणसापेक्षो जीवः प्राणादिमानिहास्त्यर्थात् ॥ ६२२ ॥

अर्थ—जो प्राणोंको धारण करनेवाला है उसीको जीव इस नामसे कहा जाता है, अथवा जो जीवन गुणकी अपेक्षा रखनेवाला है उसे ही जीव कहते हैं। इसलिये जीव मात्र कहनेसे भी प्राण विशिष्ट और जीवत्वगुण विशिष्टका ही बोध होता है। इसी प्रकार—

यदि वा सदिति सत्सतः स्यात्संज्ञा सत्तागुणस्य सापेक्षात् ।
लब्धं तदनुक्तमपि सद्भावात् सदिति वा गुणो द्रव्यम् ॥ ६२३ ॥

अर्थ—अथवा सत् यह नाम सत्तागुणकी अपेक्षा रखनेवाले (अस्तित्व गुण विशिष्ट) सत् पदार्थका है। इसलिये सत् इतना कहनेसे ही विना कहे हुए भी अस्तित्व गुण अथवा अस्तित्व गुण विशिष्ट द्रव्यका बोध होता है। **भावार्थ**—यद्यपि सत्में यह विकल्प नहीं उठाया गया है कि वह द्रव्य है, अथवा गुण है तथापि वह विकल्प विना कहे हुए भी सत् कहनेसे ही उठ जाता है, और जितना विकल्पात्मक–भेदविज्ञान है सब व्यवहार नयका विषय है।

यदि च विशेषणशून्यं विशेष्यमात्रं सुनिश्चयस्यार्थः ।
द्रव्यं गुणो न य इति वा व्यवहारलोपदोषः स्यात्॥६२४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—यदि विशेषण रहित विशेष्य ही केवल निश्चय नयका विषय माना जाय तो द्रव्य और गुणकी ही सिद्धि होगी, पर्यायकी सिद्धि नहीं होगी, अथवा व्यवहारका ही लोप हो जायगा। यह एक बड़ा दोष है।

सारांश—

तस्मादवसेयमिदं यावदुदाहरणपूर्वको रूपः।
तावान् व्यवहारनयस्तस्य निषेधात्मकस्तु परमार्थः ॥ ६२५ ॥

अर्थ—इसलिये यह निश्चय करना चाहिये कि जितना भी उदाहरण पूर्वक कथन है उतना सब व्यवहार नय है। उस व्यवहारका निषेधक ही निश्चय नय है।

शंकाकार—

ननु च व्यवहारनयो भवति च निश्चयनयो विकल्पात्मा।
कथमाद्यः प्रतिषेध्योऽस्त्यन्यः प्रतिषेधकश्च कथमिति चेत् ॥६२६॥

अर्थ—व्यवहार नय भी विकल्पात्मक है और निश्चय नय भी विकल्पात्मक है फिर व्यवहार नय क्यों निषेध करने योग्य है, तथा निश्चय नय क्यों उसका निषेध करनेवाला है? **भावार्थ**—जब दोनों ही नय विकल्पात्मक हैं तो एक निषेध्य और दूसर निषेधक उनमें कैसा?

उत्तर—

न यतो विकल्पमात्रमर्थाकृतिपरिणतं यथा वस्तु।
प्रतिषेध्यस्य न हेतुश्चेदयथार्थस्तु हेतुरिह तस्य ॥ ६२७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि हरएक वस्तुमें उस वस्तुके अनुरूप अर्थाकार परिणमन करनेवाले ज्ञानको ही विकल्प कहते हैं। वह विकल्प प्रतिषेध्यका हेतु नहीं है, किन्तु उसका कारण अयथार्थता है। **भावार्थ**—व्यवहार नयके निषेधका कारण विकल्पात्मक बोध नहीं है विकल्पात्मक बोध तो निश्चय नयमें भी है किन्तु उसका अयथार्थ बोध है, अर्थात् व्यवहार नय मिथ्या है इसी लिये वह निषेध करने योग्य है। इसी बातको नीचे स्पष्ट करते हैं।

व्यवहारः किल मिथ्या स्वयमपि मिथ्योपदेशकश्च यतः।
प्रतिषेध्यस्तस्मादिह मिथ्यादृष्टिस्तदर्थदृष्टिश्च ॥ ६२८ ॥

अर्थ—व्यवहार नय मिथ्या है क्योंकि वह स्वयं ही मिथ्या उपदेश देता है। इसलिये वह प्रतिषेध्य निषेध करने योग्य है और उस व्यवहार नयके विषय पर दृष्टि देनेवाला—श्रद्धान करनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चय नय यथार्थ है–

स्वयमपि भूतार्थत्वाद्भवति स निश्चयनयो हि सम्यक्त्वम् ।
अविकल्पवदतिवागिव स्यादनुभवैकगम्यवाच्यार्थः ॥६२९॥
यदि वा सम्यग्दृष्टिस्तद्दृष्टिः कार्यकारी स्यात् ।
तस्मात् स उपादेयोनोपादेय स्तदन्यनयवादः ॥ ६३० ॥

अर्थ—निश्चय नय यथार्थ विषयका प्रतिपादन करनेवाला है, इसलिये वह सम्यक्रूप है । यद्यपि निश्चयनय भी विकल्पात्मक है, तो भी वह विकल्प रहितसा प्रतीत होता है । यद्यपि वह 'न' इत्याकारक वचनसे कहा जाता है तो भी वह वचनागोचर ही जैसा प्रतीत होता है । निश्चय नयका क्या वाच्य है यह बात अनुभवगम्य ही है अर्थात् निश्चय नयके विषयका बोध अनुभवसे ही जाना जाता है । वचनसे वह नहीं कहा जाता, क्योंकि जो कुछ वचनसे विवेचन किया जायगा वह सब भेदरूप होनेसे व्यवहार नयका ही विषय हो जाता है । इसलिये वचनसे तो वह 'न' निषेधरूप ही वक्तव्य है । अथवा उस निश्चय नयके विषयपर श्रद्धान करनेवाला सम्यग्दृष्टि है और वही कार्यकारी है । इसलिये निश्चयनय ही उपादेय–ग्राह्य है । अन्य जितना भी नयवाद है सभी अग्राह्य–त्याज्य है ।

शंकाकार—

ननु च व्यवहारनयो भवति स सर्वोपि कथमभूतार्थः ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं यथोपदेशात्तथानुभूतेश्च ॥६३१॥
अथ किमभूतार्थत्वं द्रव्याभावोऽथ वा गुणाभावः ।
उभयाभावो वा किल तद्योगस्याप्यभावसादिति चेत् ॥६३२॥

अर्थ—सम्पूर्ण ही व्यवहार नय किसप्रकार मिथ्या हो सक्ता है ? क्योंकि 'गुण-पर्ययवद्द्रव्यम्, गुण पर्यायवाला द्रव्य होता है, ऐसा उपदेश (सर्वज्ञ व महर्षियोंका) भी है तथा अनुभवसे भी यही बात सिद्ध होती है । हम पूछते हैं (शंकाकार) कि यहां पर क्या अभूतार्थपना है, द्रव्याभाव है अथवा गुणाभाव है । अथवा दोनोंका अभाव है, अथवा उन दोनोंके योग (मेल)का अभाव है । किसका अभाव है जिससे कि ' गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ' यह कथन अभूतार्थ समझा जाय, यदि किसीका अभाव नहीं है तो फिर व्यवहार नय मिथ्या क्यों ?

उत्तर—

सत्यं न गुणाभावो द्रव्याभावो न नोभयाभावः ।
न हि तद्योगाभावो व्यवहारः स्यात्तथाप्यभूतार्थः ॥६३३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—ठीक है, न गुणका अभाव है, न द्रव्यका अभाव है, न दोनोंका अभाव है, और न उन दोनोंके योगका अभाव है, तो भी व्यवहार नय मिथ्या ही है। क्यों मिथ्या है? उसीको स्पष्ट करते हैं—

इदमत्र निदानं किल गुणवद्द्रव्यं यदुक्तमिह सूत्रे।
अस्ति गुणोस्ति द्रव्यं तद्योगात्तदिह लब्धमित्यर्थात् ॥६३४॥
तदसन्न गुणोस्ति यतो न द्रव्यं नोभयं न तद्योगः।
केवलमद्वैतं सद्भवतु गुणो वा तदेव सद्द्रव्यम् ॥ ६३५॥

अर्थ—व्यवहारनय मिथ्या है, इसमें यह कारण है कि जो सूत्रमें 'गुणवद्द्रव्यम्' कहा गया है, उसका यह अर्थ निकलता है कि एक कोई गुण पदार्थ है एक द्रव्य पदार्थ है, उन दोनोंके योगसे द्रव्य सिद्ध होता है। परन्तु ऐसा कथन ही मिथ्या है। क्योंकि न कोई गुण है, न द्रव्य है, न दोनों हैं, और न उनका योग ही है, किन्तु केवल अद्वैत सत् है, वही सत् गुण कहलाओ अथवा वही सत् द्रव्य कहलाओ। कुछ कहलाओ।

व्यवहारनय मिथ्या है—

तस्मान्यायागत इति व्यवहारः स्यान्नयोप्यभूतार्थः।
केवलमनुभवितारस्तस्य च मिथ्यादृशो हतास्तेपि ॥ ६३६ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात न्यायसे प्राप्त हो चुकी कि व्यवहारनय अभूतार्थ है। जो लोग केवल उसी व्यवहारनयका अनुभव करते रहते हैं वे नष्ट हो चुके हैं, तथा वे मिथ्यादृष्टि हैं।

शंकाकार—

ननु चैवं चेन्नियमादादरणीयो नयो हि परमार्थः।
किमकिञ्चित्कारित्वाद्व्यवहारेण तथाविधेन यतः ॥ ६३७ ॥

अर्थ—यदि व्यवहारनय मिथ्या ही है तो केवल निश्चयनय ही आदरणीय होना चाहिये। व्यवहारनय मिथ्या है इसलिये कुछ भी करनेमें असमर्थ है, फिर उसे सर्वथा कहना ही नहीं चाहिये?

उत्तर—वस्तु विचारार्थ व्यवहारनय भी आवश्यक है—

नैवं यतो बलादिह विप्रतिपत्तौ च संशयापत्तौ।
वस्तुविचारे यदि वा प्रमाणमुभयावलम्बि तज्ज्ञानम् ॥६३८॥

अर्थ—ऊपरकी शंका ठीक नहीं है, कारण किसी विषयमें विवाद होने पर अथवा किसी विषयमें संदेह होनेपर अथवा वस्तुके विचार करनेमें व्यवहारनयका अवलम्बन बलपूर्वक (अवश्य ही) लेना पड़ता है। जो ज्ञान निश्चयनय और व्यवहारनय दोनोंका अवलम्बन करता है वही ज्ञान प्रमाणज्ञान समझा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ—विना व्यवहारनयका अवलम्बन किये केवल निश्चयनयसे ज्ञानमें प्रमाणता ही नहीं आ सक्ती है। विना व्यवहारनयका अवलम्बन किये पदार्थका विचार ही नहीं हो सक्ताहै, यह शंका फिर भी की जा सक्ती है कि जब व्यवहारनय मिथ्या है तो उसके द्वारा किया हुआ वस्तु विचार भी मिथ्या ही होगा ? यद्यपि किसी अंशमें यह शंका ठीक हो सक्ती है, परन्तु बात यह है कि वस्तुका विचार बिना व्यवहारके हो नहीं सक्ता, बिना विवेचन किये यह कैसे जाना जासक्ता है कि वस्तु अनन्त गुणात्मक है, परिणामी है, इसलिये व्यवहार द्वारा वस्तुको जान कर उसकी यथार्थताका बोध हो जाता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि यह आत्मा व्यवहारपूर्वक ही निश्चयनय पर आरूढ़ होता है, विवेचना वस्तुकी यथार्थता नहीं है, किन्तु विवेचनाके द्वारा ही यथार्थताका बोध होता है इसलिये व्यवहार नय भी आदरणीय है।

तस्मादाश्रयणीयः केषाञ्चित् स नयः प्रसङ्गत्वात्।
अपि सविकल्पानामिव न श्रेयो निर्विकल्पबोधवताम् ॥६३९॥

अर्थ—इसलिये प्रसंगवश किन्हीं २ को व्यवहार नय भी आश्रयणीय (आश्रय करने योग्य) है। वह सविकल्पक बोधवालोंके लिये ही आश्रय करने योग्य है। सविकल्पक बोधवालोंके समान निर्विकल्पक बोधवालोंके लिये वह नय हितकारी नहीं है। भावार्थ—सविकल्पकबोध पूर्वक जो निर्विकल्पक बोधको पा चुके हैं, फिर उन्हें व्यवहारनयकी शरण नहीं लेनी पडती है निश्चय नयकी प्राप्तिके लिये ही व्यवहारका आश्रय लेना आवश्यक है।

शङ्काकार—

ननु च समीहितसिद्धिः किल चैकस्मान्नयात्कथं न स्यात्।
विप्रतिपत्तिनिरासो वस्तुविचारश्च निश्चयादिति चेत् ॥६४०॥

अर्थ—अपने अभीष्टकी सिद्धि एक ही नय (निश्चय) से क्यों नहीं हो जाती है, विवादका परिहार और वस्तुका विचार भी निश्चयसे ही हो जायगा इसलिये केवल निश्चयनय ही मान लो ?

उत्तर—

नैवं यतोस्ति भेदोऽनिर्वचनीयो नयः स परमार्थः।
तस्मात्तीर्थस्थितये श्रेयान् कश्चित् स वावदूकोपि ॥ ६४१ ॥

अर्थ—ऊपर जो शंका की गई है वह ठीक नहीं है क्योंकि दोनों नयोंमें भेद है। निश्चय नय अनिर्वचनीय है, उसके द्वारा पदार्थका विवेचन नहीं किया जा सक्ता, इसलिये धर्म अथवा दर्शनकी स्थितिके लिये अर्थात् वस्तु स्वभावको जाननेके लिये कोई बोलनेवाला भी नय—व्यवहार नय हितकारी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शंकाकार—

ननु निश्चयस्य वाच्यं किमिति यदालम्ब्य वर्त्तते ज्ञानम्।
सर्वविशेषाभावेऽत्यन्ताभावस्य वै प्रतीतत्वात् ॥ ६४२ ॥

अर्थ—निश्चय नयका क्या वाच्य (विषय) है कि जिसको अवलम्बन करके ज्ञान रहता है ? सम्पूर्ण विशेषके अभावमें निश्चयनयसे अत्यन्ताभाव ही प्रतीत होता है। **भावार्थ**—निश्चयनय जब किसी विशेषका अवलम्बन नहीं करता है तो फिर उसका कुछ भी विषय नहीं है, वह केवल अभावात्मक ही है।

उत्तर—

इदमत्र समाधानं व्यवहारस्य च नयस्य यद्वाच्यम्।
सर्वविकल्पाभावे तदेव निश्चयनयस्य यद्वाच्यम् ॥ ६४३ ॥

अर्थ—ऊपरकी शंकाका यहांपर यह समाधान किया जाता है कि जो कुछ व्यवहार नयका वाच्य है उसमेंसे सम्पूर्ण विकल्पोंको दूर करनेपर जो वाच्य रहता है वही निश्चय नयका वाच्य है।

दृष्टान्त—

अस्त्यत्र च संदृष्टिस्तृणाग्निरिति वा यदोष्ण एवाग्निः।
सर्वविकल्पाभावे तत्संस्पर्शादिनाप्यशीतत्वम् ॥ ६४४ ॥

अर्थ—निश्चय नयके वाच्यके विषयमें यहांपर अग्निका दृष्टान्त दिया जाता है—अग्नि यदि तृणकी अग्नि है तब भी अग्नि ही है, यदि वह कण्डेकी अग्नि है तो भी वह उष्ण अग्नि ही है, यदि वह कोयलेकी अग्नि है तो भी वह उष्ण अग्नि ही है। इसलिये उस अग्निमेंसे तृण, कण्डा (उपला) कोयला आदि विकल्प दूर कर दिये जायँ तो भी वह स्पर्शादिसे उष्ण ही प्रतीत होगी। **भावार्थ**—तृणकी अग्नि कहना ही वास्तवमें मिथ्या है, जिस समय तृण अग्नि परिणत है उस समय वह तृण नहीं किन्तु अग्नि है। जिस समय अग्नि परिणत नहीं है उस समय वह तृण है अग्नि नहीं है। इसलिये तृणादि विकल्पोंको दूर कर देना ही ठीक है। परन्तु अग्निरूप सिद्ध करनेके लिये पहले तृणादिका व्यवहार होना भी आवश्यक है। ठीक यही दृष्टान्त निश्चयनयमें घटित होता है। जो व्यवहारनयका विषय है वह विकल्पात्मक है, उसमेंसे विकल्पोंको दूर कर जो वाच्य पड़ता है वही निश्चयनयका विषय है। निश्चयनय गुणद्रव्य पर्यायरूप भेदोंको मिथ्या समझता है। गुणात्मक-अखण्डपिण्ड ही निश्चयनयका विषय है। वह अनिर्वचनीय है। इसीलिये व्यवहार नयके विषयको निषेधद्वारा कह दिया जाता है। निषेध कहनेसे उसका अभावात्मक वाच्य नहीं समझना चाहिये किन्तु शुद्ध द्रव्य समझना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शंकाकार—

ननु चैवं परसमयः कथं स निश्चयनयावलंवी स्यात् ।
अविशेषादपि स यथा व्यवहारनयावलंबी यः ॥ ६४५ ॥

अर्थ—जो व्यवहारनयका अवलम्बन करनेवाला है, वह जिस प्रकार सामान्यरीतिसे मिथ्यादृष्टि है उसी प्रकार जो निश्चयनयका अवलम्बन करनेवाला है वह मिथ्यादृष्टि क्यों है ? अर्थात् व्यवहारनयके अवलम्बन करनेवालेको मिथ्यादृष्टि कहा गया है, सो ठीक परंतु निश्चयनयावलंबीको भी मिथ्यादृष्टि ही कहा गया है सो क्यों ?

उत्तर—

सत्यं किन्तु विशेषो भवति स सूक्ष्मो गुरूपदेश्यत्वात् ।
अपि निश्चयनयपक्षादपरः स्वात्मानुभूतिमहिमा स्यात् ॥६४६॥

अर्थ—ठीक है, परन्तु निश्चयनयसे भी विशेष कोई है, वह सूक्ष्म है, इसलिये वह गुरुके ही उपदेश योग्य है । सिवा महनीय गुरुके उसका स्वरूप कोई नहीं बतला सक्ता । वह विशेष स्वात्मानुभूतिकी महिमा है जोकि निश्चयनयसे भी बहुत सूक्ष्म और भिन्न है ।

उभयं णयं विभणिमं जाणइ णवरं तु समय पडिवद्धो ।
णदु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥ १ ॥
इत्युक्तसूत्रादपि सविकल्पत्वात्तथानुभूतेश्च ।
सर्वोपि नयो यावान् परसमयः सच नयावलंबी ॥ ६४७ ॥

अर्थ—निश्चय नयावलम्बीको भी मिथ्यादृष्टि कहा गया है इस विषयमें उक्त गाथा भी प्रमाण है। उसका अर्थ यह है कि जो दो प्रकारके नय कहे गये हैं उन्हें सम्यग्दृष्टि जानता तो है परन्तु किसी भी नयके पक्षको ग्रहण नहीं करता है, वह नय पक्षसे रहित है। है । इस गाथारूप सूत्रसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि सम्यग्दृष्टि निश्चय नयका भी अवलम्बन नहीं करता है। दूसरी बात यह है कि निश्चय नयको भी आचार्यने सविकल्पक बतलाया है और जितना सविकल्प ज्ञान है उसे अभूतार्थ बतलाया है जैसा कि पहले कहा गया है यथा—"यदि वा ज्ञानविकल्पो नयो विकल्पोस्ति सोप्यपरमार्थः" इसलिये सविकल्पज्ञानात्मक होनेसे भी निश्चय नय मिथ्या सिद्ध होता है, तथा अनुभवमें भी यही बात आती है कि जितने भी नय हैं सभी पर समय—मिथ्या हैं, तथा उन नयोंका अवलम्बन करनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है ?

स्वात्मानुभूतिका स्वरूप—

स यथा सति सविकल्पे भवति स निश्चयनयो निषेधात्मा ।
न विकल्पो न निषेधो भवति चिदात्मानुभूतिमात्रं च ॥६४८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—वह स्वात्मानुभूतिकी महिमा इसप्रकार है कि सविकल्पज्ञान होनेपर निश्चय नय उस विकल्पका निषेध करता है। परन्तु जहां पर न तो विकल्प ही है और न निषेध ही है वहां पर चिदात्मानुभूति मात्र है।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तोपि च महिषध्यानाविष्टो यथा हि कोपि नरः।
महिषोयमहं तस्योपासक इति नयावलम्बी स्यात् ॥ ६४९ ॥
चिरमचिरं वा यावत् स एव दैवात् स्वयं हि महिषात्मा।
महिषस्यैकस्य यथा भवनान् महिषानुभूतिमात्रं स्यात् ॥ ६५० ॥

अर्थ—स्वात्मानुभूतिके विषयमें दृष्टान्त भी है, जैसे—कोई पुरुष महिषके ध्यानमें आरूढ़ है। ध्यान करते हुए वह यह समझता है कि यह महिष (भैंसा) है और मैं उसकी उपासना (सेवा—ध्यान) करनेवाला हूं। इसप्रकारके विकल्पको लिये हुए जब तक उसका ज्ञान है। तब तक वह नयका अवलम्बन करनेवाला है। बहुत काल तक अथवा जल्दी ही ध्यान करते २ जिस समय वह दैव वश * स्वयं महिषरूप बन जाता है तो उस समय वह केवल एक महिषका ही अनुभव करता है, वही महिषानुभूति है। भावार्थ—महिषका ध्यान करनेवाला जब तक यह विकल्प करता है कि यह महिष है मैं उसका उपासक हूं तब तक तो वह विकल्पात्मक नयके अधीन है, परन्तु ध्यान करते २ जिस समय उसके ज्ञानसे यह उपर्युक्त विकल्प दूर हो जाता है केवल महिष रूप अपने आपको अनुभवन करने लगता है उसी समय उसके महिषानुभूति होती है। इस प्रकारकी अनुभूतिमें फिर उपास्य उपासकका भेद नहीं रहता है आत्मा जिसे पहले ध्येय बना कर स्वयं ध्याता बनता है, अनुभूतिके समय ध्याता ध्येयका विकल्प नहीं रहता है किंतु ध्याता स्वयं ध्येयरूप होकर तन्मय हो जाता है इसीलिये स्वानुभूतिकी अपार महिमा है।

दार्ष्टान्त—

स्वात्मध्यानाविष्टस्तथेह कश्चिन्नरोपि किल यावत्।
अयमहमात्मा स्वयमिति स्यामनुभवितास्मयनयपक्षः ॥ ६५१॥
चिरमचिरं वा दैवात् स एव यदि निर्विकल्पश्च स्यात्।
स्वयमात्मेत्यनुभवनात् स्यादियमात्मानुभूतिरिह तावत् ॥ ६५२ ॥

अर्थ—उसी प्रकार यदि कोई पुरुष अपने आत्माके ध्यान करनेमें आरूढ़ है, ध्यान करते हुए वह विकल्प उठाता है कि मैं यह आत्मा हूं और मैं ही स्वयं उसका अनुभवन

* दैववशका आशय यह नहीं है कि वह वास्तवमें महिषकी पर्यायको धारण करलेता हो, किन्तु यह है कि पुण्योदयवश यदि ध्यानकी एकाग्रता हो जाय तो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करनेवाला हूं, जबतक उसके ऐसा विकल्पात्मक बोध है तब तक उसके नय पक्ष है। बहुत काल तक अथवा जल्दी ही दैववश वही आत्मा यदि निर्विकल्प होजाय, अर्थात् 'मैं उपासक हूं और मैं ही स्वयं उपास्य हूं, इस उपास्य उपासक विकल्पको दूर कर स्वयं आत्मा निज आत्मामें तन्मय होजाय तो उस समय वह आत्मा स्वात्मानुभवन करने लग जाता है। जो स्वात्मानुभवन है वही स्वात्मानुभूति कहलाती है। भावार्थ—कविवर दौलतरामजीने छहढालामें इसीका आशय लिया है। वे कहते हैं कि 'जहां ध्यान ध्याता ध्येयको न विकल्प वच भेद न जहां आदि' अर्थात् जिस आत्मानुभूतिमें ध्यान क्या है, ध्याता कौन है, ध्येय कौन है यह विकल्प ही नहीं उठता है, और न जिसमें वचनका ही विकल्प है। निश्चय नयमें भी विकल्प है इसी लिये सम्यग्दृष्टि—स्वात्मानुभूतिनिमग्न उसे भी छोड़ देता है, इसीलिये 'णयपक्ख परिहीणो' अर्थात् सम्यग्दृष्टि दोनों नय पक्षोंसे रहित है ऐसा कहा गया है। जहां विकल्पातीत, वचनातीत आत्माकी निर्विकल्प अवस्था है वही स्वात्मानुभूति विज्ञान है। वह निश्चयनयसे भी बहुत ऊपर है, बहुत सूक्ष्म है, उस अलौकिक आनन्दमें निमग्न महात्माओं द्वारा ही उसका कुछ विवेचन होसक्ता है, उस आनन्दसे बंचित पुरुष उसका यथार्थ स्वरूप नहीं कह सक्ते हैं। जिसने मिश्रीको चख लिया है वही कुछ उसका स्वाद किन्हीं शब्दोंमें कह सक्ता है। जिसने मिश्रीको सुना मात्र है वह विचारा उसका स्वाद क्या बतला सक्ता है, इसी लिये स्वात्माभूतिको गुरूपदेश्य कहा गया है।

सारांश—

तस्माद्व्यवहार इव प्रकृतो नात्मानुभूतिहेतुः स्यात्।
अयमहमस्य स्वामी सदवश्यम्भाविनो विकल्पत्वात् ॥६५३॥

अर्थ—इसलिये व्यवहारनयके समान निश्चयनय भी आत्मानुभूतिका कारण नहीं है। क्योंकि उसमें भी यह आत्मा है, मैं इसका स्वामी हूं, ऐसा सत् पदार्थमें अवश्यंभावी विकल्प उठता ही है।

शङ्काकार—

ननु केवलमिह निश्चयनयपक्षो यदि विवक्षितो भवति।
व्यवहारान्निरपेक्षो भवति तदात्मानुभूतिहेतुः सः ॥ ६५४ ॥

अर्थ—यदि यहांपर व्यवहार नयसे निरपेक्ष केवल निश्चयनयका पक्ष ही विवक्षित किया जाय तो वह आत्मानुभूतिका कारण होगा ?

उत्तर—

नैवमसंभवदोषात्यतो न कश्चिन्नयो हि निरपेक्षः।
सति च विधौ प्रतिषेधः प्रतिषेधे सति विधेः प्रसिद्धत्वात् ॥६५५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—ऊपर जो शंका की गई है वह ठीक नहीं है कारण वैसा माननेमें असंभव दोष आता है। कोई भी नय निरपेक्ष नहीं हुआ करता है, न हो सक्ता है। क्योंकि विधिके होनेपर प्रतिषेधका होना भी अवश्यंभावी है, और प्रतिषेधके होनेपर विधिका होना भी प्रसिद्ध है। भावार्थ—नय वस्तुके एक अंशको विषय करता है, इसलिये वह एक-विवक्षित अंशका विवेचन करता हुआ दूसरे अंशकी अपेक्षा अवश्य रखता है। अन्यथा निरपेक्ष अवस्थामें उसे नय ही नहीं कह सक्ते। विधिकी विवक्षामें प्रतिषेधकी सापेक्षता और प्रतिषेधकी विवक्षामें विधिकी सापेक्षताका होना आवश्यक है। इसलिये व्यवहार और निश्चयनयमें परस्पर सापेक्षता ही है।

शंकाकार—

ननु च व्यवहारनयो भवति यथाऽनेक एव सांशत्वात ।
अपि निश्चयो नयः किल तद्वदनेकोऽथ चैककस्त्विति चेत् ।६५६।

अर्थ—जिस प्रकार अनेक अंश सहित होनेसे व्यवहारनय अनेक ही है, उसी प्रकार व्यवहारनयके समान निश्चयनय भी एक एक मिलाकर नियमसे अनेक है ऐसा माना जाय तो ?

उत्तर—

नैवं यतोस्त्यनेको नैकः प्रथमोप्यनन्तधर्मत्वात् ।
न तथेति लक्षणत्वादस्त्येको निश्चयो हि नानेकः ॥६५७॥

अर्थ—उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है, कारण व्यवहारनय तो अनन्तधर्मात्मक होनेसे अनेक है, वह एक नहीं है। परन्तु निश्चनय अनेक नहीं है, क्योंकि उसका लक्षण 'न तथा' है अर्थात् जो कुछ व्यवहारनय कहता है उसका निषेध करना, कि (पदार्थ) वैसा नहीं है। यही निश्चयनयका लक्षण है, इसलिये कितने ही धर्मोंके विवेचन क्यों न किये जायँ, सबोंका निषेध करना मात्र ही निश्चयनयका एक कार्य है अतएव वह एक ही है।

दृष्टान्त—

संदृष्टिः कनकत्वं ताम्रोपाधेर्निवृत्तितो यादृक् ।
अपरं तदपरमिह वा रुक्मोपाधेर्निवृत्तितस्तादृक् ॥६५८॥

अर्थ—निश्चयनय क्यों एक है इस विषयमें सोनेका दृष्टान्त भी है। सोना तावेंकी उपाधिकी निवृत्तिसे जैसा है, वैसा ही चांदीकी उपाधिकी निवृत्तिसे भी है, अथवा और और अनेक उपाधियोंकी निवृत्तिसे भी वैसा ही सोना है, अर्थात् सोनेमें जो तावाँ, पीतल, चाँदी, कालिमा आदि उपाधियाँ हैं वे अनेक हैं परन्तु उनका अभाव होना अनेक नहींहै, किसी उधाधिका अभाव क्यों न हो वह एक अभाव ही रहेगा। हरएक उपाधिकी निवृत्तिमें सोना सदा सोना ही रहेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चयनयको अनेक कहनेवाले ठीक नहीं हैं—

एतेन हतास्ते ये स्वात्मप्रज्ञापराधतः केचित्।
अप्येकनिश्चयनयमनेकमिति सेवयन्ति यथा ॥६५९॥

अर्थ—इस कथनसे वे पुरुष खण्डित किये गये जो कि अपने ज्ञानके दोषसे एक निश्चय नयको अनेक समझते हैं। कोई कोई अज्ञानी निश्चय नयके इसप्रकार भेद कहते हैं

शुद्धद्रव्यार्थिक इति स्यादेकः शुद्धनिश्चयो नाम।
अपरोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति तदशुद्धनिश्चयो नाम ॥६६०॥

अर्थ—एक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है, उसीका नाम शुद्ध निश्चय नय है। दूसरा अशुद्धद्रव्यार्थिक नय है उसका नाम अशुद्ध निश्चय नय है। ऐसे निश्चय नयके दो भेद हैं।

इत्यादिकाश्च बहवो भेदा निश्चयनयस्य यस्य मते।
सहि मिथ्यादृष्टित्वात् सर्वज्ञाज्ञानमानितो नियमात् ॥६६१॥

अर्थ—और भी बहुतसे भेद निश्चय नयके जिसके मतमें हैं वह मिथ्यादृष्टि है। इसीलिये वह नियमसे सर्वज्ञकी आज्ञाका उलङ्घन करता है, अर्थात् निश्चय नयके शुद्ध अशुद्ध आदि भेद कुछ भी नहीं हैं ऐसा जैन सिद्धान्त है, वह केवल निषेधात्मक एक है। जो उसके भेद करता है वह सर्वज्ञकी आज्ञाका उलङ्घन करता है। अतएव वह मिथ्यादृष्टि है।*

इदमत्र तु तात्पर्यमधिगन्तव्यं चिदादि यद्वस्तु।
व्यवहारनिश्चयाभ्यामविरुद्धं यथात्मशुद्ध्यर्थम् ॥ ६६२ ॥

---

* पञ्चाध्यायीकारका निरूपण स्वसमयकी अपेक्षासे है इसी लिये दूसरोंने जो शुद्ध द्रव्यार्थिक अशुद्ध द्रव्यार्थिक भेद किये हैं उनको इन्होंने व्यवहारनयमें ही गर्भित किया है। आलाप-पद्धतिकारने क्रोधादि भावोंको आत्माके भाव अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे बतलाये हैं, तथा आत्माके दर्शन ज्ञानादि गुण हैं यह भेदसापेक्ष कल्पना भी उक्त ग्रन्थकारने अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे बतलाई है, अथवा श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने द्रव्यसंग्रहमें रागादि भावोंका कर्त्ता जीवको अशुद्ध निश्चयनयसे कहा है। पञ्चाध्यायीकारने क्रोधादि भावोंको अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय तथा उपचरित-असद्भूत व्यवहारनयसे बतलाया है, तथा जीवके ज्ञानदर्शनादि गुण हैं यह कथन सद्भूत व्यवहारनयसे किया है। यह इतना बड़ा भेद केवल अपेक्षाका भेद है। पंचाध्यायीकारने स्वसमयकी अपेक्षासे निरूपण किया है। स्वसमयकी अपेक्षसे जीवके क्रोधादि भाव कहना वास्तवमें मिथ्या है। सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेवालोंको सभी कथन एक ही प्रतीत होते हैं क्योंकि सबोंका कथन अपेक्षा नहीं है। नय विभाग ही अपेक्षा पर निर्भर है। जो कथन एक दृष्टिसे मिथ्या प्रतीत होता है वही दूसरी दृष्टिसे ठीक समझा जाता है। इसलिये विना नय विभागके समझे जैन धर्मकी यथार्थताका बोध हो ही नहीं सक्ता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—यहां पर इतना ही तात्पर्य है कि जीवादिक जो पदार्थ हैं वे आत्मशुद्धिके लिये तभी उपयुक्त होसक्ते हैं जब कि वे व्यवहार और निश्चय नयके द्वारा अविरुद्ध रीतिसे जाने जाते हैं।

अपि निश्चयस्य नियतं हेतुः सामान्यमात्रमिह वस्तु।
फलमात्मसिद्धिः स्यात् कर्मकलंकावमुक्तबोधात्मा ॥ ६६३ ॥

अर्थ—निश्चय नयका कारण नियमसे सामान्य मात्र वस्तु है। फल आत्माकी सिद्धि है। निश्चय नयसे वस्तु बोध करने पर कर्म कलंकसे रहित ज्ञानवाला आत्मा हो जाता है।

प्रमाणका स्वरूप कहनेकी प्रतिज्ञा—

उक्तो व्यवहारनयस्तदनु नयो निश्चयः पृथक् पृथक्।
युगपद्द्वयं च मिलितं प्रमाणमिति लक्षणं वक्ष्ये ॥ ६६४ ॥

अर्थ—व्यवहार नयका स्वरूप कहा गया, उसके पीछे निश्चय नयका भी स्वरूप कहा गया। दोनों ही नय भिन्न २ स्वरूपवाले हैं। जब एक साथ दोनों नय मिल जाते हैं तभी वह प्रमाणका स्वरूप कहलाता है। उसी प्रमाणका लक्षण कहा जाता है।

प्रमाणका स्वरूप—

विधिपूर्वः प्रतिषेधः प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयोः।
मैत्री प्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम् ॥६६५॥

अर्थ—विधिपूर्वक प्रतिषेध होता है। प्रतिषेध पूर्वक विधि होती है। विधि और प्रतिषेध इन दोनोंकी जो मैत्री है वही प्रमाण कहलाता है अथवा स्व परको जाननेवाला जो ज्ञान है वही प्रमाण कहलाता है।

स्पष्टीकरण—

अयमर्थोऽर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य।
एकविकल्पो नयसादुभयविकल्पः प्रमाणमिति बोधः ॥६६६॥

अर्थ—ऊपर जो कहा गया है उसका खुलासा इस प्रकार है। अर्थाकार—पदार्थाकार परिणमन करनेका नाम ही अर्थ विकल्प है, यही ज्ञानका लक्षण है। वह ज्ञान जब एक विकल्प होता है अर्थात् एक अंशको विषय करता है तब वह नयाधीन—नयात्मक ज्ञान कहलाता है, और वही ज्ञान जब उभय विकल्प होता है अर्थात् पदार्थके दोनों अंशोंको विषय करता है तब वह प्रमाणरूप ज्ञान कहलाता है। भावार्थ—पदार्थमें सामान्य और विशेष ऐसी दो प्रकार की प्रतीति होती है। 'यह वही है, ऐसी अनुगत प्रतीतिको सामान्य प्रतीति कहते हैं, तथा विशेष २ पर्यायात्मक प्रतीतको विशेष प्रतीति कहते हैं। सामान्य विशेष प्रतीति पदार्थमें तभी होसक्ती है जब कि वह सामान्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषात्मक हो। इसलिये सिद्ध होता है कि पदार्थ उभयात्मक है। (सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः) ऐसा सूत्र भी है, अर्थात् पदार्थके सामान्य अंशको विषय करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है। उसके विशेषांशको विषय करनेवाला पर्यायार्थिक नय है। दोनों अंशोंको युगपत् (एक साथ) विषय करनेवाला प्रमाण ज्ञान है। उभयात्मक पदार्थ ही प्रमाणका विषय है।

शङ्काकार—

ननु चास्त्येकविकल्पोप्यविरुद्धोभयविकल्प एवास्ति।
कथमिव तदेकसमये विरुद्धभावद्वयोर्विकल्पः स्यात् ॥६६७॥
अथ चेदस्ति विकल्पो क्रमेण युगपद्वा बलाद्वाच्यः।
अथ चेत् क्रमेण नय इति भवति न नियमात्प्रमाणमितिदोषः ॥६६८॥
युगपच्चेदथ न मिथो विरोधिनोर्यौगपद्यं स्यात्।
दृष्टिविरुद्धत्वादपि प्रकाशतमसोर्द्वयोरिति चेत् ॥ ६६९ ॥

अर्थ—एक विकल्प भी अविरुद्ध उभय (दो) विकल्पवाला हो सक्ता है। अर्थात् अविरोधी कई धर्म एक साथ रह सक्ते हैं। परन्तु एक समयमें विरुद्ध दो भावोंका विकल्प किस प्रकार होसक्ता है? यदि एक साथ विरुद्ध दो विकल्प होसक्ते हैं तो क्रमसे हो सक्ते हैं या एक साथ उन दोनोंका हट पूर्वक प्रयोग किया जासक्ता है? यदि कहा जाय कि विरोधी दो धर्म क्रमसे होसक्ते हैं तो वे क्रमसे होनेवाले धर्म नय ही कहे जायँगे, प्रमाण वे नियमसे नहीं कहे जासक्ते, यह एक बड़ा दोष उपस्थित होगा। यदि कहा जाय कि वे दोनों धर्म एक साथ होसक्ते हैं तो यह बात बनती नहीं, कारण विरोधी धर्म एक साथ दो रह नहीं सक्ते। दो विरोधी धर्म एक साथ रहें इस विषयमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध आता है। जैसे प्रकाश और अन्धकार दोनों ही विरोधी हैं। वे क्या एक साथ रहते हुए कभी किसीने देखें हैं?

विरोधी धर्म भी एक साथ रह सक्ते हैं—

न यतो युक्तिविशेषाद्युगपद्वृत्तिर्विरोधिनामस्ति।
सदसदनेकेषामिह भावाभावध्रुवाध्रुवाणाञ्च ॥ ६७० ॥

अर्थ—ऊपर की हुई शङ्का ठीक नहीं है, कारण युक्ति विशेषसे विरोधी धर्मोंकी भी एक साथ वृत्ति रह सक्ती है। सत् असत्, भाव अभाव, नित्य अनित्य, भेद अभेद, एक अनेक आदि अनेक धर्मोंकी एक पदार्थमें एक साथ वृत्ति रहती है। भावार्थ—यद्यपि स्थूल दृष्टिसे सत् असत आदि धर्म विरोधी प्रतीत होते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे सापेक्ष विचार करनेपर जो विरोधी धर्म हैं वे भी अविरोधी प्रतीत होने लगते हैं। अथवा यदि वे विरोधी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी बने रहें तो भी पदार्थका यह स्वभाव है कि वह परस्पर विरुद्ध धर्मोंको भी एक समयमें धारण करे, इसका कारण द्रव्य और पर्याय है। द्रव्यदृष्टिसे पदार्थ सदा सत् रूप है, भावरूप है, नित्य है, अभिन्न है, एक है, परन्तु वही पदार्थ पर्यायदृष्टिसे असत् है, अभावरूप है, अनित्य है, भिन्न है, अनेक है। ग्रन्थान्तरमें कहा भी है—'समुदेति विलय मृच्छति भावो नियमेन पर्ययनयेन, नोदेति नो विनश्यति द्रव्यनयालिङ्गितो नित्यम्, अर्थात् पदार्थ पर्यायदृष्टिसे उत्पन्न भी होता है तथा नष्ट भी होता रहता है, परन्तु द्रव्य दृष्टिसे न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। स्वामी समन्तभद्राचार्यने भी कहा है—"सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादिभेदतः। भेदाभेदविवाक्षायामसाधारणहेतुवत्"॥ अर्थात् जिस प्रकार असाधारण हेतु पक्षधर्मादि भेदोंकी अपेक्षासे अनेक है और हेतु सामान्यकी अपेक्षासे वही हेतु एक है। उसी प्रकार पदार्थ भी द्रव्यभेदकी अपेक्षासे भिन्न है—अनेक है, परन्तु वही पदार्थ सत् सामान्यकी अपेक्षासे अभिन्न—एक है। इसलिये पदार्थ कथंचित् भेदाभेद विवक्षासे एक अनेक भिन्न अभिन्न आदि धर्मोंवाला एक ही समयमें ठहरता है। विना अपेक्षादृष्टिसे उन्हीं दो धर्मोंमें विरोध दीखता है, अपेक्षादृष्टिका परिज्ञान करनेसे उन्हींमें अविरोध दीखने लगता है।

अयमर्थो जीवादौ प्रकृतपरामर्शपूर्वकं ज्ञानम्।
यदि वा सदभिज्ञानं यथा हि सोयं बलाद्द्वयामर्शि ॥६७१॥

अर्थ—ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका यह अर्थ है कि जीवादि पदार्थोंमें व्यवहार और निश्चयके विचारपूर्वक जो ज्ञान है वही प्रमाण ज्ञान है। अथवा पदार्थमें जो प्रत्यभिज्ञान है वह प्रमाण ज्ञान है जैसे—यह वही है, इसप्रकारका ज्ञान एक वस्तुकी सायान्य विशेष दोनों अवस्थाओंको एक समयमें ग्रहण करता है।

दृष्टान्त—

सोयं जीवविशेषो यः सामान्येन सदिति वस्तुमयः।
संस्कारस्य वशादिह सामान्यविशेषजं भवेज्ज्ञानम् ॥६७२॥

अर्थ—वही यह जीव विशेष है जो सामान्यतासे सन्मात्र—वस्तुरूप था। उस सत्पदार्थमें संस्कारके वशसे सामान्यविशेषात्मक ज्ञान हो जाता है। **भावार्थ**—सामान्य दृष्टिसे वस्तु सन्मात्र प्रतीत होती है। विशेष दृष्टिसे वही विशेष पदार्थरूप प्रतीत होती है। जो जीव पदार्थ सन्मात्र प्रतीत होता है। वही जीवरूप (विशेष) भी प्रतीत होता है। जिस समय सन्मात्र और जीवरूप विशेषका बोध एक साथ होता है वही सामान्य विशेषको विषय करनेवाला प्रमाण ज्ञान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्त्युपयोगि ज्ञानं सामान्यविशेषयोः समं सम्यक्।
× आदर्शस्थानीयात् तस्य प्रतिबिम्बमाद्यतोऽन्यस्य ॥६७३॥

अर्थ—एक साथ सामान्यविशेषका उपयोगात्मक ज्ञान भले प्रकार हो सक्ता है। जैसे–दर्पणसे उसमें पड़नेवाला प्रतिबिम्ब यद्यपि (कथंचित्) भिन्न है। तथापि उस प्रतिबिम्बका और दर्पणका एक साथ बोध होता है। **भावार्थ**—जो अनेक प्रकारका चित्र ज्ञान होता है वह भी अनेकोंका युगपत् ही होता है इसलिये युगपत् सामान्य विशेषका उपयोगी ज्ञान होता है यह सर्व सम्मत है।

शंकाकार—

ननु चैवं नययुग्मं व्यस्तं नय एव न प्रमाणं स्यात्।
तदिह समस्तं योगात् प्रमाणमिति केवलं न नयः ॥ ६७४ ॥

अर्थ—दोनों ही नय जब भिन्न २ प्रयुक्त किये जाते हैं तब तो वे नय ही हैं, प्रमाण नहीं हैं और वे ही दोनों नय जब मिलाकर एक साथ प्रयोगमें लाये जाते हैं तब वह केवल प्रमाण कहलाता है, नय नहीं कहलाता है? **भावार्थ**–या तो नयकी सिद्धि होगी या प्रमाणकी सिद्धि होगी। नय प्रमाण दोनोंकी सिद्धि नहीं होसक्ती है?

प्रमाण नयोंसे भिन्न है—

तन्न यतो नययोगादतिरिक्तरसान्तरं प्रमाणमिदम्।
लक्षणविषयोदाहृतिहेतुफलाख्यादिभेदभिन्नत्वात् ॥ ६७५ ॥

अर्थ—ऊपर जो शंका की गई है वह ठीक नहीं है, क्योंकि नयोंके योगसे प्रमाण भिन्न ही वस्तु है, प्रमाणका लक्षण, विषय, उदाहरण हेतु, फल, नाम, भेद, आदि स्वरूप नयोंसे जुदा ही है। उसीको नीचे स्पष्ट करते हैं।

तत्रोक्तं लक्षणमिह सर्वस्वग्राहकं प्रमाणमिति।
विषयो वस्तुसमस्तं निरंशदेशादिभूरुदाहरणम् ॥६७६ ॥

अर्थ—प्रमाणका लक्षण सम्पूर्णपदार्थको ग्रहण करना। प्रमाणका विषय–समस्त वस्तु निरंशदेशादिक पृथ्वी उसका उदाहरण है।

तथा—

हेतुस्तत्त्वबुभुत्सोः संदिग्धस्याथवा च बालस्य।
सार्थमनेकं द्रव्यं हस्तामलकवदवेतुकामस्य ॥ ६७७ ॥

अर्थ—तत्त्वके जाननेकी इच्छा रखनेवाला जो कोई संदिग्ध पुरुष अथवा मूर्ख पुरुष है उसकी एक साथ अनेक द्रव्यको हाथमें रक्खे हुए आमलेके समान जाननेकी इच्छाका होना ही प्रमाणका कारण है।

× यह श्लोकका अर्ध भाग छपी हुई प्रतिमें नहीं है किन्तु लिखी हुईसे लिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा—

फलमस्यानुभवः स्यात्सममक्षामिव सर्ववस्तुजातस्य ।
आख्या प्रमाणमिति किल भेदः प्रत्यक्षमथ परोक्षं च ॥६७८॥

अर्थ—सम्पूर्ण वस्तुमात्रका प्रत्यक्षके समान अनुभव होना ही प्रमाणका फल है। प्रमाणका नाम प्रमाण है। प्रत्यक्ष और परोक्ष उसके दो भेद हैं। **भावार्थ**—उपर्युक्त कथनसे प्रमाण और नयमें अन्तर सिद्ध होगया। प्रमाण वस्तुके सर्व धर्मोंको विषय करता है। नय वस्तुके एक देशको विषय करता है। इसी बातको सर्वार्थसिद्धिकारने कहा है कि "सकलादेशः प्रमाणाधीनम्, विकलादेशो नयाधीनम्" इसी प्रकार प्रमाणका लक्षण जुदा है। एक गुणके द्वारा समस्त वस्तुके कथनको प्रमाण कहते हैं, प्रमाणसे जाने हुए पदार्थके परिणाम विशेषके कथनको नय कहते हैं। प्रमाणका फल समस्त वस्तुबोध है। नयका फल वस्तुका एकदेश बोध है। शब्द भेद भी है। प्रमाण और नय ये दो नाम भी जुदे २ हैं। प्रमाणके प्रत्यक्ष परोक्ष आदि भेद हैं। नयके द्रव्य, पर्याय आदि भेद हैं। इसलिये प्रमाण और नय दोनोंका ही स्वरूप जुदा २ है। उनमेंसे किसी एकका लोप करना सर्व लोपके प्रसंगका हेतु है। नयके अभावमें प्रमाण व्यवस्था नहीं बन सक्ती है, और प्रमाणके अभावमें नय व्यवस्था भी नहीं बन सक्ती है।

प्रमाण नयमें विषय भेदसे भेद है—

ज्ञानविशेषो नय इति ज्ञानविशेषः प्रमाणमिति नियमात् ।
उभयोरन्तर्भेदो विषयविशेषान्न वस्तुतो भेदः ॥ ६७९ ॥

अर्थ—नय भी ज्ञानविशेष है, और प्रमाण भी ज्ञानविशेष है। दोनोंमें विषय विशेषकी अपेक्षासे ही भेद है, वास्तवमें ज्ञानकी अपेक्षासे दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है।

भावार्थ—नय और प्रमाण दोनों ही ज्ञानात्मक हैं परन्तु दोनोंका विषय जुदा२ है इसी लिये उनमें भेद है। अब विषयभेदको ही प्रकट किया जाता है—

स यथा विषयविशेषो द्रव्यैकांशो नयस्य योन्यतमः ।
सोप्यपरस्तदपर इह निखिलं विषयः प्रमाणजातस्य ॥६८०॥

अर्थ—प्रमाण और नयमें विषयभेद इस प्रकार है—द्रव्यके अनन्त गुणोंमेंसे कोई सा विवक्षित अंश नयका विषय है। वह अंश तथा और भी सब अंश अर्थात् अनन्त गुणात्मक समस्त ही वस्तु प्रमाणका विषय है।

आशंका और परिहार—

यदनेकनयसमूहे संग्रहकरणादनेकधर्मत्वम् ।
तत्सदपि न सदिव यतस्तदनेकत्वं विरुद्धधर्ममयम् ॥ ६८१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदनेकांशग्राहकमिह प्रमाणं न प्रत्यनीकतया ।
प्रत्युत मैत्रीभावादिति नयभेददः प्रभिन्नं स्यात् ॥ ६८२ ॥

अर्थ—कोई ऐसी आशंका करते हैं कि जब वस्तुके एक अंशको विषय करनेवाला नय है तो अनेक नयोंका समूह होनेपर उससे ही अनेक धर्मता प्रमाणमें आजायगी, अर्थात् प्रमाण स्वतन्त्र कोई ज्ञान विशेष न माना जाय, अनेक नयोंके समूहको ही प्रमाण कहा जाय तो क्या हानि है ? आचार्य उत्तर देते हैं कि यह आशंका किसी प्रकार ठीक सी मालूम पड़ती है तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि अनेक नयोंके संग्रहसे जो अनेक धर्मोंका संग्रह होगा वह विरुद्ध होगा। कारण नय सभी एक दूसरेसे प्रतिपक्ष धर्मोंका विवेचन करते हैं। प्रमाण जो अनेक अंशोंका ग्रहण करता है सो वह विरुद्ध रीतिसे नहीं करता है। किन्तु परस्पर मैत्रीभाव पूर्वक ही उन धर्मोंको ग्रहण करता है। इसलिये नयभेदसे प्रमाण भिन्न ही है। **भावार्थ**—प्रत्येक नय एक२ धर्मको विरुद्ध रीतिसे ग्रहण करता है, परन्तु प्रमाण वस्तुके सर्वांशोंको अविरुद्धतासे ग्रहण करता है। इसका कारण यह है कि सब अंशोंको विषय करनेवाला एक ही ज्ञान है। भिन्न २ ज्ञान ही प्रत्येक अंशको विवक्षतासे ग्रहण कर सक्ते हैं। जैसे एक ज्ञान रूपको ही जानता है, दूसरा रसको जानता है, तीसरा गन्धको जानता है, चौथा स्पर्शको जानता है। ये चारों ही ज्ञान परस्पर विरुद्ध हैं क्योंकि विरुद्ध विषयोंको विषय करते हैं, परन्तु रूप, रस, गन्ध स्पर्श, चारोंका समुदायात्मक जो एक ज्ञान होगा वह अविरुद्ध ही होगा। यही दृष्टान्त प्रमाण नयमें सुघटित करलेना चाहिये। तथा पदार्थका नित्यांश उसके अनित्यांशका विरोधी है, उसी प्रकार अनित्यांश उसके नित्यांशका विरोधी है परन्तु दोनों मिलकर ही पदार्थस्वरूपके साधक हैं। इसका कारण यही है कि प्रत्येक पक्षका स्वतन्त्र ज्ञान द्वितीय पक्षका विरोधी है परन्तु उभय पक्षका समुदायात्मक ज्ञान परस्पर विरुद्ध होता हुआ भी अविरुद्ध है।

शंकाकार—

ननु युगपदुच्यमानं नययुग्मं तद्यथास्ति नास्तीति ।
एको भङ्गः कथमयमेकांशग्राहको नयो नान्यत् ॥ ६८३ ॥
अपि चास्ति न चास्तीति सममेकोक्त्या प्रमाणनाशः स्यात्
अथ च क्रमेण यदि वा स्वस्य रिपुः स्वयमहो स्वनाशाय ॥ ६८४ ॥
अथवाऽवक्तव्यमयो वक्तुमशक्यात्समं स चेद्भङ्गः ।
पूर्वापरबाधायाः कुतः प्रमाणात्प्रमाणमिह सिद्ध्येत् ॥ ६८५ ॥
इदमपि वक्तुमयुक्तं वक्ता नय एव न प्रमाणमिह ।
मूलविनाशाय यतोऽवक्तरि किल चेदवाच्यतादोषः ॥ ६८६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—'स्यात् अस्ति नास्ति' यह एक साथ कहा हुआ नययुग्म एक भङ्ग कहलाता है। यह भंग एक अंशका ग्रहण करनेवाला नय कैसे कहा जा सक्ता है, इसमें 'अस्ति नास्ति' ऐसे दो अंश आचुके हैं इसलिये यह प्रमाण क्यों नहीं कहा जाता है? दूसरी बात यह भी है कि 'अस्ति नास्ति' ये एक साथ कहे जाते हैं तो फिर प्रमाणका नाश ही हो जायगा। कारण अस्ति नास्तिको एक साथ कहनेवाला एक भंग ही है उसीसे कार्य चल जाता है फिर प्रमाणका लोप ही समझना चाहिये, अथवा यदि यह कहा जाय कि अस्ति नास्ति क्रमसे होते हैं तो यह कहना अपने नाशके लिये स्वयं अपना शत्रु है। कारण क्रमसे होनेवाला भंग दूसरा ही है, अथवा यदि यह कहा जाय कि अस्ति नास्ति एक साथ कहा नहीं जा सक्ता इसलिये वह अवक्तव्यमय भंग है तो ऐसा माननेमें पूर्वापर बाधा आती है। किस प्रमाणसे किस प्रमाणकी सिद्धि हो सक्ती है? अर्थात् यदि एक साथ कथन अवक्तव्य है तो प्रमाणकी सिद्धि करनेवाला कोई प्रमाण नहीं रहेगा क्योंकि प्रमाण तो अवक्तव्य हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि बोलनेवाला नय ही होता है, प्रमाण नहीं, तो ऐसा कथन भी मूलका विघात करनेवाला है क्योंकि प्रमाणको अवक्ता (नहीं बोलनेवाला) मान लेने पर अवाच्यताका दोष आता है ?

उत्तर—

नैवं यतः प्रमाणं भंगध्वंसादभंगबोधवपुः।
भङ्गात्मको नय इति यावानिह तदंशधर्मत्वात् ॥६८७॥

अर्थ—ऊपर की हुई शंका ठीक नहीं है। क्योंकि प्रमाण भंगज्ञानमय नहीं है किन्तु अभंगज्ञानमय है, भंगज्ञानमय नय होता है, कारण जितना भी नय विभाग है सभी वस्तुके अंशधर्मको विषय करता है। इसलिये—

× स यथास्ति च नास्तीति च क्रमेण युगपच्च वानयोर्भङ्गः।
अपि वाऽवक्तव्यमिदं नयो विकल्पानतिक्रमादेव ॥६८८॥

अर्थ—'स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति' इनका क्रमसे होनेवाला अथवा युगपत् होनेवाला भंग, भंग ही है, अथवा अवक्तव्यरूप भी भंग ही है। इन सब भंगोंमें विकल्पका उल्लंघन नहीं है इसलिये ये सभी भंग नय रूप हैं। भावार्थ—स्यादस्ति स्यान्नास्ति ये दोनों क्रमसे भिन्न २ कहे जायँ तो पहला दूसरा भंग होता है यदि इन दोनोंका क्रमसे एक साथ प्रयोग किया जाय तो तीसरा भंग 'स्यादस्ति नास्ति' होता है। यदि इन दोनोंका अक्रमसे एक साथ प्रयोग किया जाय तो 'अवक्तव्य' चौथा भंग होता है। इसलिये ये सब नयके ही भेद हैं और वे सब अं-

+ मूल पुस्तकमें 'सयोस्ति, ऐसा पाठ है, उसका अर्थ आत्मा है ऐसा होता है परन्तु वह अर्थ यहां पर पूर्वापर सम्बन्ध न होनेसे ठीक नहीं जँचता इसलिये संशोधित पुस्तकका उपर्युक्त 'स यथास्ति' पाठ लिखा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शात्मक हैं । प्रमाणरूप–अनेक धर्मात्मक नहीं कहे जासक्ते हैं । इसी बातको पुनः स्पष्ट किया जाता है–

तत्रास्ति च नास्ति सम भंगस्यास्यैकधर्मता नियमात् ।
न पुनः प्रमाणमिव किल विरुद्धधर्मद्वयाधिरूढत्वम् ॥६८९॥

अर्थ—उन भंगोंमें 'स्यादस्ति नास्ति यह एक साथ बोला हुआ भंग नियमसे एक धर्मवाला है। वह प्रमाणके समान नहीं कहा जा सक्ता क्योंकि प्रमाण एक ही समयमें दो विरुद्ध धर्मोंका मैत्रीभावसे प्रतिपादन करता है । उस प्रकार यह भंग विरुद्ध दो धर्मोंका प्रतिपादन नहीं करता है किन्तु पहले दूसरे भंगकी मिली हुई तीसरी ही अवस्थाका प्रतिपादन करता है इसलिये वह ज्ञान भी अंशरूप ही है ।

अयमर्थश्चार्थवशादथ च विवक्षावशात्तदंशत्वम् ।
युगपदिदं कथ्यमानं क्रमाज्ज्ञेयं तथापि तत्स यथा ॥६९०॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए कथनका यह आशय है कि प्रयोजनवश अथवा विवक्षावश युगपत् क्रमसे कहा हुआ जो भंग है वह अंशरूप है इसलिये वह नय ही है ।

अस्ति स्वरूपसिद्धेर्नास्ति च पररूपसिद्धयभावाच्च ।
अपरस्योभयरूपादितस्ततः कथितमस्ति नास्तीति ॥ ६९१ ॥

अर्थ—वस्तुमें निजरूपकी अपेक्षासे अस्तित्व है, यह प्रथम भंग है । उसमें पर रूपकी अपेक्षासे नास्तित्व है, यह द्वितीय भंग है । तथा स्वरूपकी अपेक्षासे अस्तित्व पररूपकी अपेक्षासे नास्तित्व ऐसा तृतीय भंग उभयरूपकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति रूप कहा गया है । अर्थात् (१) स्यादस्ति (२) स्यान्नास्ति (३) स्यादस्तिनास्ति । ये तीन भंग स्वरूप, पररूप, स्वरूप पररूपकी, अपेक्षासे क्रमसे जान लेने चाहिये । प्रमाणका स्वरूप इन भंगोंसे जुदा ही है—

उक्तं प्रमाणदर्शनमस्ति स योयं हि नास्तिमानर्थः ।
भवतीदमुदाहरणं न कथञ्चिद्वै प्रमाणतोऽन्यत्र ॥ ६९२ ॥

अर्थ—प्रमाणका जो स्वरूप कहा गया है वह नयोंसे जुदा ही है वह इस प्रकार है—जो पदार्थ अस्तिरूप है वही पदार्थ नास्तिरूप है । तृतीय भंगमें स्वरूपसे अस्तित्व और पररूपसे नास्तित्व क्रमसे कहा जाता है प्रमाणमें दोनों धर्मोंका प्रतिपादन सम्पकालमें प्रत्यभिज्ञानरूपसे कहा जाता है । जो अस्ति रूप है वही नास्ति रूप है, यह उदाहरण प्रमाणको छोड़कर अन्यत्र किसी प्रकार भी नहीं मिल सक्ता है, अर्थात् नयों द्वारा ऐसा विवेचन नहीं किया जा सक्ता । नयोंसे युगपत् ऐसा विवेचन क्यों नहीं हो सक्ता ? उसे ही स्पष्ट करते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदभिज्ञानं हि यथा वक्तुमशक्यात् समं नयस्य यतः।
अपि तुर्यो नयभंगस्तत्त्वावक्तव्यतां श्रितस्तस्मात् ॥ ६९३ ॥

अर्थ—उसका कारण यह है कि नय एक साथ दो धर्मोंका प्रतिपादन करनेमें असमर्थ है। इसलिये एक साथ दो धर्मोंके कहनेकी विवक्षामें 'अवक्तव्य' नामक चौथा भंग होता है। यह भंग भी एक अंशात्मक है। जो नहीं बोला जा सके उसे अवक्तव्य कहते हैं एक समयमें एक ही धर्मका विवेचन हो सक्ता है, दो का नहीं।

परन्तु—

न पुनर्वक्तुमशक्यं युगपद्धर्मद्वयं प्रमाणस्य।
क्रमवर्त्ती केवलमिह नयः प्रमाणं न तद्वदिह यस्मात् ॥ ६९४ ॥

अर्थ—परन्तु प्रमाणके विषयभूत दो धर्म एक साथ कहे नहीं जा सक्ते ऐसा नहीं है, किन्तु एक साथ दोनों धर्म कहे जाते हैं। क्रमवर्त्ती केवल नय है, नयके समान प्रमाण क्रमवर्त्ती नहीं है, अर्थात् प्रमाण चतुर्थ नयके समान अवक्तव्य भी नहीं है और तृतीय नयके समान वह क्रमसे भी दो धर्मोंका प्रतिपादन नहीं करता है, किन्तु दोनों धर्मोंका समकाल ही प्रतिपादन करता है। इसलिये नय युग्मसे प्रमाण भिन्न ही है।

यत्किल पुनः प्रमाणं वक्तुमलं वस्तुजातमिह यावत्।
सदसदनेकैकमथो नित्यानित्यादिकं च युगपदिति ॥ ६९५ ॥

अर्थ—वह प्रमाण निश्चयसे वस्तु मात्रका प्रतिपादन करनेमें समर्थ है, अथवा सत् असत् एक अनेक, नित्य अनित्य, इत्यादि अनेक धर्मोंका युगपत् प्रतिपादन करनेमें प्रमाण ही समर्थ है।

प्रमाणके भेद—

अथ तद्द्विधा प्रमाणं ज्ञानं प्रत्यक्षमथ परोक्षञ्च।
असहायं प्रत्यक्षं भवति परोक्षं सहायसापेक्षम् ॥ ६९६ ॥

अर्थ—प्रमाणरूप ज्ञानके दो भेद हैं, (१) प्रत्यक्ष (२) परोक्ष। जो ज्ञान किसीकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखता वह प्रत्यक्ष है, और जो ज्ञान दूसरोंकी सहायताकी अपेक्षा रखता है वह परोक्ष है। भावार्थ–जो ज्ञान विना इन्द्रिय, मन आलोक आदि सहायताके केवल आत्मासे होता है वह प्रत्यक्ष है, और जो ज्ञान इन्द्रियादिकी सहायतासे होता है वह परोक्ष है।

प्रत्यक्षके भेद—

प्रत्यक्षं द्विविधं तत्सकलप्रत्यक्षमक्षयं ज्ञानम्।
क्षायोपशमिकमपरं देशप्रत्यक्षमक्षयं क्षयि च ॥६९७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—प्रत्यक्ष दो प्रकारका है (१) सकल प्रत्यक्ष (२) विकल प्रत्यक्ष। जो अक्षय—अविनाशी ज्ञान है वह सकल प्रत्यक्ष है। दूसरा विकल प्रत्यक्ष अर्थात् देश प्रत्यक्ष कर्मोंके क्षयोपशमसे होता है। देश प्रत्यक्ष कर्मोंके क्षयसे नहीं होता है, तथा यह विनाशी भी है।

सकल प्रत्यक्षका स्वरूप—

अयमर्थो यज्ज्ञानं समस्तकर्मक्षयोद्भवं साक्षात्।
प्रत्यक्षं क्षायिकमिदमक्षातीतं सुखं तदक्षयिकम् ॥ ६९८ ॥

अर्थ—स्पष्ट अर्थ यह है कि जो ज्ञान समस्त कर्मोंके क्षयसे प्रकट होता है तथा जो साक्षात्—आत्म मात्र सापेक्ष होता है वह सकल प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। वह प्रत्यक्ष ज्ञान क्षायिक है, इन्द्रियोंसे रहित है, आत्मीक सुख स्वरूप है, तथा अविनश्वर है। **भावार्थ**—आवरण और इन्द्रियों सहित जो ज्ञान होता है वह पूर्ण नहीं होसक्ता, कारण जितने अंशमें उस ज्ञानके साथ आवरण लगे हुए हैं उतने अंशमें वह ज्ञान छिपा हुआ ही रहेगा। जैसा कि हम लोगोंका ज्ञान आवरण विशिष्ट है इसलिये वह स्वल्प है। इसी प्रकार इन्द्रियों सहित ज्ञान भी पूर्ण नहीं होसक्ता है। क्योंकि इन्द्रिय और मनसे जो ज्ञान होता है वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादाको लिये हुए होता है, साथ ही वह क्रमसे होता है, इसलिये जो इन्द्रियोंसे रहित तथा आवरणसे रहित ज्ञान है वही पूर्ण ज्ञान है। वह ज्ञान फिर कभी नष्ट भी नहीं होसक्ता है और उसी परिपूर्ण ज्ञान—केवल ज्ञानके साथ अनन्त अक्षातीत आत्मीक सुख गुण भी प्रकट होजाता है।

देश प्रत्यक्षका स्वरूप—

देशप्रत्यक्षमिहाप्यवधिमनःपर्ययं च यज्ज्ञानम्।
देशं नोइन्द्रियमन उत्थात् प्रत्यक्षमितरनिरपेक्षात् ॥ ६९९ ॥

अर्थ—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान ये दो ज्ञान देश प्रत्यक्ष कहलाते हैं। देश प्रत्यक्ष इन्हें क्यों कहते हैं। देश तो इसलिये कहते हैं कि ये मनसे उत्पन्न होते हैं। प्रत्यक्ष इसलिये कहलाते हैं कि ये इतर इन्द्रियोंकी सहायतासे निरपेक्ष हैं। **भावार्थ**—अवधि और मनःपर्यय ये दो ज्ञान स्पर्शनादि इन्द्रियोंसे उत्पन्न नहीं होते हैं, केवल मनसे* उत्पन्न होते हैं इसलिये ये देश प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

---

* गोमट्टसारके "इंदियणोइंदियजोगादिं पेक्खित्तु उजुमदी होदि णिखेक्खिय विउलमदी ओहिं वा हेदि णियमेण" इस गाथाके अनुसार ऋजुमति मनःपर्यय इन्द्रिय नोइन्द्रियकी सहायतासे होता है परन्तु विपुलमति मनःपर्यय और अवधिज्ञान दोनों ही इन्द्रिय मनकी सहायतासे नहीं होते हैं। ऋजुमति ईहामतिज्ञानपूर्वक (परम्परा) होता है। इसलिये उसमें इन्द्रिय मनकी सापेक्षता समझी गई है। पञ्चाध्यायीकारने अवधि मनःपर्यय दोनोंमें ही मनकी सापेक्षता बतलाई है। यह सब सापेक्षता बाह्यापेक्षासे है, साक्षात् तो आत्ममात्र सापेक्ष ही दोनों हैं। तथापि चिन्तनीय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परोक्षका स्वरूप—

आभिनिबोधिकबोधो विषयविषयिसन्निकर्षजस्तस्मात्।
भवति परोक्षं नियमादपि च मतिपुरस्सरं श्रुतं ज्ञानम्॥१००॥

अर्थ—आभिनिबोधिक बोध अर्थात् मतिज्ञान पदार्थ और इन्द्रियोंके सन्निकर्षसे होता है इसलिये वह नियमसे परोक्ष है, और मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है, वह भी परोक्ष है। भावार्थ—स्थूल वर्त्तमान योग्य क्षेत्रमें ठहरे हुए पदार्थको अभिमुख कहते हैं, और जो विषय जिस इन्द्रियका नियत है उसे नियमित कहते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान होता है वह स्थूल पदार्थका होता है, सूक्ष्म परमाणु आदिका नहीं होता है। साथ ही योग्य देशमें (जितनी निकटता या दूरता आवश्यक है) सामने स्थित पदार्थका ज्ञान होता है। और चक्षुका रूप विषय नियत है, रसनाका रस नियत है ऐसे ही पांचों इन्द्रियोंका नियत विषय है। इनके सिवा जो मनके द्वारा बोध होता है वह सब मतिज्ञान कहलाता है। अभिमुख नियमित बोधको ही आभिनिबोधिक बोध कहा गया है। यह नाम इन्द्रियोंकी मुख्यतासे कहा गया है। मतिज्ञान परोक्ष है श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है तथा मनकी अपेक्षा मुख्यतासे रखता है इसलिये वह भी परोक्ष है। इतना विशेष है कि जो मतिज्ञानको विषय विषयीके सन्निकर्ष सम्बन्धसे उत्पन्न बतलाया गया है उसका आशय यह है कि स्पर्शन, रसन, घ्राण, श्रोत्र ये चार इन्द्रियां तो पदार्थका सम्बन्ध कर बोध करती हैं, परन्तु चक्षु और मन ये दो इन्द्रियां पदार्थको दूरसे ही जानती हैं। न तो इनके पास पदार्थ ही आता है और न ये ही पदार्थके पास पहुंचती हैं। मनसे हजारों कोशोंमें ठहरे हुए पदार्थोंका बोध होता है। इसलिये वह तो पदार्थका विना सम्बन्ध किये ही ज्ञान करता है यह निर्णीत है। चक्षु भी यदि सम्बन्धसे पदार्थका बोध करता तो नेत्रमें लगे हुए अंजनका बोध स्पष्ट होता, परन्तु चक्षुसे अति निकटका पदार्थ नहीं देखा जाता है। पुस्तक को यदि चक्षुके अति निकट रख दिया जाय तो चक्षु उसे नहीं देखता है। दूसरी बात यह भी है कि नेत्रको खोलते ही सामनेके वृक्ष चन्द्रमा आदि सबोंको वह एक साथ ही देख लेता है, यदि वह पदार्थोंका सम्बन्ध करके ही उनका बोध करता तो जैसे स्पर्शन इन्द्रिय जैसा २ स्पर्श करती है वैसा २ ही क्रमसे बोध करती है उसी प्रकार चक्षु भी पहले पासके पदार्थोंको देखता, पीछे दूरवर्त्ती पदार्थोंको क्रमसे जानता। एक साथ सबोंका बोध सम्बन्ध माननेसे कदापि नहीं बन सक्ता है। तीसरी बात यह है कि यदि पदार्थोंके सम्बन्धसे ही चक्षु पदार्थोंका बोध करता तो एक बड़े मोटे काचके भीतर रक्खे हुए पदार्थोंको चक्षु नहीं देख सक्ता, परन्तु कितना ही मोटा कांच क्यों न हो उसके भीतरके पदार्थोंका चक्षु बोध कर लेता है। यदि इसके विपक्षमें यह कहा जाय कि शब्द जिस प्रकार भित्तिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिबन्ध रहते हुए भी दूसरी ओर ठहरे हुए मनुष्यके कानमें चला जाता है उसी प्रकार चक्षु भी कांचके भीतर अपनी किरणें डाल देता है। परन्तु सूक्ष्म विचार करनेपर यह विपक्ष कथन खण्डित हो जाता है। शब्द विना खुला हुआ प्रदेश पाये बाहर जाता ही नहीं है। मकानके भीतर रहकर हम भित्तिका प्रतिबन्ध समझते हैं परन्तु उसमें शब्दके बाहर निकलनेके बहुतसे मार्ग खुले रहते हैं जैसे—किवाड़ोंकी दरारें, खिड़कियोंकी सदें झरोखे आदि। यदि सर्वथा बन्द प्रदेश हो तो शब्द भी बाहर नहीं जाता है। पानीमें डूब जानेपर यदि बाहरसे कोई मनुष्य कितना ही जोरसे क्यों न चिल्लावे परन्तु पानीमें डूबा हुआ मनुष्य उसका शब्द नहीं सुनता है यह अनुभव की हुई बात है। यदि शब्द प्रतिबन्ध रहनेपर भी बाहर चला जाय तो भित्तिके भीतर धीरे २ बात करनेपर क्यों नहीं दूसरी ओर सुनाई पड़ती है। इसका कारण यही है वह शब्द वर्गणा वहींपर दीवालसे टकराकर रह जाती हैं। इसलिये चक्षु पदार्थसे सम्बन्ध नहीं करता है किन्तु दूरसे ही उसे जानता है। मन भी ऐसा ही है। इन दोनोंके साथ संबंधका अर्थ योग्य देश प्राप्त करना चाहिये। *

चारों ही ज्ञान परोक्ष हैं—

छद्मस्थावस्थायामावरणेन्द्रियसहायसापेक्षम्।
यावज्ज्ञानचतुष्टयमर्थात् सर्वं परोक्षमिदवाच्यम्॥ ७०१॥

अर्थ—छद्मस्थ—अल्पज्ञ अवस्थामें जितने भी ज्ञान हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय चारों ही आवरण और इन्द्रियोंकी सहायताकी अपेक्षा रखते हैं। इसलिये इन चारों ही ज्ञानोंको परोक्षके समान ही कहना चाहिये। अर्थात् मतिश्रुत तो परोक्ष कहे ही गये हैं परन्तु अवधि मनःपर्यय भी इन्द्रिय आवरणकी अपेक्षा रखते हैं इसलिये वे भी परोक्ष तुल्य ही हैं।

अवधिमनःपर्ययविद्वैतं प्रत्यक्षमेकदेशत्वात्।
केवलमिदमुपचारादथ च विवक्षावशान्न चान्वर्थात्॥ ७०२॥

अर्थ—अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये दो ज्ञान एक देश प्रत्यक्ष कहे गये हैं, परन्तु इनमें यह प्रत्यक्षता विवक्षावश केवल उपचारसे ही घटती है। वास्तवमें ये प्रत्यक्ष नहीं है।

तत्रोपचारहेतुर्यथा मतिज्ञानमक्षजं नियमात्।
अथ तत्पूर्वं श्रुतमपि न तथावधिचित्तपर्ययं ज्ञानम्॥ ७०३॥

---

* नैयायिक तथा वैशेषिक दर्शनवाले चक्षुको प्राप्यकारी अर्थात् पदार्थोंके पास जानेवाला बतलाते हैं परन्तु ऐसा उनका मानना उपर्युक्त युक्तियोंसे सर्वथा बाधित है। चक्षुको प्राप्यकारी माननेमें और भी अनेक दोष आते हैं जिनका विस्तृत वर्णन प्रमेयकमल मार्तण्ड-में किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—उपचारका कारण भी यह है कि जिस प्रकार मतिज्ञान नियमसे इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है, और उस मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान भी इन्द्रियजन्य है। उस प्रकार अवधि और मनः पर्यय ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है इसीलिये अवधि और मनःपर्यय उपचारसे प्रत्यक्ष कहे जाते हैं।

यत्स्यादवग्रहेहावायानतिधारणापरायत्तम्।
आद्यं ज्ञानं द्वयमिह यथा तथा नैव चान्तिमं द्वैतम्॥ ७०४॥

अर्थ—अवग्रह, ईहा, अवाय धारणाके पराधीन जिस प्रकार आदिके दो ज्ञान होते हैं उस प्रकार अन्तके दो नहीं होते।

दूरस्थानर्थानिह समक्षमिव वेत्ति हेलया यस्मात्।
केवलमेव मनःसादवधिमनः पर्ययद्वयं ज्ञानम्॥ ७०५॥

अर्थ—अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान केवल मनकी सहायतासे दूरवर्त्ती पदार्थोंको कौतुकके समान प्रत्यक्ष जान लेते हैं।

मतिश्रुत भी मुख्य प्रत्यक्षके समान प्रत्यक्ष हैं—

अपि किंवाभिनिबोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत्।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत्॥ ७०६॥

अर्थ—विशेष बात यह है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये आदिके दो ज्ञान भी स्वात्मानुभूतिके समय प्रत्यक्ष ज्ञानके समान प्रत्यक्ष हो जाते हैं, और समयमें नहीं। **भावार्थ**—केवल स्वात्मानुभवके समय जो ज्ञान होता है वह यद्यपि मतिज्ञान है तो भी वह वैसा ही प्रत्यक्ष है जैसा कि आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। किन्तु—

तदिह द्वैतमिदं चित्स्पर्शादीन्द्रियविषयपरिग्रहणे।
व्योमाद्यवगमकाले भवति परोक्षं न समक्षमिह नियमात्॥७०७॥

अर्थ—वे ही मतिज्ञान श्रुतज्ञान जब स्पर्शादि इन्द्रियोंके विषयोंका (मानसिक) बोध करने लगते हैं तब वे नियमसे परोक्ष हैं, प्रत्यक्ष नहीं।

शङ्काकार—

ननु चाद्ये हि परोक्षे कथमिव सूत्रे कृतः समुद्देशः।
अपि तल्लक्षणयोगात् परोक्षमिव सम्भवत्येतत्॥७०८॥

अर्थ—'आद्ये परोक्षम्' इस सूत्रमें मतिज्ञान श्रुतज्ञानको परोक्ष बतलाया गया है, तथा परोक्षका लक्षण भी इन दोनोंमें सुघटित होता है इसलिये ये दोनों ज्ञान परोक्ष हैं। फिर उन्हें स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष क्यों बतलाया जाता है? **भावार्थ**—आगम प्रमाणसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी दोनों ज्ञान परोक्ष हैं तथा इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण भी मतिश्रुत परोक्ष हैं फिर ग्रन्थकार स्वात्मानुभूति कालमें निरपेक्ष ज्ञानके समान उन्हें प्रत्यक्ष कैसे बतलाते हैं ?

उत्तर—

सत्यं वस्तुविचारः स्यादतिशयवर्जितोऽविसंवादात्।
साधारणरूपतया भवति परोक्षं तथा प्रतिज्ञायाः ॥७०९॥
इह सम्यग्दृष्टेः किल मिथ्यात्वोदयविनाशजा शक्तिः।
काचिदनिर्वचनीया स्वात्मप्रत्यक्षमेतदस्ति यया ॥ ७१० ॥

अर्थ—ठीक है, परन्तु वस्तुका विचार अतिशय रहित होता है, उसमें कोई विवाद नहीं रहता। यद्यपि यह बात ठीक है और ऐसी ही सूत्रकारकी प्रतिज्ञा है कि साधारणरूपसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व कर्मोदयके नाश होनेसे कोई ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति प्रकट होजाती है कि जिसके द्वारा नियमसे स्वात्म प्रत्यक्ष होने लगता है। भावार्थः—यद्यपि सामान्य रीतिसे मति श्रुत परोक्ष हैं तथापि दर्शनमोहनीयके नाश या उपशम या क्षयोपशम होनेसे सम्यग्दृष्टिके स्वात्मानुभवरूप मतिज्ञान विशेष उत्पन्न होजाता है वही प्रत्यक्ष है, परन्तु स्वात्मानुभवको छोड़ कर इतर पदार्थोंके ग्रहण कालमें उक्त ज्ञान परोक्ष ही है। इसका कारण—

तदभिज्ञानं हि यथा शुद्धस्वात्मानुभूतिसमयेस्मिन्।
स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च नोपयोगि मतम् ॥ ७११ ॥

अर्थ—इसका कारण यह है कि इस शुद्ध स्वात्मानुभवके समयमें स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाचों इन्द्रियाँ उपयोगात्मक नहीं मानी गई हैं। अर्थात् शुद्ध-आत्मानुभवके समय इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं होता है, किन्तु—

केवलमुपयोगि मनस्तत्र च भवतीह तन्मनो द्वेधा।
द्रव्यमनो भावमनो नोइन्द्रियनाम किल स्वार्थात् ॥ ७१२ ॥

अर्थ—केवल मन ही उस समय उपयुक्त होता है। वह मन दो प्रकार है। (१) द्रव्यमन (२) भावमन। मनका ही उसके अर्थानुसार दूसरा नाम नो इन्द्रिय है। भावार्थ जिस प्रकार इन्द्रियां बाह्य स्थित हैं और नियत विषयको जानती हैं उस प्रकार मन बाह्य स्थित नहीं है तथा नियत विषयको भी नहीं जानता है। इसलिये वह ईषत् (कम) इन्द्रिय होनेसे नोइन्द्रिय कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यमन—

द्रव्यमनो हृत्कमले घनाङ्गुलासंख्यभागमात्रं यत्।
अचिदपि च भावमनसः स्वार्थग्रहणे सहायतामेति ॥ ७१३ ॥

अर्थ—द्रव्यमन हृदय कमलमें होता है, वह घनाङ्गुलके असंख्यात मात्र भाग प्रमाण होता है। यद्यपि वह अचेतन—जड़ है तथापि भाव मन जिस समय पदार्थोंको विषय करता है उस समय द्रव्यमन उसकी सहायता करता है। भावार्थ—पुद्गलकी जिन पाँच वर्गणाओंसे जीवका सम्बन्ध है उनमें एक मनोवर्गणा भी है। उसी मनोवर्गणाका हृदय स्थानमें कमलवत् द्रव्य मन बनता है। उसी द्रव्य मनमें आत्माका हेयोपादेयरूप विशेष ज्ञान-भाव मन उत्पन्न होता है। जिस प्रकार रूपका बोध आत्मा चक्षु द्वारा ही करता है उसी प्रकार आत्माके विचारोंकी उत्पत्तिका स्थान द्रव्यमन है।

भावमन—

भावमनः परिणामो भवति तदात्मोपयोगमात्रं वा।
लब्ध्युपयोगविशिष्टं स्वावरणस्य क्षयाक्रमाच्च स्यात् ॥७१४॥

अर्थ—भावमन आत्माका ज्ञानात्मक परिणाम विशेष है। वह अपने प्रतिपक्षी-आवरण कर्मके क्षय होनेसे लब्धि और उपयोग सहित क्रमसे होता है। भावार्थ—कर्मोंके क्षयोपशमसे जो आत्मामें विशुद्धि-निर्मलता होती है उसे लब्धि कहते हैं, तथा पदार्थोंकी ओर उन्मुख (रुजू) होकर उनके जाननेको उपयोग कहते हैं। विना लब्धिरूप ज्ञानके उपयोगात्मक बोध नहीं हो सक्ता है, परन्तु लब्धिके रहते हुए उपयोगात्मक बोध हो या न हो, नियम नहीं है। मनसे जो बोध होता है वह युगपत् नहीं होता है किन्तु क्रमसे होता है।

स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चकं यावत्।
मूर्तग्राहकमेकं मूर्तामूर्तस्य वेदकं च मनः ॥७१५॥

अर्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये जितनी भी पाचों इन्द्रियां हैं सभी एक मूर्त्त पदार्थको ग्रहण करनेवाली हैं। परन्तु मन मूर्त और अमूर्त दोनोंको जाननेवाला है।

तस्मादिदमनवद्यं स्वात्मग्रहणे किलोपयोगि मनः।
किन्तु विशिष्टदशायां भवतीह मनः स्वयं ज्ञानम् ॥७१६॥

अर्थ—इसलिये वह बात निर्दोष रीतिसे सिद्ध होचुकी कि स्वात्माके ग्रहण करनेमें नियमसे मन ही उपयोगी है। किन्तु इतना विशेष है कि वह मन विशेष अवस्थामें अर्थात् अमूर्त पदार्थके ग्रहण करते समय स्वयं भी अमूर्त ज्ञानरूप हो जाता है। भावार्थ—पहले कहा गया है कि स्वात्मानुभूति यद्यपि मतिज्ञान स्वरूप है अथवा तत्पूर्वक श्रुत ज्ञान स्वरूप भी है। तथापि वह निरपेक्ष ज्ञानके समान प्रत्यक्ष ज्ञान रूप है। इसी बातको यहां पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पष्ट कर दिया गया है कि यद्यपि मतिश्रुत परोक्ष होते हैं तथापि वे इन्द्रिय और मनसे होते हैं, मन अमूर्तका भी जाननेवाला है। जिस समय वह केवल अमूर्त पदार्थको ही जान रहा है अर्थात् केवल स्वात्माका ही ग्रहण कर रहा है उस समय वह मन रूप ज्ञान भी अमूर्त ही है। इसीलिये वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इन्द्रियां मूर्त पदार्थका ही ग्रहण करती हैं इसलिये स्वात्म प्रत्यक्षमें उनका उपयोग ही नहीं है। इसीको पुनः स्पष्ट करते हैं:—

नासिद्धमेतदुक्तं तदिन्द्रियानिन्द्रियोद्भवं सूत्रात्।
स्यान्मतिज्ञाने यत्तत्पूर्वं किल भवेच्छ्रुतज्ञानम् ॥ ७१७ ॥

अयमर्थो भावमनो ज्ञानविशिष्टं स्वयं हि सदमूर्तम्।
तेनात्मदर्शनमिह प्रत्यक्षमतीन्द्रियं कथं न स्यात् ॥ ७१८ ॥

अर्थ—यह बात असिद्ध भी नहीं है, सूत्रद्वारा यह बतलाया जा चुका है कि मतिज्ञान तथा उस मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होते हैं। इतना विशेष है कि भावमन विशेष (अमूर्त) ज्ञान विशिष्ट जब होता है तब वह स्वयं अमूर्त स्वरूप होजाता है। उस अमूर्त—मनरूप ज्ञानद्वारा आत्माका प्रत्यक्ष होता है इसलिये वह प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय क्यों न हो? अर्थात् केवल स्वात्माको जाननेवाला जो मानसिक ज्ञान है वह अवश्य अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है।

अपि चात्मसंसिद्ध्यै नियतं हेतू मतिश्रुती ज्ञाने।
प्रान्त्यद्वयं विना स्यान्मोक्षो न स्यात्ते मतिद्वैतम् ॥ ७१९ ॥

अर्थ—तथा आत्माकी भले प्रकार सिद्धिके लिये मतिश्रुत ये दो ही ज्ञान नियत कारण हैं। कारण इसका यह है कि अवधि और मनःपर्यय ज्ञानोंके विना तो मोक्ष होजाता हैं परन्तु मतिश्रुतके विना कदापि नहीं होता। भावार्थ—यह नियम नहीं है कि सब ज्ञानोंके होनेपर ही केवलज्ञान उत्पन्न हो। किसीके अवधि मनःपर्यय नहीं भी होते हैं तो भी उसके केवलज्ञान होजाता है। परन्तु मतिश्रुत तो प्राणीमात्रके नियमसे होते हैं। इसलिये सुमति सुश्रुत ये दो ही आत्माकी प्राप्तिमें मूल कारण हैं। अतएव मिथ्यात्वके अनुदयमें विशेष मतिज्ञानद्वारा स्वात्माका साक्षात्कार हो ही जाता है।

शङ्काकार—

ननु जैनानामेतन्मतं मतेष्वेव नापरेषां हि।
विप्रतिपत्तौ बहवः प्रमाणमिदमन्यथा वदन्ति यतः ॥ ७२० ॥

अर्थ—सम्पूर्ण मतोंमें जैनियोंके मतमें ही प्रमाणकी ऐसी व्यवस्था है, दूसरोंके यहां ऐसी नहीं है। यह विषय विवादग्रस्त है, क्योंकि बहुतसे मत प्रमाणका स्वरूप दूसरे ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार कहते हैं। भावार्थ—जैनियोंने उपर्युक्त कथनानुसार ज्ञानको ही प्रमाण मानकर उसके प्रत्यक्ष परोक्ष दो भेद किये हैं परन्तु अन्य दर्शनवाले ऐसा नहीं मानते हैं ?

कोई वेदको ही प्रमाण मानते हैं—

वेदाः प्रमाणमिति किल वदन्ति वेदान्तिनो विद्याभासाः।
यस्मादपौरुषेयाः सन्ति यथा व्योम ते स्वतः सिद्धाः ॥ ७२१ ॥

अर्थ—ज्ञानाभासी (मिथ्याज्ञानी) वेदान्त मतवाले कहते हैं कि वेद ही प्रमाण हैं। और वे पुरुषके बनाये हुए नहीं है, किन्तु आकाशके समान स्वतः सिद्ध हैं। अर्थात् जिस-प्रकार आकाश अनादिनिधन स्वयं सिद्ध है किसीने उसे नहीं बनाया है उसी प्रकार वेद भी अनादिनिधन स्वयं सिद्ध हैं।

कोई प्रभाकरणको प्रमाण मानते हैं—

अपरे प्रमानिदानं प्रमाणमिच्छन्ति पण्डितम्मन्याः।
समयन्ति सम्यगनुभवसाधनमिह यत्प्रमाणमिति केचित् ॥७२२॥

अर्थ—दूसरे मतवाले (नैयायिक) अपने आपको पण्डित मानते हुए प्रमाणका स्वरूप यह कहते हैं कि जो प्रमाका निदान हो वह प्रमाण है अर्थात् प्रमा नाम प्रमाणके फलका है। उस फलका जो साधकतम कारण है वही प्रमाण है ऐसा नैयायिक कहते हैं। दूसरे कोई ऐसा भी कहते हैं कि जो सम्यग्ज्ञानमें कारण पड़ता हो वही प्रमाण है। ऐसा प्रमाणका स्वरूप माननेवालोंमें वैशेषिक बौद्ध आदि कई मतवाले आजाते हैं जो कि आलोक, पदार्थ, सन्निकर्षादिको प्रमाण मानते हैं।

इत्यादि वादिवृन्दैः प्रमाणमालक्ष्यते यथारुचि तत्।
आप्ताभिमानदग्धैरलब्धमानैरतीन्द्रियं वस्तु ॥ ७२३ ॥

अर्थ—जिन्होंने अतीन्द्रिय वस्तुके स्वरूपको नहीं पहचाना है, जो वृथा ही अपने आपको आप्तपनेके अभिमानसे जला रहे हैं ऐसे अनेक वादीगण प्रमाणका स्वरूप अपनी इच्छानुसार कहते हैं।

वेदान्तादिवादियोंके माने हुए प्रमाणोंमें दूषण—

प्रकृतमलक्षणमेतल्लक्षणदोषैरधिष्ठितं यस्मात्।
स्यादविचारितरम्यं विचार्यमाणं खपुष्पवत्सर्वम् ॥ ७२४ ॥

अर्थ—जिन प्रमाणोंका ऊपर उल्लेख किया गया है वे सब दूषित हैं, कारण जो प्रमाणका लक्षण होना चाहिये वह लक्षण उनमें नाता ही नहीं है और जो कुछ उनका लक्षण किया गया है वह दोषोंसे विशिष्ट (सहित) है तथा अविचारित रम्य है। उन समस्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणोंके लक्षणोंपर विचार किया जाय तो वे आकाशके पुष्पोंके समान मालूम होते हैं। अर्थात् असिद्ध ठहरते हैं। क्यों ? सो आगे कहा गया है।—

ज्ञान ही प्रमाण है—

अर्थाद्यथा कथञ्चिज्ज्ञानादन्यत्र न प्रमाणत्वम्।
करणादि विना ज्ञानादचेतनं कः प्रमाणयति ॥ ७२५ ॥

अर्थ—अर्थात् किसी भी प्रकार ज्ञानको छोड़कर अन्य किसी जड़ पदार्थमें प्रमाणता आ नहीं सकती है। विना ज्ञानके अचेतन करण, सन्निकर्ष इन्द्रिय आदिको कौन प्रमाण समझेगा ? अर्थात् प्रमाणका फल प्रमा—अज्ञान निवृत्तिरूप है, उसका कारण भी अज्ञान निवृत्तिरूप होना आवश्यक है इसलिये प्रमाण भी अज्ञान निवृत्ति ज्ञानस्वरूप होना चाहिये। जड़ पदार्थ प्रमेय हैं वे प्रमाण नहीं हो सकते हैं, अपने आपको जाननेवाला ही परका ज्ञाता हो सकता है जो स्वयं अज्ञानरूप है वह स्व—पर किसीको नहीं जना सकता है। इसलिये करण आदि जड़ हैं वे प्रमाण नहीं हो सकते, किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है।

तत्रान्तर्लीनत्वाज्ज्ञानसनाथं प्रमाणमिदमिति चेत्।
ज्ञानं प्रमाणमिति यत्प्रकृतं न कथं प्रतीयेत ॥ ७२६ ॥

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि करण आदि वाह्य कारण हैं उनमें भीतर जाननेवाला ज्ञान ही है इसलिये ज्ञान सहित करण आदि प्रमाण हैं, तो ऐसा कहनेसे वही बात सिद्ध हुई कि जो प्रकृतमें हम (जैन) कह रहे हैं अर्थात् ज्ञान ही प्रमाण है। यही बात सिद्ध होगई। भावार्थ—प्रमाणमें सहायक सामग्री प्रकाश योग्यदेश, इन्द्रियव्यापार, कारक साफल्य, पदार्थ सान्निध्य सन्निकर्ष आदि कितने ही क्यों न होजाओ परन्तु पदार्थका बोध करनेवाला प्रमाण ज्ञान ही पड़ता है उसके विना सभी कारण सामग्री निरर्थक है।

शंकाकार—

ननु फलभूतं ज्ञानं तस्य तु करणं भवेत्प्रमाणमिति।
ज्ञानस्य कृतार्थत्वात् फलवत्त्वमसिद्धमिदमिति चेत् ॥७२७॥

अर्थ—ज्ञानको प्रमाणका फल मानना चाहिये, उसके कारणको प्रमाण मानना चाहिये। यदि ज्ञानको ही प्रमाण मान लिया जाय तो ज्ञानका प्रयोजन तो हो चुका फिर फल क्या होगा ? फिर फल असिद्ध ही होगा। भावार्थ—शंकाकारका यह अभिप्राय है कि प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों ही जुदे २ होने चाहिये और प्रमाण फल सहित ही होना चाहिये। ऐसी अवस्थामें ज्ञानको प्रमाणका फल और उस ज्ञानके कारण (करण-जड़) को प्रमाण मानना ही ठीक है, यदि ऐसा नहीं माना जाय और ज्ञानको ही प्रमाण माना जाय तो फिर प्रमाणका फल क्या ठहरेगा ? उसका अभाव ही हो जायगा ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर—

नैवं यतः प्रमाणं फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम् ।
दृष्टिर्यथा प्रदीपः स्वयं प्रकाश्यः प्रकाशकश्च स्यात् ॥७२८॥

अर्थ—ऊपर की हुई शंका ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाण, उसका फल, उसका कारण स्वयं ज्ञान ही है । जिस प्रकार दीपक स्वयं अपना भी प्रकाश करता है और दूसरोंका भी प्रकाश करता है, अथवा दीपक स्वयं प्रकाश्य (जिसका प्रकाश किया जाय) भी है और वही प्रकाशक है । भावार्थ—दीपकके दृष्टान्तके समान प्रमाण भी ज्ञान ही है, प्रमाणका कारण भी ज्ञान ही है और प्रमाणका फल भी ज्ञान ही है। ज्ञानसे भिन्न न कोई प्रमाण है और न उसका फल ही है । यहां पर यह शंका अभी खड़ी ही रहती है कि दोनोंको ज्ञानरूप माननेसे दोनों एक ही हो जायंगे, अथवा फल शून्य प्रमाण और प्रमाणशून्य फल हो जायगा, परन्तु विचार करनेपर यह शंका भी निर्मूल ठहरती है, जैन सिद्धान्तमें प्रमाण और प्रमाणका फल सर्वथा भिन्न नहीं है । किन्तु कथञ्चित् भिन्न है, कथञ्चित् भेदमें ज्ञानकी पूर्व पर्याय प्रमाणरूप पड़ती है उसकी उत्तर पर्याय फलरूप पड़ती है । क्योंकि प्रमाणका फल अज्ञान निवृत्ति माना है तथा हेयोपादेय और उपेक्षा भी प्रमाणका फल है । जो प्रमाणरूप ज्ञान है वही ज्ञान अज्ञानसे निवृत्त होता है और उसीमें हेयोपादेय तथा उपेक्षा रूप बुद्धि होती है । इसलिये ज्ञान ही प्रमाण और ज्ञान ही फल सिद्ध हो चुका । साथ ही प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों एक हो जायंगे अथवा फल शून्य प्रमाण हो जायगा, इस शंकाका परिहार भी हो चुका ।

उक्तं कदाचिदिन्द्रियमथ च तदर्थेन सन्निकर्षयुतम् ।
भवति कदाचिज्ज्ञानं त्रिविधं करणं प्रमायाश्च ॥ ७२९ ॥
पूर्वं पूर्वं करणं तत्र फलं चोत्तरोत्तरं ज्ञेयम् ।
न्यायात्सिद्धमिदं चित्फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम् ॥ ७३० ॥

अर्थ—कभी इन्द्रियोंको प्रमाण कहा गया है, कभी इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षको प्रमाण कहा गया है, कभी ज्ञानको ही प्रमाण कहा गया है। इस प्रकार तीन प्रकार प्रमा (प्रमाणका फल)का करण अर्थात् प्रमाणका परम साधक कारण कहा गया है । ये तीनों ही आत्माकी अवस्थायें हैं । पहली इन्द्रियरूप अवस्था भी आत्मावस्था है, सन्निकर्ष विशिष्ट अवस्था भी आत्मावस्था है । तथा ज्ञानावस्था भी आत्मावस्था है, अर्थात् तीनों ही ज्ञान रूप हैं । इन तीनोंमें पहला पहला करण पड़ता है और आगे आगेका फल पड़ता है । इसलिये यह बात न्यायसे सिद्ध हो चुकी कि ज्ञान ही फल है और ज्ञान ही प्रमाण है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्रापि यदा करणं ज्ञानं फलसिद्धिरस्ति नाम तदा।
अविनाभावेन चितो हानोपादानबुद्धिसिद्धित्वात् ॥ ७३१ ॥

अर्थ—उनमें भी जिस समय ज्ञान करण पड़ता है, उस समय अविनाभावसे आत्माकी हान उपादान रूपा बुद्धि उसका फल पड़ता है अर्थात् पूर्व ज्ञान करण और उत्तर ज्ञान फल पड़ता है और यह बात असिद्ध भी नहीं है।

नाप्येतदप्रसिद्धं साधनसाध्यद्वयोः सदृष्टान्तात्।
न विना ज्ञानात्त्यागो भुजगादेर्वा स्रगाद्युपादानम् ॥ ७३२ ॥

अर्थ—साधन भी ज्ञान पड़ता है और साध्य भी ज्ञान पड़ता है यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु दृष्टान्तसे सुसिद्ध है। यह बात प्रसिद्ध है कि ज्ञानके विना सर्पादिका त्याग और माला आदि इष्ट पदार्थोंका ग्रहण नहीं होता है।

भावार्थ—प्रमाणका स्वरूप इस प्रकार है—" हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् " हित नाम सुख और सुखके कारणोंका है, अहित नाम दुःख और दुःखोंके कारणोंका है। जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करानेमें समर्थ है वही प्रमाण होता है। ऐसा प्रमाण ज्ञान ही हो सक्ता है। क्योंकि सुख और सुखके कारणोंका परिज्ञान तथा दुःख और दुःखके कारणोंका परिज्ञान सिवा ज्ञानके जड़ पदार्थोंसे नहीं हो सक्ता है, ज्ञानमें ही यह सामर्थ्य है कि वह सर्पादि अनिष्ट पदार्थोंमें ग्रहण रूप बुद्धि करावे इसलिये प्रमाण ज्ञान ही हो सक्ता है। तथा फल भी ज्ञान रूप ही होता है यह बात प्रायः सर्व सिद्ध है। कारण प्रमाणका फल अज्ञान निवृत्तिरूप होता है। ऐसा फल ज्ञान ही हो सक्ता है, जड़ नहीं।

उक्तं प्रमाणलक्षणमिह यदनार्हतं कुवादिभिः स्वैरम्।
तल्लक्षणदोषत्वात्तत्सर्वं लक्षणाभासम् ॥ ७३३ ॥

अर्थ—जो कुछ प्रमाणका लक्षण कुवादियोंने कहा है वह आर्हत (जैन) लक्षण नहीं है, किन्तु उन्होंने स्वेच्छा पूर्वक कहा है, उसमें लक्षणके दोष आते हैं इसलिये वह लक्षण नहीं किन्तु लक्षणाभास है। **भावार्थ**—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव ये तीन लक्षण के दोष हैं, जो लक्षण अपने लक्ष्यके एक देशमें न रहे उसे अव्याप्ति दोष कहते हैं, जो लक्षण अपने लक्ष्यके सिवा अलक्ष्यमें भी रहे उसे अव्याप्ति दोष कहते हैं जो लक्षण अपने लक्ष्यमें सर्वथा न रहे उसे असंभव दोष कहते हैं। इन तीन दोषोंसे रहित लक्षण ही लक्षण कहलाता है, अन्यथा वह लक्षणाभास है। प्रमाणका जो लक्षण अन्यवादियोंने किया है वह इन दोषोंसे रहित नहीं है यही बात नीचे कही जाती है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स यथा चेत्प्रमाणं लक्ष्यं तल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।
अव्याप्तिको हि दोषः सदेश्वरे चापि तदयोगात् ॥ ७३४ ॥

अर्थ—यदि प्रमाण लक्ष्य है, उसका प्रमाकरण लक्षण है तो अव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि ईश्वरमें उस लक्षणका सदा अभाव रहता है । **भावार्थ**—नैयायिक ईश्वरको प्रमाण तो मानते हैं वे कहते हैं 'तन्मे प्रमाणं शिव इति' अर्थात् वह ईश्वर मुझे प्रमाण है । परन्तु वे उस ईश्वरको प्रमाका करण नहीं मानते हैं किन्तु उसका उसे अधिकरण मानते हैं । उनके मतसे ईश्वर प्रमाण है तो भी उसमें प्रमाकरण रूप प्रमाणका लक्षण नहीं रहता । इसलिये लक्ष्यके एक देश—ईश्वरमें प्रमाणका लक्षण न जानेसे अव्याप्ति दोष बना रहा ।

तथा—

योगिज्ञानेपि तथा न स्यात्तल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।
परमाण्वादिषु नियमान्न स्यात्तत्सन्निकर्षश्च ॥७३५॥

अर्थ—इसी प्रकार जो लोग प्रमाकरण प्रमाणका लक्षण करते हैं उनके यहां योगियोंके ज्ञानमें भी उक्त लक्षण नहीं जाता है, क्योंकि उन्हीं लोगोंने योगियोंके ज्ञानको दिव्य ज्ञान माना है वह सूक्ष्म और अमूर्त पदार्थोंका भी प्रत्यक्ष करता है ऐसा वे स्वीकार करते हैं परन्तु परमाणु आदि पदार्थोंमें इन्द्रिय सन्निकर्ष नियमसे नहीं हो सक्ता है । **भावार्थ**—इन्द्रियसन्निकर्ष अथवा इन्द्रियव्यापार ही को वे प्रमाकरण बतलाते हैं, यह सन्निकर्ष और व्यापार स्थूल मूर्त पदार्थोंके साथ ही हो सक्ता है, सूक्ष्म परमाणु तथा अमूर्त धर्माधर्म, और दूरवर्ती पदार्थोंका वह नहीं हो सक्ता है, इसलिये सन्निकर्ष अथवा इन्द्रियव्यापार-प्रमाकरणको प्रमाण माननेसे योगीजन सूक्ष्मादि पदार्थोंका प्रत्यक्ष नहीं कर सक्ते परन्तु वे करते हैं ऐसा वे मानते हैं इसलिये योगीजनोंमें उनके मतसे ही प्रमाकरण लक्षण नहीं जाता है यदि वे योगियोंको प्रमाका करण स्वयं नहीं मानते हैं तो उनके मतसे ही प्रमाणका लक्षण अव्याप्ति दोषसे दूषित हो गया । क्योंकि उन्होंने योगियोंके ज्ञानको प्रमाण माना है ।

वेद भी प्रमाण नहीं है—

वेदाः प्रमाणमत्र तु हेतुः केवलमपौरुषेयत्वम् ।
आगमगोचरताया हेतोरन्याश्रितादहेतुत्वम् ॥ ७३६ ॥

अर्थ—वेदको प्रमाण माननेवाले वेदान्ती तो केवल अपौरुषेय हेतु द्वारा उसमें प्रमाणता लाते हैं । दूसरा उनका हेतु आगम है, आगम प्रमाणरूप हेतु अन्योन्याश्रय दोष आनेसे अहेतु हो जाता है । **भावार्थ**—वेदको अपौरुषेय माननेवाले उसकी अनादितामें प्रवाह नित्यताका हेतु देते हैं, वह प्रवाह नित्यता क्या शब्दमात्रमें है या विशेष आनुपूर्वी-रूप जो शब्द वेदमें उल्लिखित हैं उन्हींमें है ? यदि पूर्व पक्ष स्वीकार किया जाय तब तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जितने भी शब्द हैं सभी वैदिक हो जांयगे, फिर वेद ही क्यों अपौरुषेय (पुरुषका नहीं बनाया हुआ) कहा जाता है ? यदि उत्तर पक्ष स्वीकार किया जाय तो प्रश्न होता है कि उन विशेष आनुपूर्वीरूप शब्दोंका अर्थ किसीका समझा हुआ है या नहीं ? यदि नहीं, तब तो विना ज्ञानके उन वेद वाक्योंमें प्रमाणता नहीं आ सकती है, यदि किसीका समझा हुआ है तो उन वेद वाक्योंके अर्थको समझानेवाला—व्याख्याता सर्वज्ञ है या अल्पज्ञ ? यदि सर्वज्ञ है तो वेदके समान अतीन्द्रिय पदार्थोंके जाननेवाले सर्वज्ञके वचन भी प्रमाणरूप क्यों न माने जायँ, ऐसी अवस्थामें वेदमें सर्वज्ञ पुरुष कृत ही प्रमाणता आती है इसलिये उसका अपौरुषेयत्व प्रमाण सूचक नहीं सिद्ध होता। यदि वेदका व्याख्याता अल्पज्ञ है तो उस वेदके कठिन२ वाक्योंका उलटा भी अर्थ कर सकता है, क्योंकि वाक्य स्वयं तो यह कहते नहीं हैं कि हमारा अमुक अर्थ है, अमुक नहीं है, किन्तु पुरुषोंद्वारा उनके अर्थोंका बोध किया जाता है। यदि वे पुरुष अज्ञ और रागादि दोषोंसे विशिष्ट हैं तो वे अवश्य कुछका कुछ निरूपण कर सकते हैं। कदाचित् यह कहा जाय कि उसके व्याख्याता अल्पज्ञ भी हों तो भी वेदोंके अर्थकी व्याख्यान परम्परा बराबर ठीक चली आनेसे वे उनका यथार्थ निरूपण कर सकते हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ठीक परम्परा चली आने पर भी अतीन्द्रिय पदार्थोंमें अल्पज्ञोंकी संशय रहित प्रवृत्ति (व्याख्यानमें) नहीं हो सकती है, दूसरी बात यह है कि यदि वेदार्थ अनादिपरम्परासे ठीक चला आता है तो मीमांसकादि भावना, विधि, नियोगरूप भिन्न २ अर्थ प्रतिपत्तिको क्यों प्रमाण मानते हैं ? इसलिये वेदको अनादि परम्परागत—अपौरुषेय मानना प्रमाण सिद्ध नहीं है। वेदको अनादि माननेमें ऐसा भी कहा जाता है कि जिस प्रकार वर्त्तमान कालमें कोई वेदोंको बनानेवाला नहीं है उस प्रकार भूतकाल और भविष्यत् कालमें भी कोई नहीं हो सकता है। परन्तु यह कोई युक्ति नहीं है, विपक्षमें ऐसा भी कहा जा सकता है कि जैसे वर्त्तमानमें श्रुतिका बनानेवाला कोई नहीं है वैसे भूत भविष्यत् कालमें भी कोई नहीं हो सकता है, अथवा जैसे वर्त्तमानकालमें वेदोंका कोई जानकार नहीं है वैसे उनका जानकार भूत भविष्यत कालमें भी कोई नहीं हो सकता है इसी प्रकार ऐसा कहना भी कि वेदका अध्ययन वेदाध्यायन पूर्वक है वर्त्तमान अध्ययनके समान, मिथ्या ही है। कारण विपक्षमें भी कहा जा सकता है कि भारतादिका अध्ययन भारताध्यायन पूर्वक है। वर्त्तमान अध्ययनके समान। इसलिये उपर्युक्त कथनसे भी वेदमें अनादिता सिद्ध नहीं होती है। यदि यह कहा जाय कि वेदके कर्त्ताका स्मरण नहीं होता है इसलिये उसके कर्त्ताका अभाव कह दिया जाता है ऐसा कहना भी बाधित है क्योंकि ऐसी बहुतसी पुरानी वस्तुएं हैं जिनके कर्त्ताका स्मरण नहीं होता है, तो क्या वे भी अपौरुषेय मानी जायंगी ? यदि नहीं तो वेद ही क्यों वैसा माना जाय ? तथा वेदके कर्त्ताका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्मरण नहीं होता ऐसा सब वेदानुयायी मानते भी नहीं हैं। पिटकत्रयमें वेदके कर्त्ताका कुछ लोग स्मरण करते ही हैं। इसलिये वेद पुरुष कृत नहीं है यह बात किसी प्रकार नहीं बनती कुछ कालके लिये यदि वेदको अपौरुषेय भी मान लिया जाय तो भी उसमें सर्वज्ञका अभाव होनेसे प्रमाणता नहीं आती है। सर्वज्ञ वक्ताके मानने पर 'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्, अर्थात् धर्मके विषयमें वेद ही प्रमाण है यह बात नहीं बनेगी, क्योंकि सर्वज्ञका वचन भी प्रमाण मानना पड़ेगा, तथा सर्वज्ञ उसका वक्ता मानने पर उस वेदमें पूर्वापर विरोध नहीं रह सकता है, परन्तु उसमें पूर्वापर विरोध है, हिंसाका निषेध करता हुआ भी वह कहीं हिंसाका विधान करता है तथा एक ही वेदका एक अंश एक वेदानुयायी नहीं मानता है वह उसे अप्रमाण समझता हुआ उसीके दूसरे अंशको वह प्रमाण मानता है, जिसे वह प्रमाण मानता है उसे ही तीसरा वेदानुयायी अप्रमाण मानता है। यदि वह सर्वज्ञ वक्तासे प्रतिपादित होता तो इस प्रकार पूर्वापर विरोध सर्वथा नहीं होसकता है इसलिये वेदमें प्रमाणता किसी प्रकार नहीं आती।

वेदके विषयमें यह कहना कि उसके कर्त्ताका स्मरण नहीं होता इसलिये वह अनादि अपौरुषेय है, इस कथनके विषयमें पहली बात तो यह है कि नित्य वस्तुके विषयमें ऐसा कहना ही व्यर्थ है, नित्य वस्तु जो होती है उसमें न तो उसके कर्त्ताका स्मरण ही होता है न अस्मरण (स्मरणका न होना) ही होता है किन्तु वह अकर्तृक होती है यदि यह कहा जाय कि वेदकी सम्प्रदाय (वेदका वर्णक्रम, पाठक्रम, उदात्तादिक्रम) का विच्छेद नहीं है इसीलिये यह कहा जाता है कि उसके कर्त्ताका स्मरण नहीं होता है तो यह कथन भी ठीक नहीं है, बहुतसे ऐसे वाक्य हैं जिनका विशेष प्रयोजन न होनेके कारण उनके कर्त्ताका स्मरण नहीं रहा है, साथ ही वे अनवच्छिन्न चले आ रहे हैं जैसे—'वटे २ वैश्रवणः वृक्ष वृक्षमें यक्ष (कुबेर) रहता है। तथा "चत्वरे २ ईश्वरः। पर्वते पर्वते रामः सर्वत्र मधुसूदनः। सा ते भवतु सुप्रीता देवी गिरिनिवासिनी, विद्यारंभं करिष्यामि सिद्धिर्भवतु मे सदा" अर्थात् घर २ में ईश्वर है, पर्वत पर्वतमें राम है, सर्वत्र कृष्ण है, तेरे ऊपर पार्वती देवी प्रसन्न हों, मैं विद्यारंभ करूंगा, मेरी सदा सिद्धि हो, इत्यादि अनेक वाक्य अविच्छिन्न हैं, परन्तु उनको वेद वादियोंने भी अपौरुषेय नहीं माना है। दूसरी बात यह है कि वेदके कर्त्ताका अभाव किस प्रकार कहा जा सक्ता है पौराणिक लोग वेदका कर्त्ता ब्रह्माको बतलाते हैं। वे कहते हैं 'कि बक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिसृताः' अर्थात् ब्रह्माके मुखोंसे वेद निकले हैं। 'यो वेदांश्च प्रहिणोति, इत्यादि वेदवाक्य ही वेदके कर्त्ताको सिद्ध करते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि उसमें ऋषियोंके नाम भी आये हैं। इसलिये या तो वेदवादी उन ऋषियोंको अनादिनिधन मानें या वेदको अनादि न मानें। दोनोंमेंसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक बात ही बन सक्ती है, दोनों नहीं। इस कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध है कि वेदोंकी प्रमाणताकी पोषक एक भी सद्युक्ति नहीं है। इन सब बातोंके सिवा वेदविहित अर्थों पर यदि दृष्टि डाली जाय तो वे सब ऐसे ही असम्बद्ध जान पड़ते हैं कि जैसे दशदाड़िमादि वाक्य असम्बद्ध होते हैं। वेदोंका अर्थ पूर्वापर विरुद्ध और असमञ्जस है, वेदोंकी अप्रमाणताका विशेष निदर्शन करनेके लिये प्रमेयकमल मार्तण्ड और अष्टसहस्रीको देखना चाहिये।

एवमनेकविधं स्यादिह मिथ्यामतकदम्बकं यावत्।
अनुपादेयमसारं वृद्धैः स्याद्वादवेदिभिः समयात्॥ ७३७॥

अर्थ—इसप्रकार जितना भी अनेक विध प्रचलित मिथ्या मतोंका समूह है वह सब असार है, इसलिये वह शास्त्रानुसार स्याद्वादवेदी—वृद्ध पुरुषों द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है।

निक्षेपोंके कहनेकी प्रतिज्ञा—

उक्तं प्रमाणलक्षणमनुभवगम्यं यथागमज्ञानात्।
अधुना निक्षेपपदं संक्षेपाल्लक्ष्यते यथालक्षम॥ ७३८॥

अर्थ—आगमज्ञानके अनुसार अनुभवमें आने योग्य प्रमाणका लक्षण कहा गया। अब संक्षेपसे निक्षेपोंका स्वरूप उनके लक्षणानुसार कहा जाता है।

शङ्काकार—

ननु निक्षेपो न नयो नच प्रमाणं न चांशकं तस्य।
पृथगुद्देश्यत्वादपि पृथगिव लक्ष्यं स्वलक्षणादितिचेत्॥ ७३९॥

अर्थ—निक्षेप न नय है, और न प्रमाण है, न उसका अंश है, नय प्रमाणसे निक्षेपका उद्देश्य ही जुदा है। उद्देश्य जुदा होनेसे उसका लक्षण ही जुदा है, इसलिये लक्ष्य भी स्वतन्त्र होना चाहिये? अर्थात् निक्षेप नय प्रमाणसे जब जुदा है तो उनके समान इसका भी स्वतन्त्र ही उल्लेख करना चाहिये?

निक्षेपका स्वरूप (उत्तर)

सत्यं गुणसाक्षेपो सविपक्षः स च नयः स्वपक्षपतिः।
य इह गुणाक्षेपः स्यादुपचरितः केवलं स निक्षेपः॥ ७४०॥

अर्थ—नय तो गौण और मुख्यकी अपेक्षा रखता है, इसीलिये वह विपक्ष सहित है। नय सदा अपने (विवक्षित) पक्षका स्वामी है अर्थात् वह विवक्षित पक्ष पर आरूढ़ रहता है और दूसरे प्रतिपक्ष नयकी अपेक्षा भी रखता है, निक्षेपमें यह बात नहीं है, यहां पर तो गौण पदार्थमें मुख्यका आक्षेप किया जाता है, इसलिये निक्षेप केवल उपचरित है। भावार्थ—नय और निक्षेपका स्वरूप कहनेसे ही शंकाकारकी शंकाका परिहार होजाता है। सबसे बड़ा भेद तो इनमें यह है कि नय तो ज्ञान विकल्परूप है और निक्षेप पदार्थोंमें व्यवहारके लिये किये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए संकेतोंका नाम है। वह संकेत कहीं पर तद्गुण होता है और कहीं पर अतद्गुण होता है। नय और निक्षेपमें विषय विषयी सम्बन्ध है, नय विषय करनेवाला ज्ञान है, और निक्षेप उसका विषय भूत पदार्थ है। इसलिये नयोंके कहनेसे ही निक्षेपोंका विवेचन स्वयं होजाता है, अतएव इनके स्वतन्त्र उल्लेखकी आवश्यकता नहीं है। फिर भी यह शंका होसक्ती है कि जब निक्षेप नयका ही विषय है तो फिर चार निक्षेपोंका स्वतन्त्र विवेचन सूत्रों द्वारा ग्रन्थकारोंने क्यों किया है? इसके उत्तरमें इतना कहना ही पर्याप्त है कि केवल समझानेके अभिप्रायसे निक्षेपोंका निरूपण किया गया है, अन्यथा विषयभूत पदार्थोंमें ही वे गर्भित हैं। दूसरे भिन्न भिन्न व्यवहार चलाना ही निक्षेपोंका प्रयोजन है इसलिये उस प्रयोजनको स्पष्ट करनेके लिये ग्रन्थकारोंने उनका निरूपण किया है।

इस श्लोकमें 'गुणाक्षेपः' पद आया है, उसका अर्थ चारों निक्षेपोंमें इसप्रकार घटित होता है—नाम गौण पदार्थमें अर्थात् अतद्गुण पदार्थमें केवल व्यवहारार्थ किया हुआ आक्षेप। स्थापनामें—अतद्गुण पदार्थमें किया हुआ गुणोंका आक्षेप। द्रव्यमें—भावि अथवा भूत तद्गुणमें वर्त्तमानवत् किया हुआ गुणोंका आक्षेप। भावमें—वर्त्तमान तद्गुणमें किया हुआ वर्त्तमान गुणोंका आक्षेप। इसप्रकार गौणमें आक्षेप अथवा गुणोंका आक्षेप ही निक्षेप है।

नाम, स्थापना, द्रव्य ये तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नयके विषय हैं। भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नयका विषय है। अन्तर्नयोंकी अपेक्षासे नाम निक्षेप समभिरूढ़ नयका विषय है स्थापना और द्रव्य निक्षेप नैगम नयका विषय है। भाव निक्षेप ऋजुसूत्र तथा एवंभूत नयका विषय है।

निक्षेपः स चतुर्धा नाम ततः स्थापना ततो द्रव्यम्।
भावस्तल्लक्षणमिह भवति यथा लक्ष्यतेऽधुना चार्थात्॥७४१॥

अर्थ—निक्षेप चार प्रकार है—(१) नाम निक्षेप, (२) स्थापना निक्षेप (३) द्रव्य निक्षेप (४) भाव निक्षेप। अब इन चारोंका लक्षण कहा जाता है।

वस्तुन्यतद्गुणे खलु संज्ञाकरणं जिनो यथा नाम।
सोऽयं तत्समरूपे तद्बुद्धिः स्थापना यथा प्रतिमा॥७४२॥

अर्थ—किसी वस्तुमें उसके नामके अनुसार गुण तो न हों, केवल व्यवहार चलानेके लिये उसका नाम रख देना नाम निक्षेप हैं। जैसे किसी पुरुषमें कर्मोंके जीतनेका गुण सर्वथा नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है उसको बुलानेके लिये 'जिन' यह नाम रख दिया जाता है।

किसी समान आकारवाले अथवा असमान आकारवाले पदार्थमें गुण सो न हों, परन्तु उसमें गुणोंकी बुद्धि रखना और उसका 'यह वही है' ऐसा व्यवहार करना स्थापना निक्षेप है। जैसे—प्रतिमा, जैसे पार्श्वनाथकी प्रतिमाको मंदिरमें हम पूजते हैं, यद्यपि प्रतिमा पुरु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षाकार है परन्तु है पाषाणकी। उस पाषाणकी प्रतिमामें उन पार्श्वनाथ भगवानके जीवकी जो कि अनन्तगुण धारी—अर्हन् हैं (थे) स्थापना करना और व्यवहार करना कि यह प्रतिमा ही पार्श्वनाथ है स्थापना निक्षेप है। भावार्थ—उपर्युक्त उदाहरण तदाकार स्थापनाका है। चावल आदि में जो पहले अरहन्तकी स्थापना की जाती थी * वह अतदाकार स्थापना है। अथवा शतरंजके मोहरोंमें जो घोड़े हाथी पयादे आदिकी स्थापना की जाती है वह अतदाकार स्थापना है।

यद्यपि नाम और स्थापना दोनों ही अतद्गुण (गुण रहित) हैं, तथापि दोनोंमें अन्तर है। नाम यदि किसीका जिन रक्खा गया है तो उसे मनुष्य केवल उस नामसे बुलावेंगे। 'जिन'की जो पूज्यता होती है, वह पूज्यता वहां पर नहीं है। परन्तु स्थापनामें जिसकी स्थापना की जाती है, उसका जैसा आदर सत्कार अथवा पूज्यता और गुण स्तवन होता है वैसा ही उसकी स्थापनामें किया जाता है। जैसी जिन (अरहन्त) की पूज्यता मूल जिनमें है वैसी ही उनकी स्थापित मूर्तिमें भी है। बस यही अन्तर है।

ऋजुनयनिरपेक्षतया, सापेक्षं भाविनैगमादिनयैः।
छद्मस्थो जिनजीवो जिन इव मान्यो यथात्र तद्द्रव्यम् ॥७४३॥

अर्थ—ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा नहीं रखनेवाला किन्तु भाविनैगम आदि नयोंकी अपेक्षा रखनेवाला द्रव्य निक्षेप है। जैसे—छद्मस्थ जिनके जीवको साक्षात् जिनके समान समझना। भावार्थ—द्रव्य निक्षेप तद्गुण होता है, परन्तु पदार्थमें जो गुण आगे होनेवाले हैं अथवा पहले हो चुके हैं उन गुणोंवाला उसे वर्त्तमानमें कहना यही द्रव्यनिक्षेप है जैसे महावीर स्वामी सर्वज्ञ होनेपर जिन कहलाये थे, परन्तु उन्हें अल्पज्ञ अवस्थामें ही जिन कहना, यह भावि द्रव्य निक्षेप है तथा महावीर स्वामीको मोक्ष गए हुए आज २४४४ वर्ष बीत गये परन्तु दिवालीके दिन यह कहना कि आज ही महावीर स्वामी मोक्ष गये हैं, भूत द्रव्यनिक्षेप है। द्रव्यनिक्षेप वर्त्तमान गुणोंकी अपेक्षा नहीं रखता है, इसलिये वह ऋजुसूत्र नयका विषय नहीं है किन्तु भूत और भावि नैगम नयका विषय है।

तत्पर्यायो भावो यथा जिनः समवशरणसंस्थितिकः।
घातिचतुष्टयरहितो ज्ञानचतुष्टययुतो हि दिव्यवपुः ॥ ७४४ ॥

* यहांपर इतना और समझ लेना चाहिये कि हमलोग प्रतिदिन जो पूजाके पहिले आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण करते हैं वह स्थापना स्थापनानिक्षेप नहीं है क्योंकि उसमें 'यह वही है' ऐसा संकल्प नहीं किया जाता वह तो पूजा वा आदरसत्कारका एक अंग है जो कि पूजामें अवश्य कर्त्तव्य हैं यदि ये आह्वान आदि पूजाके समय न किये जायँ तो पूजामें उतने ही अंग कम समझे जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—वर्त्तमानमें जो पदार्थ जिस पर्याय सहित हैं उसी पर्यायवाला उसे कहना भाव निक्षेप है। जैसे समवशरणमें विराजमान, चार घातियाकर्मोंसे रहित, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, इस ज्ञानचतुष्टय (अनन्त चतुष्टय) से विशिष्ट, परम औदारिक शरीरवाले अरहन्त—जिनको जिन कहना। **भावार्थ**—भावनिक्षेप, वर्त्तमान तद्गुणवाले पदार्थका वर्त्तमानमें ही निरूपण करता है इसलिये वह ऋजुसूत्र नय और एवंभूत नयका विषय है। यदि शब्दकी वाच्य मात्र पर्यायका निरूपण करता है तब तो वह एवंभूत नयका विषय है, और यदि पदार्थकी समस्त अर्थ पर्यायोंका वर्त्तमानमें निरूपण करता है तो वह ऋजु सूत्र नयका विषय है।* द्रव्यनिक्षेप और भाव निक्षेप दोनों ही तद्गुण हैं तथापि उनमें कालभेदसे भेद है।

दिङ्मात्रमत्र कथितं व्यासादपि तच्चतुष्टयं यावत्।
प्रत्येकमुदाहरणं ज्ञेयं जीवादिकेषु चार्थेषु ॥ ७४५ ॥

अर्थ—यहांपर चारों निक्षेपोंका डिङ्मात्र (संक्षिप्त) स्वरूप कहा गया है। इनका विस्तारसे कथन और प्रत्येकका उदाहरण जीवादि पदार्थोंमें सुघटित जानना चाहिये। दूसरे ग्रन्थमें भी सोदाहरण चारों निक्षेपोंका उल्लेख इस प्रकार है—

णाम जिणा जिण णामा ठवणजिणा जिणिंदपडिमाए।
दव्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था ॥ १ ॥

अर्थ—जिन नाम रख देना नाम जिन कहलाता है। जिनेन्द्रकी प्रतिमा स्थापना जिन कहलाती है। जिनका जीव द्रव्यजिन कहलाता है और समवशरणमें विराजमान जिनेन्द्र भगवान् भाव जिन कहलाते हैं।

प्रतिज्ञा—

उक्तं गुरूपदेशान्नयनिक्षेपप्रमाणमिति तावत्।
द्रव्यगुणपर्ययाणामुपरि यथासंभवं दधाम्यधुना ॥ ७४६ ॥

अर्थ—गुरु (पूर्वाचार्य) के उपदेशसे नय, निक्षेप और प्रमाणका स्वरूप मैंने कहा। अब उनको द्रव्य गुण पर्यायोंके ऊपर यथायोग्य मैं (ग्रन्थकार) घटाता हूं। **भावार्थ**—अब

---

* कुछ लोगोंसे ऐसी शंका भी सुननेमें आती है कि भावनिक्षेप, ऋजुसूत्र नय और एवंभूत नय, इन तीनोंमें क्या अन्तर है, क्योंकि तीनों ही वर्त्तमान पदार्थका निरूपण करते हैं। ऐसे लोगोंकी शंकाका परिहार उपर्युक्त कथनसे भलीभांति होजाता है हम लिख चुके हैं कि निक्षेप और नयोंमें तो विषयविषयीका भेद है। ऋजुसूत्र अर्थनय है, एवंभूत शब्दनय है अर्थात् ऋजुसूत्र नय पदार्थकी वर्तमान समस्त अर्थ पर्यायोंको ग्रहण करता है, और एवंभूत—बोले हुए शब्दकी वाच्य मात्र वर्तमान क्रियाको ग्रहण करता है, इसलिये दोनोंमें महान् अन्तर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थकार नय प्रमाणको निक्षेपों पर घटाते हैं। पहले वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंका विषय बतलावेंगे पीछे प्रमाणका विषय बतलावेंगे।

द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयोंका विषय।

तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धद्रव्यार्थिकस्य भवति मतम्।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं पर्यायार्थिकनयस्य पक्षोऽयम्॥ ७४७॥

अर्थ—तत्त्व अनिर्वचनीय है अर्थात् बचनके अगोचर है। यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का पक्ष है। तथा तत्त्व (द्रव्य) गुण पर्यायवाला है यह पर्यायार्थिक नयका पक्ष है। **भावार्थ**—तत्त्वमें अभेदबुद्धिका होना द्रव्यार्थिक नय और उसमें भेदबुद्धिका होना पर्यायार्थिक नय है।

प्रमाणका विषय—

यदिदमनिर्वचनीयं गुणपर्ययवत्तदेव नास्त्यन्यत्।
गुणपर्ययवद्यदिदं तदेव तत्त्वं तथा प्रमाणमिति॥ ७४८॥

अर्थ—जो तत्त्व अनिर्वचनीय है वही गुण पर्यायवाला है, अन्य नहीं है तथा जो तत्त्व गुण पर्यायवाला है, वही तत्त्व है, यही प्रमाणका विषय है। **भावार्थ**—वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। वस्तुका सामान्यांश द्रव्यार्थिकका विषय है। उसका विशेषांश पर्यायार्थिकका विषय है, तथा सामान्य विशेषात्मक—उभयात्मक वस्तु प्रमाणका विषय है। प्रमाण एक ही समयमें अविरुद्ध रीतिसे दोनों धर्मोंको विषय करता है।

भेद अभेद पक्ष—

यद्द्रव्यं तन्न गुणो योपि गुणस्तन्न द्रव्यमिति चार्थात्।
पर्यायोपि यथा स्यादृजुनयपक्षः स्वपक्षमात्रत्वात्॥ ७४९॥
यदिदं द्रव्यं स गुणो योपि गुणो द्रव्यमेतदेकार्थात्।
तदुभयपक्षे दक्षो विवक्षितः प्रमाणपक्षोऽयम्॥ ७५०॥

अर्थ—जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है, जो गुण है वह द्रव्य नहीं है, तथा जो द्रव्य गुण है वह पर्याय नहीं है। यह ऋजुसूत्र नय (पर्यायार्थिक) का पक्ष है क्योंकि भेद पक्ष ही पर्यायार्थिक नयका पक्ष है। तथा जो द्रव्य है वही गुण है, जो गुण है वही द्रव्य है। गुण द्रव्य दोनोंका एक ही अर्थ है। यह अभेदपक्ष द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है तथा भेद और अभेद इन दोनों पक्षोंमें समर्थ विवक्षित प्रमाण पक्ष है।

पृथगादानमशिष्टं निक्षेपो नयविशेष इव यस्मात्।
तदुहारणं नियमादस्ति नयानां निरूपणावसरे॥७५१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—नय और प्रमाणके समान निक्षेपोंका स्वतन्त्र निरूपण करना व्यर्थ है, क्योंकि निक्षेपोंका उदाहरण नयोंके विवेचनमें नियमसे किया गया है।

एक अनेक पक्ष—

अस्ति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्यायस्तत्त्रयं मिथोऽनेकम्।
व्यवहारैकविशिष्टो नयः स वाऽनेकसंज्ञको न्यायात् ॥७५२॥

अर्थ—द्रव्य, अथवा गुण अथवा पर्याय, ये तीनों ही अनेक हैं। व्यवहार विशिष्ट यही नय अनेक संज्ञक कहलाता है, अर्थात् व्यवहार नाम पर्यायका है पर्याय विशिष्ट अनेक अनेक पर्यायार्थिक नय कहलाता है।

एकं सदिति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्ययोऽथवा नाम्ना।
इतरद्वयमन्यतरं लब्धमनुक्तं स एकनयपक्षः ॥७५३॥

अर्थ—द्रव्य अथवा गुण अथवा पर्याय ये तीनों ही एक नामसे सत् कहे जाते हैं। अर्थात् तीनों ही अभिन्न एक सत्‌रूप हैं। एकके कहनेसे बाकीके दो का विना कहे हुए ही ग्रहण हो जाता है। यही एक नयका पक्ष है अर्थात् एक पर्यायार्थिक नयका पक्ष है।

न द्रव्यं नापि गुणो नच पर्यायो निरंशदेशत्वात्।
व्यक्तं न विकल्पादपि शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतमेतत् ॥७५४॥

अर्थ—न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है और न विकल्पद्वारा ही प्रकट है किन्तु निरंश देशात्मक (तत्व) है। यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है।

द्रव्यगुणपर्यायाख्यैर्यदनेकं सद्भिभिद्यते हेतोः।
तदभेद्यमनंशत्वादेकं सदिति प्रमाणमतमेतत् ॥७५५॥

अर्थ—कारण वश जो सत् द्रव्यगुण पर्यायोंके द्वारा अनेक रूप भिन्न किया जाता है वही सत् अंश रहित होनेसे अभिन्न एक है। यह एक अनेकात्मक उभयरूप प्रमाणपक्ष है।

अस्ति नास्ति पक्ष—

अपि चास्ति सामान्यमात्रादथवा विशेषमात्रत्वात्।
अविवक्षितो विपक्षो यावदनन्यः स तावदस्ति नयः ॥७५६॥

अर्थ—वस्तु सामान्यमात्रसे है, अथवा विशेषमात्रसे है। जब तक विपक्षनय अविवक्षित (गौण) रहता है तबतक अनन्यरूपसे एक अस्ति नय ही प्रधान रहता है।

नास्ति च तदिह विशेषैः सामान्यस्याविवक्षितायां वा।
सामान्यैरितरस्य च गौणत्वे सति भवति नास्ति नयः ॥७५७॥

अर्थ—वस्तु सामान्यकी अविवक्षामें विशेषरूपसे नहीं है, अथवा विशेषकी अविवक्षामें सामान्यरूपसे नहीं है यहां पर नास्ति नय ही प्रधान रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यार्थिकनयपक्षादस्ति न तत्त्वं स्वरूपतोपि ततः ।
नच नास्ति परस्वरूपात् सर्वविकल्पातिगं यतो वस्तु ॥ ७५८॥

अर्थ—द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे वस्तु स्वरूपसे भी अस्तिरूप नहीं है, क्योंकि सर्व विकल्पोंसे रहित ही वस्तुका स्वरूप है।

यदिदं नास्ति स्वरूपाभावादस्ति स्वरूपसद्भावात् ।
तद्वाच्यात्ययरचितं वाच्यं सर्वं प्रमाणपक्षस्य ॥७५९॥

अर्थ—जो वस्तु स्वरूपाभावसे नास्तिरूप है और जो स्वरूप सद्भावसे अस्तिरूप है वही वस्तु विकल्पातीत (अवक्तव्य) है। यह सब प्रमाण पक्ष है, अर्थात् पर्यायार्थिक नयसे अस्तिरूप और द्रव्यार्थिक नयसे विकल्पातीत तथा प्रमाणसे उभयात्मक वस्तु है।

नित्य अनित्य पक्ष—

उत्पद्यते विनश्यति सदिति यथास्वं प्रतिक्षणं यावत् ।
व्यवहार विशिष्टोऽयं नियतमनित्यो नयः प्रसिद्धः स्यात्॥ ७६० ॥

अर्थ—सत्—पदार्थ अपने आप प्रतिक्षण उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है। यह प्रसिद्ध व्यवहार विशिष्ट अनित्य नय अर्थात् अनित्य व्यवहार (पर्यायार्थिक) नय है।

नोत्पद्यते न नश्यति ध्रुवमिति सत्स्यादनन्यथावृत्तेः ।
व्यवहारन्तर्भूतो नयः स नित्योऽप्यनन्यशरणः स्यात् ॥ ७६१॥

अर्थ—सत् न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है, किन्तु अन्यथा भाव न होनेसे वह नित्य है। यह अनय शरण (स्वपक्ष नियत) नित्य व्यवहार नय है।

न विनश्यति वस्तु यथा वस्तु तथा नैव जायते नियमात् ।७६२।
स्थितिमेति न केवलमिह भवति स निश्चयनयस्य पक्षश्च ।

अर्थ—जिसप्रकार वस्तु नष्ट नहीं होता है, उस प्रकार वह नियमसे उत्पन्न भी नहीं होता है, तथा ध्रुव भी नहीं है। यह केवल निश्चय नयका पक्ष है। भावार्थ—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों ही एक समयमें होनेवाली सत्की पर्यायें हैं। इसलिये इन पर्यायोंको पर्यायार्थिक नय विषय करता है, परन्तु निश्चय नय सर्व विकल्पोंसे रहित वस्तुको विषय करता है।

यदिदं नास्ति विशेषैः सामान्यस्याविवक्षया तदिदम् ।
उन्मज्जत्सामान्यैरस्ति तदेतत्प्रमाणमविशेषात् ॥ ७६३ ॥

अर्थ—जो वस्तु सामान्यकी अविवक्षामें विशेषोंसे नहीं है, वही वस्तु सामान्यकी विवक्षासे है, यही सामान्य रीतिसे प्रमाण पक्ष है। भावार्थ—विशेष नाम पर्यायका है, पर्यायें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनित्य होती हैं। इसलिये विशेषकी अपेक्षासे वस्तु अनित्य है, सामान्यकी अपेक्षा वह नित्य भी है। प्रमाणकी अपेक्षा वह नित्यानित्यात्मक है।

भाव अभाव पक्ष—

अभिनवभाव परिणतेर्योयं वस्तुन्यपूर्वसमयोयः ।
इति यो वदति स कश्चित् पर्यायार्थिकनयेष्वभावनयः ॥७६४॥

अर्थ—नवीन परिणाम धारण करनेसे वस्तुमें नवीन ही भाव होता है, ऐसा जो कोई कहता है वह पर्यायार्थिक नयोंमें अभाव नय है।

परिणममानेपि तथा भूतैर्भावैर्विनश्यमानेपि ।
नायमपूर्वो भावः पर्यायार्थिकविशिष्टभावनयः ॥७६५॥

अर्थ—वस्तुके परिणमन करनेपर भी तथा उसके पूर्व भावोंकेविनष्ट होनेपर भी वस्तुमें नवीन भाव नहीं होता है किन्तु जैसेका तैसा ही रहता है, वह पर्यायार्थिक भाव नय है।

शुद्धद्रव्यादेशादभिनवभावो न सर्वतो वस्तुनि ।
नाप्यनभिनवश्च यतः स्यादभूतपूर्वो न भूतपूर्वो वा ॥७६६॥

अर्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे वस्तुमें सर्वथा नवीन भाव भी नहीं होता है, तथा प्राचीन भाव भी नहीं रहता है, क्योंकि वस्तु न तो अभूतपूर्व है और न भूतपूर्व है। अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिसे वस्तु न नवीन है और न पुरानी है किन्तु जैसी है वैसी ही है।

अभिनवभावैर्यदिदं परिणममानं प्रतिक्षणं यावत् ।
असदुत्पन्नं नहि तत्सन्नष्टं वा न प्रमाणमतमेतत् ॥७६७॥

अर्थ—जो सत् प्रतिक्षण नवीन २ भावोंसे परिणमन करता है वह न तो असत् उत्पन्न होता है और न सत् विनष्ट ही होता है यही प्रमाण पक्ष है।

इत्यादि यथासम्भवमुक्तमिवानुक्तमपि च नयचक्रम् ।
भोज्यं यथागमादिह प्रत्येकमनेकभावयुतम् ॥७६८॥

अर्थ—इत्यादि अनेक धर्मोंको धारण करनेवाला और भी नयसमूह जो यहां पर नहीं कहा गया है, उसे भी कहे हुए के तुल्य ही समझना चाहिये, तथा हर एक नयको आगमके अनुसार यथायोग्य (जहां जैसी अपेक्षा हो) घटाना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org